॥ दंसण मूलो धम्मो ॥

आत्म धर्म

वर्ष : २
अंक : १

: संपादक
रामजी माणेकचंद दोशी
वकील

वैशाख
२४७२

❀ आत्मामें कर्मकी सत्ता बिल्कुल नहीं है ❀

अपने वीतराग स्वरूपकी प्रतीति के साथ जिनबिम्ब के दर्शन से निधत्त और निकाचित कर्म भी क्षार क्षार हो जाते हैं।

चाहे जैसे निकाचित कर्मको तूने ही अपने विपरीत वीर्य से ही बांधा है न? तब फिर जिस कर्मको तूने अपने विपरीत वीर्य से बांधा है उस कर्मको क्या तेरा अनुकूल वीर्य नहीं तोड सकेगा। तेरे पुरुपार्थ के सामने किसी भी कर्मकी कोई शक्ति नहीं है। जैसे गाज के गिरने से पर्वत के खंड खंड हो जाते हैं उसी प्रकार आत्मा के पुरुपार्थ से कर्म भी क्षार क्षार हो जाते हैं।

आत्मा अपने पुरुपार्थ से क्या नहीं कर सकता। जिस कर्म के बंधन में तेरे विपरीत वीर्यने काम किया है उस कर्मको तेरा अनुकूळ वीर्य क्यों नहीं छोड सकेगा?

किसी भी प्रकार का कर्म आत्माको पुरुपार्थ करने से नहीं रोकता, किन्तु जब आत्मा स्वयं पुरुपार्थ नहीं करता तब मौजूदा कर्मको निमित्त कहा जाता है। किन्तु वे कर्म आत्माका कुछ करते नहीं हैं। चाहे जिस क्षेत्रमें और चाहे जिस कालमें आत्मा जब पुरुपार्थ करेगा तभी पुरुपार्थ हो सकता है।

[श्री धवलशास्त्र]

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

शाश्वत सुखका मार्ग दर्शक मासिक पत्र

एक अंक
पांच आना

आत्म धर्म कार्यालय—मोटा आंकडिया—काठियावाड

ज्ञान क्रियाभ्याम् मोक्षः

लेखक—रामजीभाई माणेकचंद दोशी

'ज्ञान क्रियाभ्याम् मोक्षः' बहुत छोटा सा सूत्र है किन्तु इस छोटे से सूत्र में गहन मर्म निहित है, उस मर्मकी जिसे खबर नहीं है वह यदि उसके अर्थ करने में भूल करता है तो वह स्वाभाविक ही है।

उक्त सूत्र संस्कृत भाषा का है, इसलिये जो लोग मात्र मागधी भाषा के मूल सूत्रको ही मानते हैं और उसके अतिरिक्त अन्य किसीको तीर्थंकर प्रणीत नहीं मानते उनके तो इस सूत्र के साथ कोई संबंध नहीं हो सकता फिर भी, कुछ लोग—दूसरे लोग इस सूत्रको अपनी मान्यता के लिये पुष्टिकारक और समर्थक मानकर अपनी अनुकूलता के अनुसार उसका अर्थ करते हैं। अब हमें यहां पर यह विचार करना है कि वह अर्थ क्या कहता है? और वह ठीक है या नहीं।

कुछ लोग कहते हैं कि आत्मा के ज्ञान और जड़ (शरीर) की क्रिया से मोक्ष होता है, वे इसके समर्थन में यह युक्ति देते हैं कि यह सूत्र द्विवचन में है इसलिये यदि आत्मा का ज्ञान और शरीरकी क्रिया यों दोनों नहीं लें तो द्विवचन नहीं हो सकता इसलिये व्याकरणकी दृष्टि से ऐसा ही अर्थ हो सकता है।

यह सच है कि यह सूत्र द्विवचन में है किन्तु इससे 'शरीर की क्रिया' ऐसा अर्थ नहीं हो सकता इसके कारण इस प्रकार हैं।

व्याकरण की दृष्टि से गलत अर्थ

(१) शरीर एक द्रव्य नहीं है किन्तु अनंत पुद्गल द्रव्यों से बना हुआ है, इसलिये एक आत्मा और अनंत पुद्गल द्रव्यों की क्रिया होने से अनंत द्रव्यों की क्रिया अनंत होगी अर्थात् एक आत्मा का ज्ञान और अनंत पुद्गलों की जो अनंत क्रिया एक समय में होती है उससे मोक्ष होता है, ऐसा अर्थ होगा। उक्त सूत्र में द्विवचन है, बहुवचन नहीं है, इसलिये यह अर्थ व्याकरण की दृष्टि से गलत सिद्ध होता है।

(२) जब शरीर का कार्य होता है तब जड़ कर्मों का भी कार्य होता है। जड़कर्म के उदय का और शरीर का क्रिया के साथ सम्बंध है, इसलिये यदि जीवके आत्मज्ञान से और शरीर की क्रिया से मोक्ष होता हो तो वास्तव में यह कहना चाहिये कि जीव के आत्म ज्ञान अनंतकर्म की क्रिया और शरीर की क्रिया इनतीनों से मोक्ष होता है। शरीर अनंत द्रव्यरूप है और जड़कर्म भी अनंत द्रव्य हैं फिर भी यदि प्रत्येक को एक एक द्रव्य मानलें तो भी तीन हुये, इसलिये भी उक्त अर्थ व्याकरण की दृष्टि से गलत सिद्ध होता है। जहां तीन होते हैं वहां संस्कृत में द्विवचन नहीं होता किन्तु बहुवचन होता है।

(३) प्रत्येक जीव एक है, शरीर अनंत द्रव्यों का पिंड है। शरीर के एक पिंड की स्थूल दृष्टि से भी एक क्रिया नहीं होती। जैसे—जीव जब ध्यान में होता है तब यदि शरीर की अवस्था की क्रिया का विचार करें तो पैर इत्यादि बैठने के आकार में हैं। कमर से ऊपर के भाग की क्रिया उससे एकदम भिन्न सीधी स्थिर है और हाथों की स्थिति उससे भी पृथक् है। मुख की स्थिति बिल्कुल स्थिर या कुछ झुकी हुई भी होती है। इसप्रकार अलग अलग अवयवों की क्रिया भिन्न भिन्न है किन्तु सूत्र में तो द्विवचन है और यह तो दो से अधिक प्रकार की क्रिया हुई। इस प्रकार भी व्याकरण की दृष्टि से गलत अर्थ सिद्ध हुआ।

(४) कुछ जीवोंको दुष्ट जीव घानीमें डालकर पेलते हैं और ज्ञानी साम्यभाव रखकर मोक्ष प्राप्त करते हैं। वहां पर घानी में पेलने के कार्य में शरीर के अवयवों की क्रियाएं भिन्न भिन्न होती हैं इसलिये भी वहां द्विवचन सूचक 'भ्याम्' शब्द नहीं होना चाहिये। किन्तु बहुवचन सूचक शब्द होना चाहिये, इस प्रकार से भी उक्त अर्थ गलत सिध्ध होता है।

सैद्धांतिक दृष्टि से वह अर्थ गलत है

(१) प्रत्येक जीव एक चैतन्य द्रव्य है। मोक्ष जीव की पूर्ण पवित्र अवस्था है। मोक्ष का अर्थ है विकारी अवस्था से अलग होना। जीव स्वयं अपने द्वारा अपने से विकार करता है इसलिये यदि वह स्वयं अपने द्वारा अपने में से विकार दूर करे तो वह दूर हो सकता है। यदि जीव जड़ का कोई कार्य करे तो जीव जड़ हो जाय। यदि शरीर जीवका कोई कार्य करे तो शरीर पुद्गल अनंत द्रव्य मिटकर एक चैतन्य द्रव्य हो जाय और यदि इस प्रकार द्रव्यका लोप होने लगे तो जीव

(शेष पृष्ठ १५ पर)

आत्मधर्म
: वर्ष २ : : वैशाख :
: अंक १ : : २४७२ :

अनेकांत क्या बतलाता है?

[श्री कानजी स्वामी के प्रवचन से]

(१) अनेकांत वस्तुको पर से असंग बतलाता है। असंगत्व की स्वतंत्र श्रद्धा असंगत्व के विकासका उपाय है। पर से प्रथकत्व का होना सो वस्तु का धर्म है।

(२) अनेकांत वस्तुको यों बतलाता है कि वह 'स्व अपेक्षा से है और पर अपेक्षा से नहीं है'। 'तू है' है, तो पर अपेक्षा से नहीं है और परवस्तु अनुकूल हो या प्रतिकूल हो उसे बदलने के लिये तू समर्थ नहीं है। बस, इतना निश्चय कर तो श्रद्धा, ज्ञान और शांति तेरे पास ही है।

(३) अनेकांत वस्तु को निजत्वकी अपेक्षा से सत् बतलाता है। सत्‌को सामग्रीकी आवश्यकता नहीं है संयोगकी आवश्यकता नहीं है किन्तु सत्‌को सत् के निर्णयकी आवश्यकता है कि 'सत् रूप मैं हूं पर रूप नहीं हूं।'

(४) अनेकांत वस्तुको एक अनेक बतलाता है। एक कहते ही अनेककी अपेक्षा आ जाती है। तू अपने में ही एक है और अपने में ही अनेक है। तू वस्तुकी अपेक्षा से एक है और गुण पर्यायकी अपेक्षा से अनेक है।

(५) अनेकांत वस्तुको नित्य अनित्य बतलाता है। स्वयं नित्य है और स्वयं ही (पर्यायकी अपेक्षा से) अनित्य है। इसमें जिस ओर की रुचि होती है उसी ओरका परिणाम होता है। यदि नित्य वस्तु की रुचि हो तो नित्य रहनेवाली वीतरागता होती है और अनित्य-पर्यायकी रुचि हो तो क्षणिक रागद्वेष होता है।

(६) अनेकांत वस्तुकी स्वतंत्रताको उद्‌घोषित करता है। वस्तु पर की अपेक्षा से नहीं है स्वकी अपेक्षा से है, जहां यह कहा वहां 'स्व अपेक्षा से प्रत्येक वस्तु परिपूर्ण ही है' यह आ जाता है। वस्तुको परकी आवश्यकता नहीं है। स्वतः अपने आप स्वाधीन-परिपूर्ण है।

(७) अनेकांत एक वस्तु में दो विरुद्ध शक्तियोंको बतलाता है। एक वस्तु में वस्तुत्वको उत्पन्न करनेवाली दो विरुद्ध शक्तियों के मिलकर ही तत्त्वकी पूर्णता होती है। दो विरुद्ध शक्तियों का होना सो वस्तुका स्वभाव है।

वस्तु की स्वतंत्रता

(परम पूज्य श्री कानजी स्वामीका व्याख्यान)
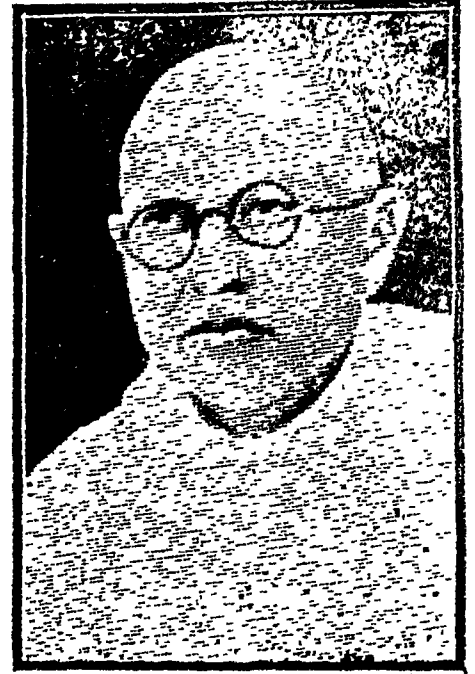
आत्म स्वभावकी प्रतीति होने पर पराधीन भावका नाश और स्वाधीन भावका विकास होना सो निर्जरा है। स्वाधीन भावका विकास और पराधीन भाव का नाश किसके बल से होता है यह जाने विना निर्जरा नहीं होती है।

विकारभाव–पराधीनभाव क्षणिक है। यदि अविनाशी, निर्मल, ध्रुव स्वभाव पर दृष्टि जाय तो क्षणिक का माहात्म्य दूर हो जाय। शरीरादिकी वासना तो दूर हो ही जानी चाहिये। क्षणिक रागद्वेष जितना मैं नहीं हूं ऐसी प्रतीति होने पर उसके प्रति का आकर्षण और उत्साह दूर हो जाता है किन्तु यह कब हो सकता है? तब जब कि उसे ऐसी प्रतीति हो जाय कि मैं अविनाशी और स्थिर हूं और वह क्षणिक के लक्ष्यको गौण करदे।

जब तक यह न ज्ञात हो जाय कि मैं रागद्वेषविहीन ज्ञाता स्थिर आत्मा हूं तब तक स्वतंत्रता नहीं झलकती। "एक आत्माको दूसरेकी आवश्यकता नहीं है" इस प्रकार का निर्णय हो जाना ही स्वतंत्रता का कारण है। एक आत्माको दूसरेकी आवश्यकता होती है (दूसरेकी आवश्यकता होती है यों मानना) यह परतंत्रता है। शरीरादिक ठीक हो तो अच्छा हो इस प्रकार एक तत्त्व दूसरे तत्त्व के आलंबनकी इच्छा करे सो पराधीनता है।

मैं निर्मल, ज्ञानज्योति, रागद्वेष विहीनहूं, मेरा सुख मुझमें है इस प्रकारकी श्रद्धाका होना ही स्वभावकी स्वतंत्रता प्रगट करने का उपाय है। इस स्वरूपकी रुचि का जो भाव है उसमें अनंत पुरुषार्थ है, विषय कषाय की रुचि नहीं। "पुत्र, स्त्री, धन इत्यादि सब पर वस्तु हैं, वह मेरा स्वरूप नहीं है, ज्ञाता दृष्टा स्वभाव में ही आत्मधर्म और स्वतंत्रता है आत्माको पर के आश्रयकी आवश्यकता नहीं है" ऐसा निश्चय हुये विना धर्म और स्वतंत्रता प्रगट नहीं होती। ज्ञान के विना स्वतंत्रता का निश्चय कदापि नहीं हो सकता क्योंकि सबका अतापता लगानेवाला ज्ञान ही है। अरूपी भावका पता लगानेवाला ज्ञान है। पर से भिन्नत्वकी प्रतीति का पता भी ज्ञान से मिलता है। समुद्र में आंखें बंद होने पर भी मोतीको कौन पहचान लेता है वह ज्ञान से मालूम होता है। ज्ञान अर्थात् आत्मा, वह जानता है कि यह मोती (सीप) है या शंख? दोनों के बीच भेद को जाननेवाला ज्ञान है। चैतन्य आत्मा से लक्ष्मी आदि पर हैं। पर से भिन्न आत्माकी स्वतंत्रता का पता यथार्थ ज्ञान के बिना नहीं लगता और सत्समागम के विना यथार्थ ज्ञान नहीं मिलता और सम्यग्दर्शन भी प्रगट नहीं होता। विना सम्यग्दर्शन के स्वाधीनता प्रगट नहीं होती। सम्यक्त्वी के निःशंकता नाम का प्रथम आचार होता है, इसका विश्वास सो श्रद्धा है और जानना सो ज्ञान है। आत्माका दर्शन ज्ञान आत्मा में ही है। आत्मा के धर्मका संबंध आत्मा के साथ है बाह्य के साथ नहीं।

देव, गुरु, शास्त्र पर हैं, धर्मका संबंध पर के साथ नहीं है, धर्म पर के साथ संबंध नहीं रखता। धर्मका अर्थ है पर में निजत्वकी मान्यता ज्ञान में न होने देना और अखंड चैतन्य के लक्ष्य से रागद्वेष ढीले हो जांय सो ही आत्मा का धर्म है। आत्मा का धर्म आत्मा में है, देव शास्त्र गुरु के प्रति के शुभभाव, अशुभभाव (संसार के पाप का परिणाम) घटाये भले जाते हैं किन्तु धर्म की दृष्टि में वह आदरणीय नहीं। धर्म तो मेरा ज्ञाता स्वभाव है, उस में आत्मा टिक नहीं सकता तब शुभमें प्रयुक्त होना पड़ता है। जब तक जीव यह नहीं समझ लेता कि शुभभाव धर्मका कारण नहीं है तब तक उसे धर्मकी–आत्माकी–स्वतंत्रताकी खबर नहीं होती। दूसरे का कुछ करने की जो वृत्ति है सो विकार है।

"मैं चिदानंद, असंयोगी, आत्मा पूर्ण ज्ञानस्वरूप, निर्मल हूँ, मेरा और परका कोई संबंध नहीं है" इस प्रकारकी प्रतीति होने के बाद स्वरूप में स्थिर होने रूप पुरुषार्थकी अशक्ति में विषय कषाय के पाप भाव से बचने के लिये शुभभाव आते हैं, वे भी विकार हैं। मैं उससे

रहित ज्ञाता दृष्टा हूं ऐसी दृष्टि हुये विना किसीको कभी न तो धर्म हुआ है, न होता है और न होगा।

सम्यग्दर्शन के आठ अंग कहे गये हैं उनमें से पहला निःशंकित अंग है।

यश्चतुरोऽपि पादान् छिनत्ति तान् कर्मबंध मोह करान्।
स निश्शंकश्चेतयिता सम्यग्दृष्टि र्ज्ञातव्यः ॥२९९॥

यह गाथा अपूर्व है, स्वतंत्रता का उपाय अनंतकाल में कभी नहीं किया था ऐसा अपूर्व है।

आत्मा ज्ञाता दृष्टा ही है, आत्मा निश्चय से वास्तव में कर्म द्वारा बंधता है यह मानना सो भ्रम है, ऐसा भ्रम सम्यक्त्वी के नहीं होता।

प्रत्येक वस्तु भिन्न है। एक तत्त्व दूसरे तत्त्वका कुछ भी करने को समर्थ नहीं है। यदि एक पदार्थ दूसरेका कुछ भी करे तो दो पदार्थ एक हो जांय, इसलिये एक पदार्थ दूसरे का कुछ करता है यों मानना सो विल्कुल मिथ्यात्व है।

सत् त्रिकाल में कभी वदल नहीं सकता यदि एक प्रथक् तत्व दूसरे तत्व के आधार से हो तो वह तत्व ही नहीं हो सकता। इस प्रकार जव कि परके साथ कोई संबंध नहीं है तव यह मानना चाहिये कि एक क्षेत्र में रहने पर भी जड़ कर्म आत्माको रागद्वेष नहीं कराते क्योंकि वह भिन्न वस्तु है और आत्मा स्वतंत्र ज्ञानमूर्ति अलग वस्तु है। पर वस्तु आत्माको रागद्वेष नहीं कराती, इस प्रकार जहां स्वतंत्र आत्मा का निर्णय होगया वहां मैं रागद्वेष रूप नहीं हूं क्योंकि अकेले तत्व में विकार नहीं होता। यदि अकेला तत्व विकार (रागद्वेष) करने लगे तो वह उसका स्वभाव हो जाय, इसलिये मात्र अकेले में विकार नहीं होता।

आत्मामें पर पदार्थ नहीं है जिसे यथार्थ निर्णय होगया कि "मैं जुदा हूं, इसलिये मुझे बंध नहीं है" उसके बंध नहीं है। बंध तभी होता है जव जीव अपने को दूसरे के साथ बंधा हुआ मानता है।

पहला सिद्धांत—'एक तत्त्व दूसरे तत्त्वका कुछ भी नहीं कर सकता' यही वस्तु का स्वरूप है।

दूसरा सिद्धांत—'पर पदार्थ मुझे रागद्वेष कराता है' इस प्रकार माना है सो ही अनादिकालीन भ्रम है।

'मैं एक प्रथक् तत्त्व कर्मों के द्वारा बंधा हुआ हूं' इस प्रकार का जो भ्रम है सो वही अनंत अवगुणों की जड़ है। 'मैं परसे बंधा हुआ हूं' इस प्रकार का जो भ्रम है सो ही मिथ्यात्व है। मैं मुक्त हूं यों न मानकर 'पर के आश्रय के विना मेरा चल ही नहीं सकता' इस प्रकार निश्चय कर लेना सो अज्ञान और विपरीतबुद्धि है। कोई किसी की मदद नहीं करता फिर भी अज्ञान से जीव वैसा मात्र मानता है।

आत्मा ज्ञाता है, उसमें कर्मबंध नहीं मैं बंधा हुआ हूं इस प्रकार का भ्रम ज्ञानी के नहीं होता।

प्रश्न—वह बंधा हुआ नहीं है तो क्या मुक्त होगया है?

उत्तर—अनादि से आत्मा तो मुक्त ही है किन्तु "मुझमें स्वतंत्रता है यदि उसमें स्थिर होजाऊं तो स्वाधीन हूं" जिसे ऐसी प्रतीति नहीं है उसने अपने को पराधीन माना है। *'मैं स्वाधीन हूं' इस प्रकार की यथार्थ प्रतीति* होने पर स्वाधीनता प्रगट होती है। वस्तु तो स्वतंत्र है ही, जीवने पराधीनता की मान्यता के अतिरिक्त दूसरा कुछ भी नहीं किया, भले ही इसवात को कोई स्वीकार न करे किन्तु त्रिकाल में भी यह वदल नहीं सकती। इसके अतिरिक्त कोई भी दूसरी वात मान सकता है किन्तु अन्य का कुछ भी कर नहीं सकता; यह समझ लेने के वाद अन्य का करने से रुक जायगा सो भी नहीं है। पहले भी पर पर के कारण से होता था, त्रिकाल में पर के कारण से पर होता है यही निश्चित है।

'मुझे बंधन है, मैं पराधीन हूं' इस प्रकार के संदेह को लेकर जीव को कभी भी सुख नहीं होता। पहले भ्रम पूर्ण जीवन की चिंता में जो विकार हुआ करता था उसका सम्यग्दर्शन के द्वारा पहले छेद कर दिया कि कर्म के द्वारा त्रिकाल में भी जीव नही बंधता वह यह जानता है।

आत्मा वस्तु है उसका गुण उससे जुदा नहीं हो सकता। मात्र यह मान लिया है कि मेरे गुण परमें हैं, इसलिये मानता है कि कर्म का बंधन है और कहता है कि जव कर्म का बंधन नहीं होता तो मोक्ष क्यों नहीं होता। उससे यह पूछा जाता है कि तू बंधा हुआ है यह तूने माना है? अथवा कर्मने तुझे बांध रखा है? जो बंधा है वह अपने कारण से बंधा है कोई भी तत्त्व दूसरे तत्त्व को नहीं बांध सकता।

प्रश्न—मात्र आत्मा की वात करे तो जीव पागल नहीं हो जायगा?

उत्तर—आत्मा अर्थात् सत्य असत्य के विवेक को जानने वाला, जिसके यह विवेक नहीं है वह पागल है।

जिसने विवेक के जाना है वह पागल नहीं होता। एक स्वतंत्र तत्त्व आत्मा के परसे बद्ध मानना से स्वतंत्रता की हत्या है। एक तत्त्व 'है' यें कहना और फिर कहना कि 'पर से बंधा हुआ हूं' ते वह दोनें परस्पर विरोधी हैं। यदि 'तू है' ते तेरे गुण तुझमें हैं वे परमें नहीं चले गये तेरे गुण परमाणु में या शरीर में नहीं है। तेरे गुण यदि तुझ में नहि है ते तू लायेगा कहां से ? भगवन् ! तूने अपनी महिमा के सुना ही नहीं है केवल संसार की बातें की हैं, बहुत बड़ा भार ढोता फिरा लेकिन वह सब व्यर्थ है ।

मैं एक तत्व पर से बद्ध हूं जहां यह माना वहीं यह मान लिया गया कि मैं स्वतंत्र तत्त्व नहीं हूं यही सर्व पाप का मूल है कहाभी है कि–" पाप मूल अभिमान " इसका अर्थ यह है कि मैं–एक आत्मा पर का कुछ कर सकता हूं और पर मेरी सहायता करता है, जिसने यह माना उसे स्वतंत्र वस्तुकी खबर नहीं है, इसलिये वह सबका खिचड़ा कर देता है. इसी का नाम अहंकार है और यही पाप का मूल है ।

मैं पर से बंधा हुआ हूं इस प्रकारकी जे मान्यता है से स्वतंत्र तत्वकी हत्या करना है यही सब पापोंकी जड़ है और इसमें से ही दुःख का वृक्ष फूलता फलता है, पर से कोई हानि लाभ नहीं है। पर में जे मोह है और पर में मेरेपने की जे मान्यता है से ही हानि की जड़ है ।

पैसे का मिलना लाभ और हानि का कारण नहीं है किन्तु यदि यह पर वस्तु हे ते मेरे लिये बहुत अच्छा हे इस प्रकारकी मान्यता अर्थात मैं स्वयं सत्व हीन हूं, ऐसी मान्यता ही दुःख और मोह है।

प्रश्न–इसे समझ लेने के बाद तत्काल ही सब कुछ छोड़ ही देते होंगे ?

उत्तर–भीतर से विपरीतता छूट जाती है अन्यथा समझे बिना ते (आत्माकी प्रतीति हुये बिना) अनंत बार साधु हे, त्यागी हे अथवा धर्मासन पर बैठे ते इस से कहीं धर्म नहीं होता। उच्चासन पर बैठने से धर्म नहीं होता। ऊंचा ते तब कहलाता है जब यह दृढ़ प्रतीति हो जाय कि मेरा आत्मा ऊर्ध्व स्वभावी है, और उसमें पर से हानि-लाभ होने की हीन मान्यता नष्ट हो जाय, यही ऊर्ध्व तत्वकी प्रतीति है वह यथार्थ ज्ञान के बिना नहीं होती। ऐसा नहीं होता कि मान्यता के बदलते ही उसी क्षण सब विषय कषाय भी दूर हों जाय। वहां ते मात्र पूर्ण स्वतंत्रता होने का कारण प्रगट हे जाता है।

पहले ते सबसे बड़ा दुर्भाग्य यही था कि वह यह मान बैठा था कि मैं परसे बंधा हूं इसलिये छूटने के लिये भी परका उपाय चाहिये किन्तु जहां मान्यता बदली कि मैं अपनी विपरीत मान्यता से बंधा हुआ हूं वहां स्वयं मान्यता के बदले बिना नहीं रहता। विपरीत मान्यता के बदल देना ही धर्म है। अरे भाई ! यह बात सब जगह नहीं मिलेगी—बारम्बार नहीं मिलेगी।

जिसने यह मान लिया कि आत्मा पर से बंधा हुआ है वह छूटने का उपाय भी परमें ही किया करता है। यदि मैं—एक वस्तु हूं ते वस्तु के गुण भी वस्तु में भरे ही हुये हैं. मात्र 'पर से गुण होता है' यें मान लिया था, से यही भ्रमणा अपने गुणों के नहीं देखने देती। गुण और गुणी ते त्रिकाल हैं, मात्र अवस्था में भूल अर्थात् मलिनता का होना से संसार है और अवस्था में भूल का दूर होजाना से मुक्ति है। स्वयं चिदानंद स्वरूप ध्रुव है। करोड़ों रुपया देने पर भी यह एक शब्द नहीं मिल सकता।

मुक्त होने का उपाय–मैं मुक्त हूं ऐसी प्रतीति हुये विना मुक्त होने का बल प्रस्फुरित नहीं होता और मुक्ति नहीं होती।

" मैं पर से बंधा हुआ हूं " ऐसे मिथ्यात्व, अविरत, प्रमाद और कषाय भावके सम्यक्त्वी छेद डालता है अपने के बंधा हुआ मान रखा है यही मान्यता स्वतंत्र होने की रुचि नहीं होने देती। अनेक सादा और सरल सूत्र यहां कहा जाते हैं। यदि समझना चाहे ते आठ वर्ष का बालक भी समझ सकता है अन्यथा अस्सी वर्ष का पंडित (मात्र पोथाओं के पढ़ा हुआ) भी नहीं समझ सकता ।

अच्छा किसका करना है, जे हे उसका या जे नहीं है उसका ? जे होता है वह पर से बंधा हुआ नहीं होता। सम्यक्त्वी भ्रमके छेद डालता है मैं पर से बंधा हुआ नहीं हूं। एक तत्त्व परसे पराधीन नहीं हुआ। " मैं निश्चय से कर्म से बंधा हुआ हूं " इस प्रकार की विपरीत मान्यता के चार पाया रूप मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और कषाय के सम्यग्दृष्टि छेद डालता है।

मिथ्यात्व—मैं परसे बद्ध हूं ऐसा भ्रम होना से मिथ्यात्व है। इस भ्रमके दूर होने के बाद जे अविरति, प्रमाद, कषाय सम्यग्दृष्टि के होती हैं उसमें उसकी बुद्धि

निम्न प्रकार होती है। अविरति का अर्थ है आसक्ति किन्तु यह मेरा स्वरूप नहीं है। अशक्ति की भूमिका में उसके रागद्वेप होता है फिर भी वह यह नहीं मानता कि वह मेरा है।

कपाय—क्रोधादि को कपाय कहते हैं। सम्यग्दृष्टि जानता है कि यह मेरा स्वरूप नहीं है और इसीलिये उसकी उसमें रुचि नहीं है।

प्रमाद—प्रमाद का अर्थ है पुरुपार्थकी अशक्ति, वह भी मेरा स्वरूप नहीं है। यह राग मेरे पुरुषार्थ की निवलाई के कारण—वीर्य की हीनावस्था में होता है, वह वस्तु के स्वभाव में नहीं है ऐसे निर्णये से वह रागादि को दृष्टि में से निकाल देता है। धर्मी का यह पहला चिन्ह है, पहला लक्षण है। जहां यह नहीं है वहां अंडाकार गोल शून्य ही समझना चाहिये।

आत्माने अनंत काल से किया क्या है?

'पर मेरा है और मैं पर का हूं' इसी मान्यता को पुष्ट किया है और इसी मान्यता के कारण अनादि से रागद्वेप भावों को करता रहा है। इसके अतिरिक्त इसी आत्माने परका कुछ नहीं किया कोई किसी का कुछ कर ही नहीं सकता।

वस्तु अलग है किंतु मैंने ही बंधन मान लिया था, लेकिन वस्तु में बंधन नहीं है, मात्र मान्यता ही थी। दूसरे का करने के लिये एक परमाणु मात्र बदलने के लिये आत्मा समर्थ नहीं है। 'मैने पर को दिया' इस प्रकार का अभिमान जीव करता है किन्तु एक तत्त्व दूसरे का कुछ कर सकता है यह त्रिकाल में कभी नहीं बन सकता।

यह अपने घर की वस्तु है, घर की वस्तु मंहगी नहीं होती। मंहगा मान रखा है, यही मान्यता समझने नहीं देती। सम्यक्त्वी की सर्व प्रथम ऐसी बुद्धि होती है कि 'मैं अलग हूं—स्वतंत्र हूं।' अपनी स्वतंत्रता की एक बार हां तो कह। हां कहते ऐड़ी चोटी का पसीना एक हो जायगा। अनादि की मान्यता को बदलने के लिये अनंत पुरुपार्थ चाहिये।

स्वतंत्र आत्म तत्वकी प्रतीति के विना कोई सच्चा त्यागी अथवा साधु नहीं हो सकता। कोई सच्चा साधु न हो इसलिये कहीं खोटे साधुको साधु नहीं कहा जाता। मानसरोवर में मोतियोंको चुगनेवाला हंस ही होते हैं किन्तु यदि हंस न हों तो हंसकी जगह कौवेको हंस नहीं कहा जाता। सम्यग्दृष्टिने परवस्तु का पहले ही इनकार किया है कि "आत्मतत्व अपने स्वतंत्र स्वभाव में परकी सत्ताको बिल्कुल नहीं घुसने देता।"

जगत के कार्यो में एक धंधेकी बात में दूसरा नहीं पड़ता। हलवाई के काम में जौहरी अपना स्थान नहीं वताता अथवा कुम्हार के काम में वकील अपना सिर नहीं मारता। जिसका जो काम होता है उसमें दूसरा हाथ नहीं डालता किन्तु धर्मकी बात में तो सभी निकल पड़े हैं कि 'यह ऐसा होता है और वह वैसा होता है।' यहां उससे कहते हैं कि अरे भाई! तुझे जगतकी कलाकी कीमत है वहां एककी कलामें

मात्र विपरीत ही करता रहा है। जहां गुण होता है वहां अवगुण करता रहा है, आत्मा में पर नहीं है, इसलिये पर आत्माका कुछ नहीं करता और न पर का आत्मा ही कुछ करता है। एक तत्त्व दूसरे तत्त्व में संक्रमण करे (तद्रूप परिणमन करे) यह त्रिकाल में कभी नहीं बनता। अभीतक विपरीत रुचि और रागद्वेप किया है इसलिये 'धर्म के लिये पहले विपरीत रुचि को वदलना होगा।'

आत्मा अनादि अनंत शाश्वत् तत्त्व है-जहां उसकी रुचि होगई वहां मुझे बंध होगा ऐसी शंका नहीं होती।

> ज्यों ज्यों मति की अल्पता और मोह उद्योत।
> त्यों त्यों भव शंकता अपात्र अंतर ज्योत॥
> (श्रीमद् राजचन्द्र)
>
> जिसकी मतिमें अल्पता है, ज्ञान में विवेक नहीं है; मोह, उद्योत अर्थात् पर के ऊपर जिसका भार है, मैं अनंत पूर्ण शक्ति रूप हूँ इसका जिसे विश्वास नहीं; काल, क्षेत्र और कर्म मेरे लिये बाधक हैं इस प्रकार जो पर के ऊपर डाल देता है उसे भवकी शंका होती है। "मैं अपने पुरुषार्थ से स्वतंत्र आत्मतत्त्वकी मुक्ति पा सकता हूं" ऐसी श्रद्धा जिसे नहीं होती और जिसके यह बात नहीं जमती कि रागको तोड़ देना मेरे हाथकी बात है वह अपात्र अंतर ज्योत है।
>
> मैं आत्मतत्व एक क्षण में अनंत पुरुषार्थ करके अनंतकालकी समस्याको हल कर सकता हूं क्योंकि मैं अनंत वीर्यकी मूर्ति हूं यह बात जिसके जम जाय उसे अनंत संसार नहीं होता।
>
> [समयसार प्रवचन में से]

दूसरा सयान नहीं करता। लेकिन, यहां धर्म में सभी अपना सयान लगा देते हैं। लोगोंने धर्म को भाजीमूला जैसी वस्तु बना रखा है। क्या धर्म मुफ्तकी वस्तु है, उसे अनंतकाल में भी सुनपाना भी दुर्लभ है।

अरे, संसार के कामों में तो सब कुछ क्रमबद्ध होता है, वहां यदि हलुआ बनाना हो तो कुछ भी उल्टा सीधा नहीं चल सकता, लेकिन धर्म में तो कहते हैं कि पहले क्रिया करो बाद में समझ लेंगे, किन्तु समझे बिना क्रिया किसकी? सर्व प्रथम सच्ची समझ करनी होगी। वह पहली समझने की क्रिया है।

"गुड़ अंधेरे में खाने पर भी मीठा लगता है" यह सच है किन्तु पहले गुड़ पदार्थका ज्ञान तो करना होगा न? सच्चे गुड़को तो नहीं जाने और गोबर के गोलेको मुंह में डालले वह मीठा नहीं लगेगा। इसी प्रकार आत्माका स्वभाव तो शांत है किन्तु उसके स्वाद के लिये पहले उसका ज्ञान करना होगा। सम्यग्दर्शन के बिना कदाचित् कोई कषाय मंद हो जाय किन्तु उस से आत्माको कोई लाभ नहीं होता।

एक बार स्वतंत्रताकी बातको तो ला, तू स्वतंत्र है, स्वतंत्र होने के लिये 'मैं स्वतंत्र हूं किसी पर से मैं दबा हुआ नहीं हूं' इस प्रकारकी प्रतीति का रटन किये बिना यथार्थ भान नहीं होता इस बात से तीनकाल और तीनलोक में कोई भी इनकार नहीं कर सकता। मुक्तिका मार्ग त्रिकाल में एक ही होता है, यदि कोई दूसरा मानता है तो वह उसके घरकी मान्यता है।

सर्व प्रथम सम्यग्दृष्टि संदेहको चूर २ कर देता है उसके बाद दूसरी बात होती है। स्वतंत्र स्वभाव में निःशंकता हुये बिना स्वतंत्रता का पुरुषार्थ नहीं हो सकता।

वस्तु तो वस्तु स्वभाव से जैसी है वैसी ही त्रिकाल में रहती है। वस्तु में पराधीनता या बंधन नहीं है। वस्तु स्वाधीन है, किन्तु अपनी स्वाधीनताकी खबर नहीं थी इसलिये पराधीनता मान रहा है। किन्तु वस्तु पराधीन नहीं है।

सम्यक्त्वकी आंखों के खुले बिना जगत् अनादिकाल से दबा चला जा रहा है। पहले तो कान में सत्य बात का पड़ना अनंतकाल में दुर्लभ है और यदि कभी कहीं सत्य कान में पड़ा भी तो बीच में विपरीत मान्यता के लक्कड़ डालकर सुनता है तो फिर वह समझे कहां से?

'मेरे गुण में परका प्रवेश नहीं है मैं अपनी भूल से अटक रहा हूं मेरा स्वरूप तो सिद्ध समान है।' इस प्रकारकी श्रद्धा के न होने से स्वभाव में निःसंदेहता नहीं आती। निःशंकता के बिना स्वाधीनता प्रगट नहीं होती।

अनंतकाल के अंधकारको दूर करने के लिये कुदाड़ी या फावड़ेकी आवश्यकता नहीं होती किन्तु दियासलाई के घिसने से अंधेरा दूर हो जाता है, इसी प्रकार अनादिकालीन अज्ञानको दूर करने के लिये बाह्य कर्म क्रिया करे तो उससे अज्ञान दूर नहीं होता किन्तु चैतन्यमूर्ति समुद्र ज्ञान प्रकाश से भरपूर है, उसकी श्रद्धा करके एकाग्रता के बल से केवलज्ञान का प्रकाश प्रगट होता है।

दियासलाई के सिरे पर प्रकाश प्रत्यक्ष नहीं दिखाई देता फिर भी मानता है वह किसी के कहने से अथवा जगत मानता है इसलिये नहीं मानता किन्तु स्वानुभव है इसलिये वह ऐसा मानता है इसी प्रकार आत्मा चैतन्य ज्योति ज्ञानका समुद्र है इसलिये पहले स्वयं श्रध्धा करे और उसके बाद उसकी एकाग्रता के बल से परमात्मा हो जाता है।

टंकोत्कीर्ण ज्ञायक स्वभावकी श्रध्धा होने पर 'मैं पर से बंधा हुआ हूं' इस भ्रमको दूर कर डालता है। स्वतंत्रताकी श्रध्धा के बल के बिना स्वतंत्रता कभी प्रगट नहीं होती और जब तक पराधीनता दूर नहीं हो जाती तब तक मुक्ति नहीं होती।

'मैं बंधा हुआ नहीं हूं, मेरे स्वरूप में बंधन है ही नहीं।' इस प्रकार जिसे तत्त्वकी निर्बंध दृष्टि प्राप्त है वह क्रमशः निर्जरा करके मुक्त हो जायगा। पहले श्रध्धा चाहिये। ध्रुव स्वरूप के बल से आठों कर्मोंका नाश करके सहजानंद परमात्मा (जैसा कि भीतर मौजूद है) प्रगट हो जाता है।

शुभाशुभ वृत्ति आत्माका स्वरूप नहीं है, आत्मा शुभाशुभ भाव जितना नहीं है, दयादिकी वृत्ति क्षण-क्षण में नई होती है। उस वृत्ति के समय अज्ञानी के इस मान्यता के कारण बंधन होता है कि 'यह मेरे स्वरूप में है' और ज्ञानी 'मेरे स्वभाव में बंधन भाव नहीं है विकार नहीं, अवस्था में अशक्ति के कारण यह वृत्ति आ जाती है' ऐसी प्रतीति में परका (शुभाशुभ भावोंका) धनी नहीं होता, इसलिये स्वभावका बल है इसलिये वह पुरुपार्थकी अशक्ति का स्वामित्व नहीं होने देता।

मेरे स्वभाव में कमी अथवा विकार नहीं है, पुरुषार्थ की कमजोरी भी मेरे स्वभावमें नहीं है, मात्र अवस्था में जो अशक्ति दिखाई देती है वह वर्तमान पुरुपार्थ की अशक्ति है यह ज्ञानी जन जानते हैं।

ज्ञानी को टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायक भावमय होने के कारण कर्मबंध संबंधी शंकाको करने वाले अर्थात् मैं कर्मों से बंधा हुआ हूं ऐसा भय (संदेह) उत्पन्न करने वाले मिथ्यात्व आदि भ्रांतिभावों का अभाव होता है इसलिये वह निःशंक है अर्थात् 'मैं परसे बंध जाऊंगा' ऐसा शंका कृत बंध उसके (ज्ञानीके) नहीं होता किन्तु उसके निर्जरा ही होती है।

"व्यवहार" क्या है?

प्रश्न—शास्त्रोंमें अनेकस्थानों पर व्यवहार शब्दका प्रयोग किया जाता है उसका अर्थ क्या है?

उत्तर—व्यवहार शब्द के अनेक अर्थ होते हैं, उन में से एक अर्थ यह भी है कि अज्ञानीकी पर के कर्तृत्वकी जो विपरीत मान्यता (प्रतिभास) है सो व्यवहार है।

प्रश्न-व्यवहार का जो अर्थ किया है वह ठीक ठीक समझ में आसके इस प्रकार विशेप स्पष्ट कीजिये।

उत्तर—वास्तव में जीवकी प्रवृत्ति (क्रिया) और जड़ पदार्थोंकी प्रवृत्ति (क्रिया) विल्कुल भिन्न है किन्तु जीव जब तक यथार्थ ज्ञान प्रगट नहीं करता तब तक स्थूल दृष्टि से देखता है। इसलिये उनकी प्रवृत्ति भिन्न २ होने पर भी एकसी दिखाई देती है। अज्ञानदशा में जीवको जीव और जड़ पदार्थों का भेद ज्ञान (यथार्थ ज्ञान) नहीं होता इसलिये ऊपरी दृष्टि से [गहन विचार किये विना] ऊपरी दिखाई देता है ऐसा वह मान लेता है और इसलिये वह यों मानता है कि जीव जड़ कर्मको करता है और उसे भोगता है। श्री गुरु भेद ज्ञान कराकर जीवका सच्चा स्वरूप बतलाकर अज्ञानी के उस प्रतिभासको व्यवहार कहते हैं।

प्रश्न—अज्ञान दशामें जीव कर्तृत्व के संबंध में कबसे क्या मान रहा है?

उत्तर—इस जगत में जीवों के अज्ञान दशामें "परद्रव्य को और उसकी अवस्थाओं को मैं करता हूं" इस प्रकार पर द्रव्य के कर्तृत्व का महा अहंकार रूप अज्ञानांधकार (कि जो अत्यंत अनंत पुरुपार्थ से दूर किया जा सकता है) अनादि संसार से चला आ रहा है।

प्रश्न—एक वस्तु (जीव) परवस्तु (जड़) का कुछ क्यों नहीं कर सकता? कृपया समझाइये।

उत्तर—प्रत्येक वस्तु निजसे निज वस्तु रूपमें (द्रव्यरूपमें), निजसे अपने प्रदेशरूपमें (क्षेत्ररूपमें-आकार रूपमें) निजसे अपनी अवस्थारूप में (कालरूपमें) और स्वयं निजसे अपने गुणरूपमें (भावरूपमें) है। और वह वस्तु परवस्तु के द्रव्य क्षेत्र काल और भावरूप में नहीं है। अब जो वस्तु अन्य वस्तु में द्रव्य क्षेत्र काल और भाव रूपसे नहीं है वह दूसरे का क्या कर सकती है। स्पष्ट है कि कुछ भी नहीं कर सकती।

जो जो वस्तुएँ हैं। वे सर्वथा भिन्न ही हैं वे प्रदेश भेद वाली ही हैं। दोनों के क्षेत्र भिन्न ही रहते हैं। इस प्रकार अपने क्षेत्रमें त्रिकाल भिन्न है तथा स्वद्रव्य में प्रत्येक द्रव्य त्रिकाल भिन्न है और प्रत्येक द्रव्य स्वभाव में त्रिकाल भिन्न है। इसलिये कोई द्रव्य, गुण अथवा पर्याय परका कुछ नहीं कर सकती।

प्रश्न—तब क्या यह मानना महा अहंकार है कि जीव परद्रव्य का कुछ कर सकता है?

उत्तर-हां, ऐसा ही है। स्वयं दूसरे का कुछ कर नहीं सकता फिर भी यों मानता है कि मैं करता हूं इसलिये इसे अहंकार कहा गया है और वह विपरीत मान्यता अनंत संसार का (दुःख का) कारण है और उसे दूर करने के लिये अनंत पुरुषार्थ की आवश्यकता है इसलिये उसे "महा" कहा जाता है।

प्रश्न-इस महा अहंकार को अज्ञानांधकार क्यों कहा जाता है?

उत्तर—क्योंकि उसने स्वयं अपना यथार्थ ज्ञान प्राप्त नहीं किया है और बहुत बड़ी भूल कर रहा है इसलिये उसे महा अहंकाररूप अज्ञानांधकार कहा जाता है।

प्रश्न—तबतो यों हुआ कि महा अहंकाररूप अज्ञानांधकार को अज्ञानी का प्रतिभास और उस प्रतिभास को व्यवहार कहा जाता है। क्यों यह ठीक है न?

उत्तर—हां, यही बात है।

प्रश्न—इस विपय में जो शास्त्राधार हो कृपया वह बताइये।

उत्तर—हां, शास्त्राधार है। श्री समयसार की गाथा ८४ से ८६ और उसकी टीका भावार्थ तथा कलश

५१ से ५६ तक पढ़कर विचार करने से वस्तुका स्वरूप यथार्थ रूप में समझा जा सकता है।

प्रश्न—इस महा अहंकारको दूर करने का क्या उपाय है?

उत्तर—जो यह महा अहंकाररूप अज्ञानांधकार है सो वह अज्ञानीका प्रतिभास है, इसलिये उसे व्यवहार कहा जाता है इसलिये व्यवहार जैसा है उसे वैसा जानकर उसका आश्रय छोड़ने से और वह निश्चय करके कि एक द्रव्य दूसरे का कुछ नहीं कर सकता अपने त्रैकालिक ध्रुव स्वभावका आश्रय लेने से वह महा अहंकार रूप अज्ञानांधकार दूर हो सकता है।

प्रश्न—ऊपर आपने जो उपाय बताया है उसे शास्त्रीय परिभाषा में क्या कहते हैं?

उत्तर—परमार्थ (सत्यार्थ, भूतार्थ निश्चयनय) के ग्रहण से वह अज्ञानांधकार दूर हो जाता है यों शास्त्र परिभाषा में कहा जाता है।

प्रश्न—इस संबंध में कोई शास्त्राधार हो तो बतलाइये?

उत्तर—श्री समयसार गाथा ११ टीका, भावार्थ तथा कलश ५५ उस का अर्थ, भावार्थ और संजीवनी नामक प्रकाशित पुस्तक इस विषय का आधार है।

प्रश्न-आप यह क्यों कहते हैं कि इस महा अहंकारको दूर करने के लिये अनंत पुरुपार्थ चाहिये।

उत्तर—"जीव परका कुछ नहीं कर सकता" यह सर्व प्रथम सुनते ही जीव भौंचक्का सा रह जाता है और "यह मेरे लिये नहीं, अभी नहीं, यह तो ऊंची दशावालों के लिये और केवली के लिये हैं।" इत्यादि विपरीत कल्पना करके उसकी ओर रुचि नहीं करता किन्तु अरुचि करता है इसलिये उसे दूर करने के लिये अनंत पुरुपार्थकी आवश्यकता है यों कहा गया है।

जीवने अनादिकाल से ऐसा भ्रम ग्रहण कर रखा है कि "पर द्रव्यों को और उसके भावोंको [अवस्थाको] मैं कर सकता हूं" और वह स्वयं अज्ञानी हो रहा है। श्रीगुरु परभाव का विवेक (भेदज्ञान) करके उसे बारंबार कहते हैं कि—"तू आत्म स्वरूप है, तू परका कुछ नहीं कर सकता इसलिये जल्दी जाग, सावधान हो जा"।

उकताये विना यह जीव इस कथन को बारम्बार सुने और उसकी भलीभांति परीक्षा करके सच्चा ज्ञान प्राप्त करे तो अज्ञान दूर हो जाता है इसलिये इसे समझने के लिये अनंत पुरुपार्थ की आवश्यकता है यह सिद्ध होता है। जो ऐसा पुरुपार्थ करता है वह जान सकता है कि जीव पुद्गल कर्म का कर्ता नहीं हो सकता, फिर भी अज्ञानी वैसा मानता है यह बताने के लिये शास्त्र में जीव को असद्भूत व्यवहारनय से कर्मका कर्ता कहा है। किन्तु सद्भूत व्यवहार नय से यह जीव अपने शुद्ध भावोंका ही कर्ता है।

केवली के अंतरपट का रहस्य : शुद्ध कारण पर्याय अथवा ध्रुव पर्याय

(१) 'द्रव्य का जो वर्तमान है सो पर्याय है' जैसे द्रव्य अनादि अनंत है वैसे ही द्रव्य का वर्तमान भी अनादि अनंत एकरूप प्रवर्त रहा है। कोई वस्तु विना 'वर्तमान' के नहीं होती और वस्तु का वर्तमान अधूरा नहीं होता। इसलिये जैसे द्रव्य पूरा है वैसे वर्तमान पर्याय भी पूर्ण है। द्रव्य ध्रुव है तो वैसे द्रव्य का वर्तमान भी ध्रुव है। उसमें उत्पाद, व्यय या परिणमन नहीं है। परिणमन न होने पर भी वह 'द्रव्य की पर्याय' है। उसे किसी की अपेक्षा नहीं होती।

इसके अतिरिक्त जो अपेक्षा वाली पर्याय है वह परिणमन (उत्पाद, व्यय) सहित है। सिद्धपर्याय भी उत्पाद व्यय सहित है, उसमें भी कर्म के अभाव की अपेक्षा होती है इसलिये वह 'अपेक्षित पर्याय' है और जो पहले कही गई है वह द्रव्य की पर्याय तो निरपेक्ष है और अनादि अनंत एकरूप है। शुद्धपर्याय अनादि अनंत नहीं है, द्रव्य तो सदा पूरी अवस्था से ही भरा हुआ है। जहां अधूरी पर्याय कही जाती है वहां परकी अपेक्षा होती है।

यह बात बहुत गंभीर है, इसके लिये अंतर से बहुत बहुत मनन होना चाहिये। अंतर अनुभव का विषय है।

(२) जैसे आकाश, धर्मास्तिकाय आदि द्रव्यो में नित्य, शुद्ध और परकी अपेक्षा से रहित जैसा शुद्ध द्रव्य है वैसी ही शुद्ध निरपेक्ष पर्याय भी वर्तमान है। उसी प्रकार जीव द्रव्य में भी निरपेक्ष और सदा शुद्ध ऐसी पर्याय वर्तमान है। यद्यपि उसे परिणमन कहा जाता है किन्तु (उत्पाद व्ययरूप) परिणमन वास्तव में नहीं है। जैसा द्रव्यका ध्रुव है वैसी ही पर्याय भी ध्रुव है। यदि ध्रुव पर्याय में परिणमन होता हो तो उसका अनुभव प्रगट होना चाहिये।

शुद्ध कारण पर्याय अथवा ध्रुव पर्याय

और फिर त्रैकालिक शुद्ध द्रव्य जब कि सामान्य है तब सामान्य का विशेष भी होना ही चाहिये। त्रैकालिक द्रव्य का विशेष द्रव्य का वर्तमान है। द्रव्य का वर्तमान ही ध्रुव पर्याय है। सामान्य और विशेष मिलकर समस्त द्रव्य होता है।

द्रव्य दृष्टि में पर्याय को गौण करने की बात आती है वह पर्याय उत्पाद व्ययवाली, परकी अपेक्षा वाली पर्याय है। ध्रुव पर्याय तो द्रव्य के साथ त्रिकाल बनी रहती है। द्रव्य का वर्तमान अलग नहीं होता, इसलिये ध्रुव पर्याय गौण करने की बात नहीं है।

(३) पारिणामिक भाव द्रव्य, गुण, पर्याय तीनों को लेकर पूर्ण है इसलिये पर्याय का परिणमन भले कहलाये किन्तु वह ध्रुवरूप है प्रगट रूप नहीं।

द्रव्यार्थिकनय का विषय मात्र पारिणामिक है। यदि निरपेक्ष पर्याय न हो तो वह वस्तु काहे की। जैसे सामान्य है वैसे उसका 'वर्तमान'— 'वर्तमान' सो विशेष है। द्रव्यका वर्तमान ध्रुव है।

पारिणामिक भाव अनित्य (पर्याय) से पकड़ा जाता है किन्तु पारिणामिक स्वयं नित्य है। पारिणामिक का प्रगट अनुभव नहीं होता, उस पर लक्ष्य नहीं जाता। समयसारकी ३२० वीं गाथा में पारिणामिकको 'अक्रिय' कहा है। अर्थात् बंध मोक्ष सक्रिय हैं उससे रहित अक्रिय हैं।

पारिणामिक द्रव्यार्थिकनय का विषय है और अपेक्षित पर्याय पर्यार्थिकनय का विषय है यह दोनों मिलकर प्रमाण हैं।

(४) वस्तु और वस्तु के अनंत गुण त्रिकाल एकरूप हैं तथा गुण के आधार से जो पर्याय है वह भी त्रिकाल एकरूप है। जैसे द्रव्य और गुण ध्रुवरूप है वैसे ही यदि ध्रुवरूप पर्याय न हो तो द्रव्य गुण पूर्ण और पर्याय अधूरी रह जाती है। उसमें वस्तुकी ही पूर्णता नहीं होती, इसलिये वह ध्रुवरूप पर्याय है तो अवश्य किन्तु अब यदि वह ध्रुवरूप पर्याय उत्पाद रूप (प्रगटरूप) हो तो वह पर्याय त्रिकाल है इसलिये मोक्ष भी त्रिकाल होना चाहिये और ऐसा होने पर संसारका अभाव हो जायगा। इसलिये वह ध्रुवरूप पर्याय है किन्तु वह उत्पाद रूप अर्थात् प्रगट रूप नहीं है।

अहा! वस्तु! वस्तु तो एक समय में अनंत गुणों से परिपूर्ण है। वह ज्ञान उपयोग से परिपूर्ण है, दर्शन उपयोग से परिपूर्ण है, स्वरूप चारित्र से परिपूर्ण है और सहज स्वाभाविक आनंद से परिपूर्ण है ही।

वस्तु और गुण सामान्य हैं तो उसका विशेष भी होना ही चाहिये और वह विशेष ध्रुव पर्याय है। विशेष सामान्य में से है निमित्तकी अपेक्षा से नहीं। निरपेक्ष पर्यायको सिद्ध न किया जाय तो वस्तु परिपूर्ण सिद्ध नहीं होती और यदि अपेक्षित पर्याय को नहीं मानेंगे तो संसार मोक्ष सिद्ध नहीं होंगे।

(५) चैतन्य समुद्र में आनंदकी पर्याय 'डूबी हुई प्रगट ही' पड़ी है इसलिये जब उस पर्याय का लक्ष्य करना चाहे तब हो सकता है अर्थात् कारण पर्याय तो त्रिकाल पड़ी ही है। जब कार्यको प्रगटाना चाहे तब प्रगट हो सकता है। (कारण पर्याय, ध्रुव पर्याय, निरपेक्ष पर्याय और द्रव्यका वर्तमान यह सब शब्द एकार्थवाचक हैं.)

(६) वस्तु स्वरूप परमात्मा है। स्वरूप करना नहीं होता केवलज्ञान इत्यादि जो पर्याय हैं सो कार्य है वह कारण में से प्रगट होता है। केवल अथवा मोक्षको करना सो स्वरूप नहीं है, स्वरूप तो त्रिकाल है। सम्यग्दर्शन का विषय केवल या मोक्ष नहीं किन्तु स्वरूप है।

कारण कार्य भी व्यवहार का विषय है, सम्यग्दर्शनका विषय नहीं। मात्र स्वरूप ही सम्यग्दर्शनका विषय है। भूतार्थ दृष्टि में (सम्यग्दृष्टि में) एक ही प्रकार है, वस्तु स्वरूप ही ऐसा है।

स्व....रू....प

'धर्म' यह वस्तु बहुत गुप्त रही है वह बाह्य संशोधन से नहीं मिलेगी। अपूर्व अंतर संशोधन से यह प्राप्त होती है।

स्वरूप का त्याग करने के लिये तो कभी कोई मूर्ख भी नहीं चाहेगा और जहां केवल स्वरूप स्थिति है वहां तो फिर दूसरा कुछ रहा ही नहीं।

(श्रीमद् राजचंद्र)

श्री षट्खंडागम की जय हो।

[लेखक—श्री रामजीभाई माणेकचंद दोशी]

सोरठ देशमें गिरनार पर्वत की चंद्रगुफा में एक महामुनि श्री धरसेनाचार्य ध्यान करते थे। वे अंगों और पूर्वों के एक देश ज्ञाता थे तथा वे विद्वान् और श्रुतवत्सल थे

उनको ऐसा भय पैदा हुआ कि अब अंग श्रुत विच्छेद हो जायंगे इसलिये उनने महिमा नाम के नगरमें धर्मोत्सव इत्यादि के लिये एकत्रित हुये दक्षिण देश निवासी आचार्यों को एक पत्र लिख भेजा। उस पत्रमें लिखे हुये धरसेनाचार्य के वचनों को भलीभांति समझकर उन आचार्योंने दो साधुओं को आंध्रदेश की वेणा नदी के तट से भेजा। वे साधु शास्त्र के अर्थ को ग्रहण और धारण करने में समर्थ थे। अनेक प्रकार की अचल और निर्मल विनय से विभूषित थे। शील रूपी माला के धारक थे। गुरु की प्रेषण आज्ञा से तृप्त थे; देश, काल और जाति से शुद्ध थे, समस्त कलाओं में पारंगत थे और उनने आचार्यों से तीनवार आज्ञा प्राप्त करली थी।

इन दो साधुओं को मार्ग में आते समय कुंद के पुष्प चंद्रमा और शंख के समान धवल और समस्त लक्षणों से परिपूर्ण धरसेनाचार्य की तीनवार प्रदक्षिणा देकर और नम्रता धारण करके आचार्य चरण में नत ऐसे दो बैलों को भट्टारक धरसेनने रात्रि के पिछले भाग में स्वप्न में देखा। इस प्रकार के स्वप्न को देखकर संतुष्ट होकर धरसेनाचार्य बोले कि श्रुतदेवता की जय हो।

उसी दिन दक्षिण देश से भेजे गये वे दोनों साधु धरसेनाचार्य के पास पहुंचे। उनने धरसेनाचार्य की पाद वंदना आदि कृति-कर्म किया। दो दिन के बाद तीसरे दिन उन साधुओंने धरसेनाचार्य से निवेदन किया कि वे दोनों आपके पादमूल में क्यों उपस्थित हुये हैं। दोनों साधुओं के निवेदन कर देने के बाद भट्टारक धरसेन ने उन दोनों को आश्वासन देते हुये कहा कि 'कल्याणमस्तु'।

उसके बाद धरसेनाचार्य ने परीक्षा लेने का विचार किया, क्योंकि भलीभांति लीगई परीक्षा हृदयमें संतोष उत्पन्न करती है। इसके बाद धरसेनाचार्य ने उन दोनों साधुओं को विद्यायें दीं। उनमें से एक अधिक अक्षर वाली थी और एक कम अक्षर वाली थी। आचार्य महाराज ने वे दो विद्यायें देकर उन साधुओं से कहा कि आपलोग दो दिनका उपवास कर इन्हें सिद्ध करें।

जब उन दोनों साधुओंको विद्या सिद्ध हो गई तब उनने विद्या की अधिष्टात देवियों को देखा। उनमें से एक देवी के दांत बाहर निकले हुये थे और एक कानी थी। उन दोनों साधुओं ने विचार किया कि देवताओं का स्वभाव विकृतांग होना नहीं है इसलिये मंत्र संबंधी व्याकरण शास्त्रमें कुशल वे दोनों साधु कम अक्षर वाली विद्यामें अधिक अक्षर मिलाकर तथा अधिक विद्या वाली में से अक्षर निकाल कर मंत्र को शुद्ध रीति से पढ़कर पुनः विद्या सिद्ध करने में लग गये। इसलिये वे दोनों विद्या देवियां अपने स्वभाव और सुंदररूप में उन्हें दिखाई दीं।

उसके बाद भगवान धरसेनाचार्य के समक्ष उन दोनों ने योग्य विनय के साथ विद्या सिद्धि के संबंधमें समस्त वृत्तांत निवेदन किया। उससे संतुष्ट होकर धरसेनाचार्य ने शुभ तिथि, शुभ नक्षत्र और शुभ दिन में ग्रंथ (श्रुत) पढ़ाना प्रारंभ किया। इस प्रकार क्रमशः व्याख्यान करते हुये भगवान धरसेनने उन दोनों को आषाढ़ शुक्ला ११ के दिन पूरा ग्रंथ सिखा दिया।

विनय पूर्वक ग्रंथकी शिक्षा समाप्त हो गई इसलिये संतुष्ट हुये भूत जाति के व्यंतर देवोंने उन दोनों में एक की पुष्पों से तथा शंख और तूर्य जाति के वादों के नाद से बहुत भारी पूजा की। यह देखकर धरसेनाचार्य ने उनका नाम 'भूतबलि' रखा। तथा दूसरे मुनि की उन भूत देवों ने पूजा की और उनके अस्तव्यस्त दांतों को एकसा-सुंदर बना दिया। इसलिये धरसेनाचार्य ने उनका नाम 'पुष्पदंत' रख दिया। उसके बाद उन्हें वहां से जाने के लिये कहा गया, तब उनने यह विचार करके कि " गुरु की आज्ञा अलंघनीय होती है " अंकलेश्वर में जाकर वहां वर्षाकाल शुरु किया।

चातुर्मास पूर्ण करके आचार्य पुष्पदंत जिनपालित के साथ वनवास-देशमें गये और भूतबलि आचार्य द्रमिल

देशमें गये। उसके बाद आचार्य पुष्पदंत ने जिनपालित को दिक्षा दी और फिर बीस प्ररूपणा गर्भित सत् प्ररूपणा के सूत्रों को बनाकर और उन्हें जिनपालित को पढ़ाकर भूतबलि आचार्य के पास भेजा। आचार्य भूतबलि ने जिनपालित के पास बीस प्ररूपणांतगति सत्प्ररूपणा के सूत्रों को देखा और जिनपालित से यह ज्ञान किया कि पुष्पदंत आचार्य की आयु अल्प रह गई है। इसलिये उन्हें यह चिंता हुई कि महाकर्म प्रकृतिप्राभृत का विच्छेद हो जायगा, अतः उनने द्रव्य प्रमाण अनुगम से प्रारंभ करके ग्रंथ रचना को पूर्ण किया। इस प्रकार पट्खंडागम के कर्ता श्री भूतबलि तथा पुष्पदंत आचार्य हैं।

इस प्रकार पट् खंडागमकी रचना शास्त्रारूढ़ करके ज्येष्ठ शुक्ला ५ के दिन उन शास्त्रोंको उपकरण मानकर चतुर्विध संघ के साथ भूतबलि आचार्यने श्रुतज्ञानकी पूजाकी। तभी से जैनों में आज तक श्रुतपंचमी तिथिकी प्रसिद्धि चली आ रही है और इस दिन जैन लोग श्रुत-पूजा करते हैं। श्री इंद्रनंदिने श्रुतावतार में इस तिथि के संबंध में इस प्रकार कहा है कि:—

ज्येष्ठ सितपक्ष पंचम्यां चातुर्वर्ण्य संघ समवेतः।
तत्पुस्तकोपकरणै र्व्यधात् क्रियापूर्वकं पूजाम् ॥१४३॥
श्रुतपंचमीति तेन प्रख्याति तिथिरियं परामाप।
अद्यापि येन तस्मात् श्रुतपूजां कुर्वते जैनाः ॥१४४॥

अर्थ:—ज्येष्ठ शुक्ला पंचमीको चातुर्वर्ण्य संघ के साथ उस ग्रंथको उपकरण मानकर क्रियापूर्वक पूजा की, इसलिये वह तिथि श्रुतपंचमी के रूप में भलीभांति प्रख्यात हुई है और इसलिये आज भी जैनलोग उस दिन श्रुतपूजा करते हैं।

इस के बाद भूतबलि आचार्यने उन षट्खंडागम ग्रंथोंको जिनपालित के द्वारा पुष्पदंत आचार्य के पास भेजा। वे उन्हें देखकर अपने चिंतित कार्यको सफल हुआ जानकर अत्यंत प्रसन्न हुये और उनने चातुर्वर्ण्य संघ के साथ सिद्धांतकी पूजा की।

इस शास्त्रकी रचना लगभग विक्रमकी पहली शताब्दि में हुई थी इसलिये यह शास्त्र बहुत प्राचीन है। इस शास्त्र के भाव बहुत गंभीर हैं, इसलिये उन्हें अधिक स्पष्ट करने के लिये श्री वीरसेनाचार्यने 'श्री धवला' नाम की टीका बनाई थी। वह टीका ७२००० श्लोक प्रमाण है। इसलिये अनुमान किया जाता है कि प्रति वर्ष ३००० श्लोकों के हिसाब से २४ वर्ष लगे होंगे। उसकी समाप्ति संवत् ८७१ (शक ७३८) के कार्तिक शुक्ला त्रयोदशी ईस्वी सन् ८१६ की आठवीं अक्टूबर बुधवार के दिन प्रातःकाल में हुई थी।

इस टीका के साथ मूल आगम ग्रंथ ताड़ पत्र पर लिखा हुआ मूड़बिद्री में सुरक्षित है। भक्तजन वहां जाकर मात्र उसग्रंथ के दर्शन ही कर सकते थे। सौभाग्य से अब वह मूल आगम टीका और हिन्दी अनुवाद के साथ मुद्रित हो रहा है और उसके सात भाग प्रगट भी हो चुके हैं।

उपर्युक्त कारणसे ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी (श्रुतपंचमी) का दिन मुमुक्षु जीवोंके लिये महा मांगलिक दिन है। इसलिये उस दिन भक्तिभाव से श्रुत पूजा करके श्रुतज्ञान की रुचि बढ़ाकर धर्म की वृद्धि करना चाहिये। 卐

निःशंकता

जिसका वीर्य भव के अंतकी निःसंदेह श्रद्धा में प्रवर्तित नहीं होता और अभी भी भवकी शंका में प्रवर्तमान है उसके वीर्य में अनंतोंभव करनेकी सामर्थ्य मौजूद है।

भगवानने कहा है कि—'तेरे स्वभाव में भव नहीं है' यदि तुझे भवकी शंका हो गई तो तूने भगवानकी वाणीको अथवा अपने भव रहित स्वभावको माना ही नहीं है। जिसका वीर्य अभी भवरहित स्वभावकी निःसंदेह श्रद्धा में प्रवर्तित नहीं हो सकता जिसके अभी यह शंका मौजुद है कि मैं भव्य हूं या अभव्य हूं उसका वीर्य वीतराग की वाणी को कैसे निर्णय कर सकेगा और वीतरागकी वाणी के निर्णय के बिना उसे अपने स्वभाव की पहचान कैसे होगी। इसलिये पहले भव रहित स्वभावकी निःशंकता को लाओ।

❖ दृष्टिभेद ❖

सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि दोनों बाह्य में समान क्रियाएं करते हैं। दान भक्ति आदि एकसे करते हैं। दोनों के शुभभाव है किन्तु आंतरिक दृष्टि में अंतर होने से दोनों के भिन्न भिन्न प्रकार का पुण्य बंध होता है। मिथ्यात्वी के भीतर पुण्य की रुचि और कर्ता पन है, इसलिये उसके पापानुबंधी पुण्य का बंध होता है और सम्यग्दृष्टि के भीतर पुण्य का नकार मौजूद है, उसके शुद्धभाव का ही लक्ष्य है इसलिये ऐसा उत्कृष्ट पुण्यबंध होता है कि जिसके फल में सत्स्वरूप समझने का उत्कृष्ट निमित्त मिलता है। इस प्रकार क्रिया के समान होने पर भी दृष्टिभेद से फल में भी भेद हो जाता है।

मिच्छामि दुक्कडं

(" मिच्छामि दुक्कडं " क्या है यह जाने विना यह जीव अनेकबार यह पाठ पढ़ चुका है कि " अंध बनकर अज्ञान से किया जो अतिशय क्रोध, सो सब मिच्छामि दुक्कडं " किन्तु अब मात्र एक ही बार यथार्थ ' दुक्कडं ' को जानकर सम्यग्दर्शन प्राप्त करके परम पद पाना शेष है, लेकिन वह यथार्थ ' दुक्कडं ' कब समझा जायगा ?)

-: लेखक श्री रामजीभाई माणेकचंद दोशी :-

(१) मिच्छामि दुक्क. मागधी भाषा का पद है उसे संस्कृत में ' मिथ्या मे दुष्कृतं ' (भवतु) कहते हैं। इसका अर्थ यह है कि मेरे दुष्कृत मिथ्या हो जायें।

(२) तब पहले यह समझना चाहिये कि ' दुष्कृत ' क्या है ? सब से बड़ा पाप है मिथ्यात्व और इसलिये वह बहुत बड़ा ' दुष्कृत ' है। जीव जिस कुल में जन्म लेता है उस कुल में बहुधा कोई न कोई धर्म माना जाता है। कुल धर्मकी उस मान्यता को घर में पुष्टि मिलती है। बड़ा होने पर धर्मस्थानक में (धर्मस्थलोंमें) जाने पर उस मान्यताको विशेष पुष्टि मिलती है और जब काम धंधे में लग जाता है तब उसे यह विचार करने का भी समय नहीं मिलता कि कुलधर्मकी मान्यता का यथार्थ स्वरूप क्या है ? इसलिये वह यह मानकर कि अपने घर के बड़े लोग और सगे सम्बंधी तथा समाज के अन्य लोग जो धर्म क्रियाएं करते हैं और उन्हें देखादेखी में भी करता हूं वही धर्म होना चाहिये और यही मानकर वह अपने जीवनको चलाया करता है। 'आत्मा का स्वभाव' धर्म है यह सुनने का अवसर तो उसे बहुधा मिलता ही नहीं है। इस प्रकार वह अपने स्वभाव के घोर अज्ञानको पुष्ट किया करता है यह घोर अज्ञान पहले नंबर का दुष्कृत है। इसलिये वह अज्ञान दूर करके अपने यथार्थ स्वरूपको जाननेकी आवश्यकता है उसे जाने बिना सच्चा सुख प्रगट नहीं हो सकता और यथार्थ 'मिच्छामि दुक्कडं' नहीं हो सकता।

(३) यथार्थ मिच्छामि दुक्कडं क्या है ? यह जानने के लिये एक पाठ नीचे दिया जाता है।

"अंध बनी अज्ञानथी कर्यो अतिशय क्रोध, ते सवि मिच्छामि दुक्कडं."

अर्थात् अंध बन करके अज्ञान से अतिशय क्रोध किया वह सब 'मिच्छामि दुक्कडं'।

इस प्रकार के पाठको बहुत से लोग बोला करते हैं और पढ़ा करते हैं किन्तु उसका यथार्थ अर्थ समझ कर वास्तविक 'मिच्छामि दुक्कडं' नहीं करते। इसलिये इस संबंध में यहां कुछ लिखना आवश्यक है।

(४) ऊपरकी पंक्ति में यह कहा गया है कि अज्ञान से अंध बना लेकिन अज्ञानको दूर करने के लिये यह जीव परिश्रम न करे और उक्त पंक्तिको बोला करे तो उससे न तो अज्ञान दूर होगा और न मिच्छामि दुक्कडं ही होगा। जिसके परिणाम स्वरूप यह जीव अज्ञान से अंध बना रहता है।

स्वयं आधुनिक शिक्षा प्राप्त की हो और अच्छी सामाजिक प्रतिष्ठा भी प्राप्त करली हो वह यह नहीं मानता कि मैं अज्ञानी हूं, प्रत्युत अपने को अधिक सयाना मानता है। ऐसी स्थिति में उसका अज्ञान कहां से दूर होगा। जीव के यथार्थ स्वरूप के समझे बिना (चाहे जितनी लौकिक शिक्षा प्राप्त की हो तो भी) यह जीव अंशमात्र को भी सुखी नहीं रह सकता और समय समय पर अनंत दुख को भोगता है। बाह्य अनुकूलताओं को पाकर स्वयं निजको सुखी भली माने किन्तु उससे कहीं सच्चा सुख नहीं मिल जाता। क्यों कि आत्मस्वरूप को नहीं जाननेरूप 'अज्ञान' तो मौजूद ही है और वही दुष्कृत है।

(५) ' कर्यो अतिशय क्रोध ' इस पदमें गंभीर मर्म छुपा हुआ है। आत्मस्वरूप की अरुचि ही जीवका ' अतिशय क्रोध ' है। जब तक जीव उसे दूर नहीं कर देता तबतक वह सुखी नहीं होता और उसके यथार्थ मिच्छामि दुक्कडं नहीं हो सकता।

(६) परका मैं कर सकता हूं, पर मेरा कर सकता है, पुण्य से धर्म होता है, पुण्य धर्म में सहायक होता है इस प्रकार की मान्यता संसार का बीज है जबतक इस 'दुष्कृत' के प्रति हेय बुद्धि नहीं होती तबतक पर के प्रति का जो ममत्व है वह अभिप्राय में से नहीं छूट सकता इसलिये दुष्कृत को मिथ्या करने के लिये आत्मा के सच्चे स्वरूप को स्वयं यथार्थ रीत्या जानना चाहिये।

(७) जब जीव अपने यथार्थ स्वरूप को समझ लेता है तभी उसके सम्यग्दर्शन प्रगट होता है सम्यग्दर्शन को प्रगट करना सो मिथ्यात्व के प्रतिक्रमण की सच्ची क्रिया है। (आत्मा और जीव इन दो शब्दों का एक ही अर्थ है यह जानना चाहिये)

(८) जब सम्यग्दर्शन को प्रगट करता है तभी भूतकाल में किये गये भाव कर्मों के निमित्त से आगत द्रव्य कर्मोंको मिथ्या करनेवाला सच्चा प्रतिक्रमण होता है। सम्यग्दर्शनका प्रगट होना सो मिथ्यादर्शन का प्रतिक्रमण है। सम्यग्दर्शनको प्रगट करके आत्म स्वरूप में लीन होकर चैतन्य स्वरूप आत्मा के अनुभव में स्थिर होना सो मिथ्याचारित्र का प्रतिक्रमण है। यह यथार्थ प्रतिक्रमण वास्तविक 'मिच्छामि दुक्कडं' है। वह धर्म का यथार्थ अंग है यों समझना चाहिये।

(९) प्रश्न-सम्यग्दर्शन होने पर पूर्वकृत दुष्कृत मिथ्या कैसे हो जाते हैं?

उत्तर-'मिथ्या' कहने का प्रयोजन यह है कि जैसे किसीने पहले धन कमाकर घर में रखा था उसके बाद उसने धनका ममत्व छोड़ दिया इसलिये उसके धनको भोगने का अभिप्राय नहीं रहा, ऐसी स्थिति में उसने भूतकाल में जो धन कमाया था वह नहीं कमाये हुये के ही समान है इसी प्रकार जीवने पहले कर्मबंध किया था उसके बाद जब उसने उसे अहित रूप जानकर उसके प्रतिका ममत्व छोड़ दिया और वह उसके फल में लीन न हुआ। तब भूतकाल में बांधा हुआ कर्म नहीं बांधे हुये के समान मिथ्या ही है, इस भाव से पहले का दुष्कृत मिथ्या हो सकता है और इसी भावको सच्चा 'मिच्छामि दुक्कडं' कहा गया है।

(१०) प्रश्न—सम्यग्दर्शनको सर्व प्रथम क्यों प्राप्त करना चाहिये? हमें तो सम्यग्दर्शनको प्राप्त करना ही कठिन मालूम होता है। यदि हम व्रत पालन करें, जप करें, तप करें, और घरबार छोड़कर चारित्र ग्रहण करें तो क्या धर्म नहीं होगा।

उत्तर—रत्नत्रय में सम्यग्दर्शन ही मुख्य है। सम्यग्दर्शन के होने पर ही सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र हो सकता है, सम्यग्दर्शन के बिना नहीं। सम्यग्दर्शन के बिना सारा ज्ञान मिथ्याज्ञान है और सारा चारित्र मिथ्याचारित्र है। सम्यग्दर्शन के बिना व्रत, तप, जप आदि भी सब व्यर्थ है इसलिये मनुष्य जन्मको पा कर सर्व प्रथम सम्यग्दर्शन धारण करना चाहिये।

(देखो प्रबोधसार श्रावकाचार पृष्ठ ९)

(११) प्रश्न—तत्त्व निर्णय रूप धर्म के लिये कौन योग्य है?

उत्तर—तत्त्व निर्णय रूप धर्म तो बाल, वृद्ध, रोगी निरोगी, धनवान-निर्धन, सुक्षेत्री तथा कुक्षेत्री इत्यादि सभी अवस्थाओं में प्राप्त होने योग्य है। जो पुरुष आत्म हितैषी है उसे तो सर्व प्रथम यह तत्त्व निर्णय रूप कार्य ही करना चाहिये।

इसलिये जिसे सच्चा धर्म होना हो उसे ज्ञानी के और शास्त्र के आश्रय से तत्त्व निर्णय करना चाहिये। किन्तु जो तत्त्व निर्णय तो नहीं करता और पूजा स्तोत्र, दर्शन, त्याग, तप, वैराग्य, संयम, संतोष आदि सभी कार्य करता है उसके यह समस्त कार्य असत्य हैं। इसलिये आगमका सेवन, युक्तिका अवलंबन, परंपरा से गुरुओंका उपदेश और स्वानुभव के द्वारा तत्त्व निर्णय करना योग्य है। ★

—(शेष पृष्ठ २ से आगे)—

का भी लोप हो जायगा, इसलिये जीव के आत्मज्ञान और शरीरकी क्रिया से मोक्षका मानना भ्रम मात्र है।

(२) जीव में न तो पुद्गल व्याप्त हो सकता है और न पुद्गल में जीव ही व्याप्त हो सकता है तब जो अपने में व्याप्त हैं और जीव में व्याप्त नहीं हैं ऐसे अनंत पुद्गल अपनी क्रिया से आत्माको किस प्रकार मोक्ष ले जायेंगे? यह स्पष्ट है कि वे नहीं ले जा सकेंगे।

(३) यदि जीव और शरीर दोनों मिलकर मोक्ष का कार्य करें तो जीव और शरीर दोनोंको मोक्ष क्षेत्र में जाना चाहिये किन्तु ऐसा नहीं होता, मात्र जीव ही अकेला मोक्ष में जाता है। श्रीमद् राजचन्द्र आत्मसिद्धि में कहते हैं कि—

(गुजराती)

एज धर्मथीं मोक्ष छे तू छो मोक्ष स्वरूप।
अनंत दर्शन ज्ञान तू अव्याबाध स्वरूप ॥११६॥

(हिन्दी)

इसी धर्म से मोक्ष है तू है मोक्ष स्वरूप।
अनंत दर्शन ज्ञान तू अव्याबाध स्वरूप ॥

यहां पर अकेले ही जीवको मोक्ष स्वरूप कहा है, जीव और शरीरको मोक्ष स्वरूप नहीं कहा।

(४) एक द्रव्य की जो पर्याय है उसे द्रव्य स्वयं ही करता है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ नहीं कर सकता। प्रत्येक द्रव्य अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल भाव में अस्ति रूप है और पर द्रव्य, क्षेत्र, काल भाव में नास्ति रूप है। शरीर अनंत द्रव्य है, उसका प्रत्येक परमाणु भी अपने अपने स्व द्रव्य क्षेत्र काल भाव में अस्ति रूप है और शरीर के अन्य परमाणु के द्रव्य क्षेत्र

ATMADHARMA
With the permisson of the Baroda Govt. order No 30-24 date 31-10-44
Regd. No. B. 4875

परम पूज्य श्री कानजी स्वामी की अमृत वाणी

१-कर्म जड़ है, आत्मा चेतन है, दोनों वस्तुएँ भिन्न हैं। कर्म आत्मा एक क्षेत्र में एकत्रित होने पर भी कर्म आत्मा को या आत्मा कर्म को-कोई एक दूसरे को गति नहीं कराते। किन्तु दोनों अपने अपने स्वतंत्र उपादान कारण से जाते हैं।

२-शुभभाव उस समय मात्र के लिये अशुभभाव को दूर कर सकता है किन्तु वह जन्म मरण को दूर नहीं कर सकता।

३-निमित्त का अर्थ है मात्र व्यवहार अर्थात् असत् (जैसे मार्जार को चीता कहना अर्थात् उपचार मात्र)।

४-आत्मा का स्वभाव शुद्ध ज्ञानमय ही फिर है भी अनादि कालसे अज्ञानरूप अशुद्ध मानता आया है लेकिन स्वरूप तो त्रैकालिक, शांत, अविकारी शुद्ध ही है। अवस्था मात्र को लेकर जितना विकार करता है उतना (अवस्था में) अशुद्ध है। आत्मा में विकार करने की योग्यता है किन्तु वह स्वभाव नहीं है। यदि उस योग्यता को बदल डाले तो अविकारी स्वरूप ही है। वह जिस स्वरूप में है उसने अपने को उसरूप में निजको नहीं देखा और पर रूप मानता रहा यही विकार है। माननेवाला यदि विपरीत मान्यता को बदल डाले तो शुद्ध अविकारी ही है।

५-आत्मा यदि एकबार पर्याय से शुद्ध होजाय तो फिर कभी अशुद्धता नहीं हो सकती, इससे दो बातें निश्चित होती हैं कि आत्मा स्वभाव से अनादि अनंत शुद्ध है किन्तु पर्याय दृष्टि से अनादि से अशुद्ध है और वह अशुद्धता दूर हो सकती है।

६-चौथा काल हो या पंचम काल, महाविदेह में हो अथवा भरत में या अन्यत्र, किन्तु सत्य को समझने के लिये तेरे पुरुषार्थ की आवश्यकता तो सर्वप्रथम ही होगी।

७-दृष्टि में ही संसार है और दृष्टि में ही मोक्ष। दृष्टि की भूल में संसार है और भूल दूर होजाने पर मोक्ष। अखंड, चिदानंद, एकरूप, ध्रुव स्वभाव पर जो दृष्टि है सो वही सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र की निर्मल दशा का कारण है।

८-वस्तु की पर्याय क्रमबद्ध होती है ऐसा निश्चय होनेपर "मेरी पर्याय मुझमें से ही क्रम-बद्ध प्रगट होती है" ऐसी श्रद्धा हुई और इसलिये अपनी पर्याय के लिये किसी पर की ओर देखना नहीं रहा अर्थात् स्व द्रव्य पर ही दृष्टि जाने पर अल्प कालमें पूर्ण निर्मल पर्याय प्रगट हो ही जायगी।

९-अरे मूर्ख! क्षणिक देह के लिये अविनाशी आत्मा को मतभूल! तुझमें भिन्नता का यहांतक भान होना चाहिये कि "यदि देह का पतन कल होता हो तो भले ही आज होजाय, देह मेरा स्वरूप है ही नहीं, मैं तो अशरीरी सिद्ध स्वरूप हूं।"

काल और भाव में नास्ति रूप है। अर्थात् एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ नहीं कर सकता, इसलिये यह मानना बिल्कुल गलत है कि जीव के ज्ञान और शरीर की क्रिया से मोक्ष होता है।

यथार्थ अर्थ और व्याकरण के साथ उसकी संगति

जीवमें जब सम्यग्ज्ञान होता है तब तत्काल ही संपूर्ण वीतरागता प्रगट नहीं होती। सम्यक् ज्ञान कभी लब्धिरूप और कभी उपयोग रूप होता है। इसलिये ज्ञान सम्यक् भले हो किंतु यदि पूर्ण वीतरागता प्रगट न हुई तो तबतक मोक्ष नहीं होता। वीतरागता जीवन की शुद्ध क्रिया है उसे चारित्र की पूर्णता कहते हैं, उसीको ज्ञान की स्थिरता भी कहते हैं, इसलिये उक्त सूत्र का अर्थ निम्न प्रकार होता है:-

(१) सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्रकी पूर्णता से जीवको मोक्ष होता है।

(२) जीवको सम्यक्ज्ञान और उस सम्यक्ज्ञानकी ज्ञान में पूर्ण स्थिरता रूप क्रिया होने से मोक्ष होता है।

(३) जीवको सम्यक्ज्ञान और पूर्ण वीतरागरूप अपनी पर्याय (क्रिया, परिणमन) से मोक्ष होता है।

(४) वहां जीव के दो गुणोंकी पूर्णता आती है इसलिये व्याकरणकी दृष्टि से उसमें द्विवचन सूचक 'भ्याम्' शब्द यथार्थ प्रयुक्त हुआ है।

(५) जहां सम्यक्ज्ञान होता है वहां सम्यग्दर्शन होता है इसलिये उक्त सूत्रका यह अर्थ भी होता है कि- "सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः।"

मुद्रक: चुनीलाल माणेकचंद रवाणी, शिष्ट साहित्य मुद्रणालय, दासकुंज, मोटा आंकडिया-ता. १५-६-४६
प्रकाशक: जमनादास माणेकचंद रवाणी, आत्मधर्म कार्यालय, मोटा आंकडिया, काठियावाड

धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है।

शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिक पत्र

:संपादक:
रामजी माणेकचंद दोशी
वकील

वर्ष : २
अंक : २

ज्येष्ठ
२४७२

अवस्थाकी दृष्टि से भूमिका के अनुसार रहनेवाला

निमित्त नैमित्तिक संबंध

दृष्टि निमित्त को स्वीकार नहीं करती, अपने में होनेवाले रागद्वेष को स्वीकार नहीं करती। इतना ही नहीं किन्तु अपने में होनेवाली निर्मल पर्यायको भी स्वीकार नहीं करती। दृष्टि का विषय अभेद, अखंड और एक आत्मा है, उसमें जो भेद पड़ता है वह भेद दृष्टि का विषय नहीं होता किन्तु अवस्था का (पर्यायार्थिकनय का) विषय होता है अर्थात् दृष्टि में रागद्वेष है ही नहीं। वह ज्ञान में ज्ञेय है और चारित्र की अपेक्षा से विष है। दृष्टिकी अपेक्षा से ज्ञानीको जो रागद्वेष होता है वह निर्जरा के अर्थ है। जितनी जितनी निर्मल पर्याय ज्ञानी के बढ़ती है उतने उतने प्रमाण में नैमित्तिक भाव और पर निमित्त छूटते जाते हैं ऐसा निमित्त-नैमित्तिक भाव का संबंध है।

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

१४

एक अंक
पांच आना

आत्मधर्म कार्यालय—मोटा आंकड़िया—काठियावाड

संसार परिभ्रमण का दुःख दूर करके वास्तविक सुख प्राप्त करने का उपाय
सम्यक्‌दर्शन

"सभी जीव सुख चाहते हैं" जो काम करना चाहते हैं, वह सर्व सुख प्राप्त करने की इच्छा से ही करते हैं। प्रत्येक क्रिया से वे सुख प्राप्त करना चाहते हैं। दूसरे को मारते हैं वह भी सुख के लिये; पर वस्तुकी चोरी करते हैं वह भी सुख के लिये, झूठ बोलते हैं सो भी सुख के लिये और धन-दौलत का परिग्रह करते हैं सो भी सुख के लिये। इस प्रकार अनेकविध पाप करके भी अज्ञानी जीव सुख प्राप्त करना चाहते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि सुख तो सभी को प्यारा हैं; किन्तु सुख के सच्चे उपायकी अनादिकाल से खबर नहीं है। सब लोग धर्म सुनने को किसलिये एकत्रित होते हैं? सभी सुख की इच्छासे ही आते हैं। जीवने अनंत काल में तत्त्व का यथार्थ निर्णय नहीं किया। यदि तत्त्व निर्णय होजाय तो उसमें रमणता का भाव हुये बिना न रहे और यदि तत्त्व में रमणता हो जाय तो वह दुःख हो ही नहीं।

किसीसे यह पूछने की आवश्यकता नहीं है कि प्रत्येक जीव को सुख प्रिय होता है। प्राणी प्रत्येक कार्य में सुख के लिये ही दौड़ता है। स्वर्ग के देव या नरक के नारकी, तिर्यंच या मनुष्य, त्यागी या गृहस्थ यह सब सुख के लिये ही आतुर रहते हैं। किन्तु यह सुख कैसे मिलता हैं, क्या यह सुख बाहर से पैसा इत्यादि में से आता होगा? नहीं, नहीं! वह सुख रागद्वेष रूप भावकर्म के नाश करने पर प्रगट होता है, भावकर्म के नाश कर देने पर आठों प्रकार के द्रव्य कर्म का नाश हो जाता है। और सब कर्मों का नाश होने पर स्वतंत्र सुख प्रगट होता है।

सुख बाहर से नहीं आता किन्तु भीतर से ही प्रगट होता है। बाहर सुख है कहां? क्या शरीर पिंड में सुख है, पैसे में सुख है, स्त्री में सुख है, सुख है कहां? बाह्य में तो धूल-जड़ दिखाई देती है। क्या जड़में आत्मा का सुख हो सकता है? कदापि नहीं हो सकता। किन्तु अज्ञानी जीवने परवस्तुओं में सुख की मिथ्या कल्पना कर रखी है। यद्यपि परवस्तु में सुख नहीं है, कभी परवस्तु में सुख देखा भी नहीं गया, फिर भी मूढ़ता के कारण वैसी कल्पना करली है। अयथार्थ को यथार्थ मानलेने से परिभ्रमण का दुःख दूर नहीं हो जाता। अज्ञानी को सुख स्वभाव की खबर नहीं है, इसलिये वह स्वभाव से विरुद्ध भाव कर रहा है और इसीलिये आठ कर्मों का बंध होता है, तथा आकुलताका भोग किया करता है। यदि वह स्वभाव का भान करले और स्वभाव से विरुद्ध जो रागद्वेष के भाव हैं उनका नाश करे तो सब कर्म दूर होजाय और दुःख मिटकर सुख होजाय।

\+ × +

यदि कोई कहे कि चारित्र क्या है? तो उसके लिये कहते हैं कि चारित्र बाह्य वस्तु में नहीं है, उपकरण या वस्त्रादि में नहीं है; किन्तु आत्मा अनंतगुणोंका पिण्ड है, उसका ज्ञान प्राप्त करके उसमें स्थिर होजाना सो वही चारित्र है। वह चारित्र तो मुनिदशा में होता है। पहले अतिचार रहित आत्मा की श्रद्धा करने के बाद ही स्वरूप रमणतारूप चारित्र होता है। आत्मा अनंतगुणोंका निर्मल पिंड है। उसकी श्रद्धा और एकाग्रता के बल से क्षणिक विकार का नाश होता है। किन्तु विकार मेरा है, इसप्रकार विकार की श्रद्धा से विकार का नाश नहीं होता। विकार का नाश करने के लिये बल कहां से आयेगा? वह बल परवस्तु में से नहीं आता, विकार में से नहीं आता, और निर्मल अवस्थामें से भी नहीं आता। किन्तु दर्शन, ज्ञान, आनंद इत्यादि अनंतगुणों से अभेद स्वरूप जो वस्तु है– (जिसमें न तो पर है न विकार है और न वर्तमान अवस्था मात्र ही है ऐसी वस्तु) उसमें से बल मिलता है। उस वस्तु की जो श्रद्धा है वह सम्यक्‌दर्शन है।

यदि कोई पूछे कि सम्यक्‌दर्शन में ऐसी क्या बात है कि सब से पहले उसीकी बात कही जाती है तो उसका समाधान करते हुये बताते हैं कि सम्यक्‌दर्शनका विषय संपूर्ण वस्तु है और उस वस्तु के बल पर ही चारित्र प्रगट होता है और रागद्वेषका नाश होता है इसलिये पहले सम्यक्‌दर्शनकी बात कही गई है।

[मुक्तिका मार्ग में से]

मनियार्डर कहाँ भेजेंगे?

आत्मधर्म का मूल्य इस पते पर भेजने की कृपा करें। मनियार्डर–फोर्ममें आपका ग्राहक नंबर अवश्य लिखें।

व्यवस्थापक
आत्मधर्म कार्यालय, मोटाआंकडिया (काठियावाड)

स्मरण रहे कि पोष्टल गाइडमें यहां का नाम *akadia mota* छपा हुआ है। — व्यवस्थापक

: वर्ष २ : १४ : ज्येष्ठ :
: अंक २ : : २४७२ :

卐 विना इकाई के विन्दी 卐

●

भगवान आत्मा देह, मन, वाणी की क्रिया से रहित चिदानंद परका अकर्ता है, पुण्य-पाप उसका स्वरूप नहीं है, ऐसे आत्मा के भान के विना जो व्यवहार धर्म क्रिया में-शुभ क्रिया में लीन है वह भगवान का शत्रु है, शुभोपयोगी मिथ्यादृष्टि है। उसके परिणाम में वर्तमान शुभ भाव है किन्तु शुभभाव करते करते मिथ्यादृष्टिपना तीनकालमें भी नहीं टल सकता। प्रत्युत शुभ करते करते उसे लाभकारक मानने से मिथ्यात्व की पुष्टि होती है। शुभभाव राग है, राग करते करते अरागी स्वभाव को दृष्टि तीनकाल में प्रगट नहीं होती। पुण्य करते करते न तो धर्म होता है और न सम्यक्त्व ही प्रगट होता है इस बात का गले उतरना मुश्किल है किन्तु जिन्हें जन्म मरण का अंत करना है उन्हें इसबात को गले उतारे विना दूसरा कोई चारा नहीं है।

जो जीव भगवान के द्वारा कथित आत्मस्वरूपकी पहिचान नहीं करता और यह निर्णय नहीं करता कि मेरा स्वभाव निःशंक भव भाव रहित और भव रहित है तबतक वह यदि देव, शास्त्र, गुरु की भक्ति, तप, व्रत, दान इत्यादि सब कुछ करता रहे तो भी उसमें पुण्य है धर्म नहीं है। जो भगवान के द्वारा कहे गये परिपूर्ण स्वभाव की श्रद्धा नहीं करता वह मिथ्यादृष्टि अधर्मी है।

तत्त्व निर्णय के विना त्याग किसका करेगा। जो समझने लायक है उसे समझता नहीं है और त्याग-वैराग्य में लगकर भी आत्मभान के विना त्यागी हो जाता है किन्तु इसमें भी धर्म नहीं है और वैराग्य (मंदराग) भी वस्तु का स्वरूप नहीं है। वैराग्य तो पुण्यभाव है, उसमें धर्म नहीं है। संयम का पालन करे, परिग्रह को कम करे, एक बार रसोई बनाकर उसे दो बार के लिये चलाये, इसमें वह मान बैठा है कि प्रवृत्ति कम होगई और अमुक रकम से अधिक न रखकर उसमें संतोष मानलेता है, किन्तु आत्मभान के विना वीतराग की तराजूमें उसके त्याग और संतोष इत्यादिक की धर्म में कोई गिनती नहीं है। वीतराग मार्ग के निर्णय के विना धर्म हो ही नहीं सकता। आत्मा के निर्णय के विना व्रत, तप, भक्ति, पूजा इत्यादि समस्त कार्य असत् है।

कुछलोग कहते हैं कि अरेरे! हमारा सब गलत है? किन्तु यहतो विपरीत मान्यता के ऊपर भयंकर प्रहार हैं। जगत इतनी सी क्रिया करके समझता है कि अब तो मोक्ष हो ही जायगा, किन्तु आचार्य कहते हैं कि सम्यग्दर्शन के विना यह सब असत् है। आत्माको समझे विना व्रत, तप इत्यादिक करना विना इकाई के विन्दी के समान है।

× × (मुक्ति का मार्ग में से) × ×

निश्चय से शुभभाव भी विष हैं वह आत्मा के गुण को रोक-
-नेवाला है इसलिये आत्मगुण निरोधक भाव को

यहां उत्कृष्ट समाधि मरण की विधि की चर्चा है। नव पदार्थों में सर्वोत्तम वस्तु आत्मा है, उसके निरावलम्बी स्वरूप में स्थिर होजाने पर देह का छूट जाना सो समाधि मरण है।

आध्यात्मिक भाषा की अपेक्षा से अर्थात् अंतर के कथन से 'मैं ध्यान करता हूं, ध्याता हूं या ध्येय का लक्ष्य रखता हूं' ऐसे किसी भी विकल्प से रहित होकर निर्मल स्वभाव का आश्रय लेकर सर्वथा आत्म सम्मुख होकर इंद्रिय और मनसे संपूर्ण अगोचर ऐसा आत्मा का ध्यान करके विभाव और विकल्प से हटकर भीतर स्थिर होजाना सो यही उत्तमार्थ प्रतिक्रमण समझना चाहिये।

इंद्रिय और मनका जितना अवलंबन होता है उतना ही आत्मधर्म नहीं होता। इंद्रिय और मन के अवलम्बन से जितना जाना जाता है वह सब पर जाना जाता है अर्थात् जो कार्य होता है वह सब विकार है। इंद्रिय और मन के अवलंबन से जितनी मुक्ति होती है, उतना धर्म है इंद्रिय और मन वे अपने कारण से होता है किन्तु आत्माको समझने के लिये तीनकाल और तीनलोक में उसका अवलंबन नहीं होता, यह त्रैकालिक सिद्धांत है।

देव, गुरु और शास्त्र यह सब पर है उनके बोध पर लक्ष्य का जाना वह सब राग है। क्योंकि उसमें इंद्रिय और मनका अवलंबन आते है। आत्मावबोध परावलंबन रहित स्वाश्रय से होता है। जितना स्वाश्रय है उतना ही धर्म है।

निश्चय-उत्तमार्थ प्रतिक्रमण तो निज आत्मा के ही आश्रय से होता है। इंद्रिय और मन के होने के साथ उसका कोई संबंध नहीं है। केवली के भी इन्द्रिय और मन होता है किन्तु वहां उसका अवलम्बन नहीं है। इंद्रिय और मनकी ओर लक्ष्य करके जो भाव होता है वह सब विष है। शुभभाव भी विष है। परसे भिन्न आत्मस्वभाव का जितना निश्चय किया उतना धर्म है। पृथक्त्व की प्रतीति से ही पृथक्त्व का प्रारंभ होता है। एकत्रित मानने पर पृथक्त्व का प्रारंभ नहीं होता।

यदि लोग कहें कि 'यह तो व्याकुलता में डाल देनेवाली बात हुई' तो यह बात ही गलत है। यदि सच्ची व्याकुलता हो तो समझ का मार्ग लिये बिना न रहे। सच तो यह हैं कि वास्तविक व्याकुलता होती ही नहीं हैं। यदि सच्ची व्याकुलता हो तो यथार्थ उपाय के द्वारा मार्ग निकाले बिना न रहे।

जो निमित्त की ओर उन्मुखता है सो वह सब राग है। सम्यक् मति या सम्यक् श्रुतज्ञान भी इंद्रिय या मन पर अवलंबित नहीं है वह आत्मा के ही आश्रय पर है।

निश्चय उत्तमार्थ प्रतिक्रमण आत्मा के ही आधार पर है वह निश्चय धर्मध्यान तथा शुक्ल ध्यानमय है इसलिये आत्मा अमृत कुंभ है, अमृत से भरा हुआ सुंदर कलश है, इंद्रियों तथा मन से परे है। जितना इंद्रिय और मन के अवलंबन से पर की ओर लक्ष्य जाता है वह सब विष है। आत्म प्रतीति के बाद भी पर द्रव्य के आश्रय से जितना भाव होता है वह सब विष है। वह आत्मा के अमृत कुंभ को रोकने वाला है।

ज्ञानी के राग विकल्प होता है फिर भी 'राग मेरा स्वरूप नहीं है, मन का अवलंबन नहीं है, विकल्प नहीं है, मैं तो स्वरूप शुद्ध पवित्र हूं' ऐसी जो निश्चय की प्रतीति है सो अमृत है। तथा ज्ञानी का व्यवहारु प्रतिक्रमण भी विष है। अंतर स्वरूप में दृष्टि के होने पर भी जितना अवलंबन पराश्रय पर आधार रखता है वह सब राग है-विष है।

आत्मा पर से निराला 'सहजानंद सहज स्वरूप' है ऐसी प्रतीति होने के बाद जब स्थिर नहीं हो सकता तब बीच में जो व्यवहार प्रतिक्रमण आता है वह सब ज़हर से भरा हुआ विषकुंभ है, वह अमृत स्वरूप में से हटकर होता है। जहां ज्ञानी के व्यवहार प्रतिक्रमण को भी विष कहा है वहां अज्ञानी का व्यवहाराभास प्रतिक्रमण तो विष होता ही है, इसमें क्या कहना?

आत्माकी प्रतीति के बाद स्थिर होने से पूर्व जो बीचमें शुभभाव आता है वह भी विष है। उन सब से रहित आत्म स्वरूप में स्थिरता का होना सो अमृत है। यहां शुभभावको भी विष कहा है इसका यह अर्थ नहीं है कि अज्ञानी को शुभभाव छोड़कर अशुभ में जाना चाहिये

भला मानना महा पाप है

किन्तु शुभभावमें धर्म मानने का ही यहां निषेध किया है। ज्ञानी के भी शुभभाव होता है किन्तु उससे धर्म नहीं होता, वह विष है। आत्मा त्रिकाल सहज अतीन्द्रिय आनंद की मूर्ति है। उसका ज्ञान में सम्यक्त्वी ज्ञानी के चौथे, पांचवें, छट्ठे गुणस्थान में जो शुभ विचार आते हैं वह सब विष है। 'विपरीत श्रद्धा का त्याग करूं—कुदेवादि की ओर जो लक्ष्य है उसे त्याग दूं और सच्चे देव गुरु की श्रद्धा करूं' यह सब विकल्प भी विष है। श्री समयसार जी में कहा है किः—

"पडिकमणं पडिसरणं पडिहारो
धारणा णिवत्ती य ॥
णिंदा गरहा सोही अट्ठविहो
होइ विसकुंभो" ॥ ३०६

प्रतिक्रमण, प्रतिसरण, परिहार, धारणा, निवृत्ति, निंदा, गर्हा और शुद्धि यह आठों प्रकार विष हैं।

(१) प्रतिक्रमण—अशुभ से छूटकर शुभ में आना।

(२) प्रतिसरण—सम्यक्त्वादि गुणों में प्रेरणा होना। मिथ्या श्रद्धा को छोड़ दूं और सम्यक् श्रद्धा करूं ऐसी भावना का होना।

(३) परिहार—मिथ्यात्वादि दोषों के निवारण करनेका विकल्प।

(४) धारणा—नमस्कार मंत्रो की जाप, प्रतिमा इत्यादि बाह्य द्रव्यों के निमित्त से चित्त की स्थिरता करने का विकल्प।

(५) निवृत्ति—विषय कषायादि की इच्छा में प्रवर्तमान मनको खींचलूं, ऐसा विकल्प।

(६) निंदा—आत्मसाक्षी पूर्वक दोष को प्रगट करूं, दोष की निंदा करूं, ऐसा भाव।

(७) गर्हा—गुरु साक्षी पूर्वक दोष को प्रगट करूं ऐसा भाव।

(८) शुद्धि—जो दोष हुये हों उनका प्रायश्चित्त लेकर शुद्धि करूं ऐसा भाव।

उपर्युक्त आठों ही प्रकार विष हैं ज्ञानी की अंतरदृष्टि में समस्त राग का निषेध करके बीच में (अस्थिरतामें) जो शुभ विकल्प आ जाता है वह विष है।

प्रश्न—प्रारंभ में तो शुभभाव से लाभ होता है न!

उत्तर—शुभभाव से आत्मा को लाभ हो ही नहीं सकता। पहले से ही शुभभाव विष है।

महाव्रत पालने का विकल्प सहित समस्त शुभभाव तीनलोक के तीर्थंकर देव से लेकर समस्त ज्ञानियों के भी विष हैं। अज्ञानी की तो यहां बात ही नहीं है। प्रारंभ में भी शुभभाव सहायक होते हैं ऐसा मानने वाला महा पापी है। श्री योगसार में कहा है किः—

पुण्य पुण्य को सब कहें,
पाप कहें सो पाप।
पंडित अनुभवि जन सहु
कहें पुण्य भाव भी पाप॥

अर्थ—पुण्य को पुण्य तो सभी कहते हैं और पाप को सब पाप कहते हैं किन्तु ज्ञानी निश्चय से शुभभाव को भी पाप कहते हैं। शुभभाव से आत्मा को परंपरा से लाभ होता है इस प्रकार की मान्यता निश्चय से निगोद गति का कारण है।

प्रश्न—शास्त्रोंमें सम्यग्दृष्टि के शुभभाव को परंपरा से धर्मका कारण कहा है न?

उत्तर—वहां इस अपेक्षा से कथन है कि आत्माके अंतर स्वरूप की प्रतीति में ज्ञानी के समस्त शुभाशुभ का निषेध पाया जाता है, वहांपर वर्तमान अस्थिरता के कारण अशुभ को छेदने के लिये शुभराग आता है. किन्तु दृष्टि में उसका निषेध पाया जाता है। इसलिये अल्प कालमें स्थिरता के द्वारा वह शुभ को छेदकर वीतराग होजाने वाला है इस अपेक्षा से शुभको परंपरा से धर्म का कारण कहा है। 'परंपरा' का अर्थ है 'उसका क्रम-क्रमसे छेद करके।' सम्यक्त्वी के शुभभाव के कर्तृत्व की बुद्धि नहीं है फिर भी वह बीच में आती है सो वह अस्थिरता है, इसलिये वह विष है। वह शुभ को स्थिरता के द्वारा छेद करेगा तब शुभका अभाव स्थिरता में कारण रूप होगा। जहां शुभ को परंपरा से कारण कहा गया हो वहां ऊपर के अनुसार समझना चाहिये।

निश्चय से शुभभाव भी विष है वह आत्मा के गुण रोकने वाला है। जो आत्मा के गुण को रोकता है उसभाव को अच्छा मानना सो महापाप है। बीच में जो शुभ या अशुभ भाव आते हैं उन दोनों का ज्ञानीयों के निषेध पाया जाता है जो शुभ भाव को अपना कर्तृत्व मानता है—सहायक मानता है उसे महापापी कहा है। तब फिर जो अशुभ भाव को करने योग्य मानता है उसकी तो बात ही कहां रही।

शुभाशुभ समस्त भाव बंध के ही कारण हैं। समयसारजी (कलश १८९) में कहा है कि—

यत्र प्रतिक्रमण मेव विषं प्रणीतं
तत्रा प्रतिक्रमणमेव सुधा कुतः स्यात्।
तत् किं प्रमाद्यति जनः प्रपतन्न धोऽधः
किं नोर्ध्वमूर्ध्वमधिरोहति निष्प्रमादः ॥

यहांपर निश्चय नय से शुभभाव को विष कहा है, इसलिये यदि कोइ अज्ञानी विपरीत समझकर शुभ को छोड़कर अशुभ में प्रवृत्ति करे तो ऐसे अज्ञानी को समझाने के लिये आचार्य देव कहते हैं कि—ज्ञानी के अंतर में स्वरूप का भान है किन्तु वह अभी स्थिर नहीं रह सकता तब वह शुभ भाव में प्रवृत्ति करता है उस शुभभाव को विष कहा है और उस शुभभाव को छोड़कर स्वरूप में स्थिर होने को कहा है। किन्तु शुभभाव को छोड़कर अशुभभाव में जाने के लिये तो व्यवहार में भी नहीं कहा है। जहां पर आत्मा की प्रतीति सहित शुभभाव रूप व्यवहार प्रतिक्रमण को भी विष कहा है वहां जिसके व्यवहार या निश्चय दो में से कोई भी प्रतिक्रमण नहीं है और जो मात्र अशुभ में ही विद्यमान है उसे अमृत कौन कहेगा?

यह आत्मा के घर की बात है, वह अनादि के अपरिचय के कारण मुश्किल मालूम होती है किन्तु वास्तव में मुश्किल नहीं है। जैसे नट को थाली में शीर्षासन लगाकर डोरी पर चलना सरल है—उसे अनुभव के कारण वह काम तनिक भी मुश्किल नहीं मालूम होता किन्तु दूसरों को वह काम मुश्किल मालूम होता है उसी प्रकार आत्मा का धर्म भी सहज है किन्तु अनादि कालसे उसका परिचय नहीं है इसलिये मुश्किल मालूम होता है किन्तु यदि परिचय करे तो सहज है, मुश्किल नहीं है।

आत्म स्वभाव को पहिचानने के बाद उसमें स्थिर नहीं हो सकता उस समय के शुभभाव को विष कहा है। यहां पर शुभभाव को विष कहा है इसलिये इसका अर्थ यह नहीं करना चाहिये कि शुभ को छोड़कर अशुभ करने के लिये कहा गया है। क्योंकि शुभ और अशुभ दोनों विष हैं। आत्मस्वरूप ही अमृत है इसलिये शुभ को छोड़कर स्वरूप में स्थिर होजाने के लिये कहा है।

श्री समयसार कलश १८९ में श्री अमृतचंद्राचार्य देव, आश्चर्य से कहते हैं कि:—

निश्चय व्यवहार का स्वरूप
—संक्षिप्त अर्थ—

निश्चय—स्वाधीनभाव।
व्यवहार—पराधीनभाव।

मुमुक्षुओं विचार करो कि पराधीनभाव आत्मा को लाभ करता है या पराधीनभाव टूटे तथा स्वाधीनभाव प्रगट हो तो वह आत्मा के लिये लाभ कारक है।

उत्तर—स्वाधीनभाव।

अरे! स्वरूप की स्थिरता कराने के लिये हम शुभ छोड़ने को कहते हैं और इसप्रकार हम इस प्राणी को आगे ही आगे ले जाना चाहते हैं। उसकी जगह यह प्राणी (अज्ञानी जीव) प्रमादी होकर नीचे ही नीचे क्यों गिरता जा रहा है?

'शुभभाव से धर्म नहीं होता' 'यह कह कर धर्म के स्वरूप की पहिचान कराई गई है कि शुभभाव में धर्म की मान्यता को छोड़दे किन्तु यहां यह नहीं कहा गया है कि 'शुभभाव को छोड़कर अशुभ कर।' निर्मल पर्याय अंतर से प्रगट होती है, बाहर के आश्रय से नहीं आती। समस्त शुभभाव परके आश्रय से होता है उसमें धर्म नहीं है।

हम यह नहीं कहते कि 'शुभ से धर्म नहीं होता इसलिये अशुभ कर' फिर भी यदि कोई उल्टा मान कर अशुभ में प्रवृत्ति करे तो वह उसके लिये स्वतंत्र है। अनंतकालमें दुर्लभ इस मानव देहको पाकर भी यदि नहीं समझ सका तो कब समझेगा? इसको समझे बिना जन्म-मरणका अंत नहीं हो सकता—धर्म नहीं पा सकता। भले शुभभाव करे किन्तु ऐसे शुभभाव तो अनंतवार कर चुका है और इस जीवने ऐसे ऊंचे शुभभाव किये हैं कि जिनके फल स्वरूप अनंतवार नवमी ग्रैवेयक तक होआया है। वर्तमान में ऐसे ऊंचे शुभभाव भरतक्षेत्रमें तो कोई कर नहीं सकता। ऐसे सब शुभभाव किये, फिर भी आत्मप्रतीति के बिना जन्म मरण दूर नहीं हुआ, क्योंकि धर्म का और पुण्य का मार्ग अलग अलग हैं।

आचार्यदेव कहते हैं कि:-हमने स्वरूप में स्थिरता कराने के लिये शुभ को छोड़ने का उपदेश किया है तब

फिर व्यवहार प्रतिक्रमणको छोड़कर स्वरूप में स्थिरता क्यों नहीं करते? शुभ करते करते शुध्ध हो जानेकी बात तीन लोक और तीन काल में नहीं हुई किन्तु शुभ का अभाव करने पर शुध्ध होता है। यहां अशुभकी तो बात ही नहीं हैं।

यहां तो जन्म मरणका अंत करनेकी अपेक्षा से बात है। यहां धर्म बतलाना है, उसमें शुभ या अशुभ दोनों विष हैं। 'वीतरागदेव के द्वारा कहा गया व्यवहार का मार्ग नौ*प्रकारसे मैंने कभी किया ही नहीं है।' जब ऐसी भावना करता है तबभी विकल्प तो होता ही है, फिर भी दृष्टि में निषेध विद्यमान है।

जब धर्मकी बात की जाती है तब शुभ और अशुभ दोनोंको छोड़ने के लिये कहा जाता है और जब किसीको मात्र अशुभ से छुड़ाने की बात कही जाती है तब कहा जाता है कि भाई, इस पाप भावको छोड़कर शुभभावको कर, इस से तुझे लाभ होगा। वहां पर शुभ से वास्तव में तो लाभ नहीं है किन्तु पहले उसे अशुभ से छुड़ा कर शुभ करने के लिये कहा जाता है। मात्र अशुभ का त्याग करने के लिये शुभ भाव व्यवहार से उपादेय है और क्योंकि व्यवहार से उपादेय है इस-लिये निश्चय से (वास्तव में) उपादेय नहीं है। जो अशुभ में प्रवर्तमान है उसे सर्व प्रथम अशुभ से छुड़ाकर उसके बाद शुभ और अशुभ दोनों से छुड़ाया जाता है। अशुभ से छूट कर शुभ करने में कोई बड़ा पुरुषार्थ नहीं है। अशुभको छोड़कर शुभ के फल में-स्वर्ग में यह जीव अनंतवार हो आया है। नर्क के भवोंकी अपेक्षा स्वर्ग के भवोंको यह जीव अनंतवार ग्रहण कर चुका है। यहां पर धर्मकी बात में शुभ और अशुभ दोनों को छोडने के लिये कहा गया है। शुभ के छोडने में अनंत पुरुषार्थ है।

नियमसारकी ५० वीं गाथा की टीका में कहा गया है कि—मोक्षमार्ग—सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रकी कितनी निर्मल पर्याय है वह भी व्यवहार से आदरणीय हैं। निश्चय से तो शुध्ध स्वरूप ही आदरणीय है। मोक्षमार्ग व्यवहार से आदरणीय है, अर्थात् निश्चय से आदरणीय नहीं है।

अब तो सब स्पष्ट प्रगट हो चुका है, कुछ भी अप्रगट नहीं रखा है। त्रिकाल सत्य बात चौड़े में रख दी गई हैं। मार्ग बिल्कुल सीधा और सरल हैं। सम्यक्त्व से लेकर केवल-ज्ञान तक बीच में कहीं कोई कठिनाई नहीं है, सरल मार्ग है। यह ऐसा निश्चय मार्ग है कि जहां संसार और आत्माका भेद बिल्कुल स्पष्ट दिखाई देता है। टीकाकार कहते हैं कि:—

आत्मध्यानाद परमखिलं घोर संसार मूलं
ध्यानध्येय प्रमुख सुतपः कल्पना मात्र रम्यम्।
बुद्धाधीमान् सहज परमानंद पीयूष पूरे
निर्मज्जन्तं सहज परमात्मानमेकं प्रपेदे॥

आत्माके ध्यान के सिवाय अन्य समस्त ध्यान घोर-भयंकर संसार के कारण हैं। ध्यान-ध्येय इत्यादि का विकल्प रूप तप अर्थात् 'मैं ध्यान करता हूं मैं पूर्ण शुद्ध स्वरूप हूं' सभी विकल्प कथन मात्र के लिये सुंदर हैं। वास्तव में उनमें कोई यथार्थता नहीं है आत्मा के आनंद स्वरूप का स्वाश्रय व्यवहारनय का समस्त विषय व्रत, तप, नियम के समस्त विकल्प कल्पना मात्र-रम्य (सुंदर) हैं। निश्चय से उनमें कोई लाभ नहीं, व्यवहार से लाभ है यों कहा जाता है किन्तु व्यवहार दृष्टि ही मिथ्यादृष्टि है और निश्चय दृष्टि ही सच्ची दृष्टि है। भंग-भेद सब व्यवहार है उसमें लाभ मानना सो अज्ञान है। सच्ची समझ ही धर्म है। यदि बीच में कोई गड़बड़ कर दी तो कहीं भी उद्धार का अवसर नहीं है।

टीकाकारकी भाषा कड़ी है, निःसंकोच स्पष्ट कह दिया है।

यह समझ कर बुद्धिमान पुरुष स्वाभाविक परम आनंद रूपी अमृत से भरे हुये समुद्र में डूबे हुये परम उत्कृष्ट एकरूप सहज स्वाभाविक आत्मा का अनुभव करते हैं।

* नौ प्रकार निम्नलिखित हैं:—

(१) शुभभाव मनसे किये नहीं (२) कराये नहीं (३) अनुमोदे नहीं (४) वचन से किये नहीं (५) कराये नहीं (६) अनुमोदे नहीं (७) कायसे किये नहीं (८) कराये नहीं (९) अनुमोदे नहीं।

निश्चय व्यवहारका स्वरूप
— संक्षिप्त अर्थ —

निश्चय—स्वावलंबी भाव।
व्यवहार—परावलंबी भाव।

मुमुक्षुओ विचार करो कि दो में से कौनसाभाव आत्मा के सुख का कारण हो सकता है। इसका एक ही उत्तर हो सकता है कि परावलंबी भाव से आत्मा का लाभ नहीं हो सकता और स्वावलंबी भाव से आत्मा को सुख हुये बिना नहीं रह सकता।

सहज—सहज शब्द का प्रयोग तो हजारों बार किया है किन्तु वह किसी हठ से नहीं लेकिन वह स्वरूप से ही सहज है। सहज कहने का अर्थ यह नहीं है कि उसमें पुरुषार्थ नहीं है किन्तु पुरुषार्थ में सहज है। वह हठ से नहीं होता, इस अर्थ में आचार्य ने सहज शब्दका प्रयोग बारम्बार किया है।

सच्चा ज्ञान आकुल नहीं होने देता, वह समाधान कर देता है। राग के समय, राग के निमित्त होते तो हैं किन्तु राग के कारण न तो निमित्त आते हैं और न निमित्त के कारण राग होता है। सम्यग्दृष्टि के पूर्ण वीतरागता होने पर बीचमें शुभ राग आता तो है किन्तु उससे जो धर्म मानता है वह मिथ्यादृष्टि है। व्रत, तप, सब राग है वह अस्थिरता है। अस्थिरता सुंदर नहीं होती।

जब तक यथार्थ श्रद्धा से यह बात नहीं समझी जाती तब तक जन्म मरण का अंत नहीं होता, इतना ही नहीं किन्तु वर्तमान में भी उसके समाधि मरण नहीं होता। जिसे यथार्थ प्रतीति होती है उसे मरण के समय स्वरूपकी रमणता में 'पंडित मरण' होता ही है। जब मरण का अवसर आता है तब ज्ञानी स्वभाव की शांति का श्वास लेते हैं और शरीर छूट जाता है। भले ही बाहर से राग प्रतीत हो किन्तु वह भीतर स्वरूपकी स्थिरता से चलायमान नहीं होता और जब अज्ञानी के मरण का अवसर आता है तब वह देह का लक्ष्य करके रो रो कर मरता है। ज्ञानी के स्वरूपकी भावना के पक्व होते होते जहां विकल्प छूट जाता है वहां शरीर छूट जाता है। यहांपर निर्विकल्प दशा से युक्त पंडित मरणकी बात है। इसलिये छट्ठे गुणस्थान में विकल्प सहित दशा में शरीर भले ही न छूटे किन्तु सातवें गुणस्थान में निर्विकल्प दशा में स्थिर होने पर शरीर छूट जाता है। यहां पर उसी समाधि मरणको लिया गया है, यहां उत्कृष्ट पंडित मरणकी बात कही गई है।

देह के संयोग के साथ ही वियोग निश्चय से है, ऐसी वियोग से पहले प्रतीति होती है। स्वरूपकी स्थिरता में भीतर जहां चैतन्य का गोला अलग हुआ कि वहां शरीर छूट जाता है, यह समाधि मरण है। ध्यान ध्येय का भेद ही नहीं किन्तु पंडितमरण के समय शुभ से छूट कर समस्त विकल्प छूट जाते हैं और भीतर स्थिर हो जाता है यही उत्कृष्ट उत्तमार्थी प्रतिक्रमण है। यहां उत्कृष्टकी ही बात ली गई है, पुरुषार्थकी कमी की बात नहीं ली है। स्वरूप के आनंद में रमण करता हुआ चला जाता है, देहकी खबर भी नहीं है, देहको छोड़ते हुये स्वरूप का अधिक आनंद है, परका लक्ष्य छोड़कर स्वरूप में स्थिर होने के बीज बोये हैं, इसलिये मरण के समय उसके फलस्वरूप स्वरूप के आनंद में रमण करते हुये शरीर छूट जाता है यही उत्कृष्ट पंडित मरण है।

परिभ्रमण का कारण

श्री समयसार गाथा ३९० से ४०४ पर

परम पूज्य श्री कानजी स्वामी का प्रवचन

प्रत्येक पदार्थकी अवस्था होती है वह आत्मा के ज्ञानकी पर्याय से पृथक् ही है।

रस—रस जड़ की अवस्था है, रस जीभका स्पर्श करता है, इसलिये रस का ज्ञान होता है यह बात नहीं है किन्तु उस समय आत्मा के ज्ञान की उस प्रकारकी अवस्था है। रस तो जड़ है, वह कुछ जानता नहीं है और ज्ञान सब जानता है, इसलिये ज्ञान और रस में पृथक्त्व है, यों श्री जिनेन्द्रदेव ने कहा है।

ज्ञान में जैसी जानने की अवस्था हुई उसी प्रकार के रसकी सामग्री उस समय जिव्हाको स्पर्श करती है किन्तु उससे आत्मा का ज्ञान नहीं होता। आत्मा का ज्ञान आत्मा से हुआ है, ज्ञानकी उस समयकी अवस्था हुई है ज्ञान और रस दोनों स्वतंत्र हैं। जीभ और रस दोनों जड़की अवस्था हैं, उनके द्वारा ज्ञान नहीं जानता। ज्ञान का अपने द्वारा ही जानने का स्वभाव है। जब ज्ञान गुण अपने कारण से परिणमता है तब सामने उसी प्रकारकी वस्तु होती है, फिर भी न तो रस के कारण ज्ञान है और न ज्ञान के कारण रस है।

अहा! कितनी स्वतंत्रता है, रसकी अवस्था भिन्न है और आत्मा के ज्ञानकी अवस्था भिन्न है यों जिनेन्द्रदेव ने देखा है। पर के कारण से मेरे ज्ञानकी अवस्था नहीं है। 'स्व' से अवस्था हुई है यह जानकर 'पर' से उदास रहना चाहिये (मात्र ज्ञान करना चाहिये) उसमें अच्छा या बुरापन करने का स्वरूप ज्ञान का नहीं है। आत्मा तो जानता है कुछ करता नहीं है।

अच्छा या बुरा किसे कहा जाय ? परवस्तु में तो यह लिखा नहीं होता कि यह अच्छी है और वह खराब है तथा अच्छा या बुरा करना ज्ञानका स्वभाव नहीं है। परवस्तु में अच्छा या बुरा मान लेना सो संसार है। पर के कारण मुझे ज्ञान हुआ है तथा मेरी अवस्था पराधीन हुई हैं यों मानना ही परिभ्रमण का कारण है।

रस पर है, तेरा स्वभाव तुझमें है, रस में गृद्धि करना सो मूढ़ता है। रस जड़की अवस्था है, वह कुछ जानता नहीं है और ज्ञान सब कुछ जानता है इसलिये ज्ञान और रस पृथक् हैं यह जिनेन्द्रदेवने कहा है।

प्रश्न—क्या ज्ञानी रसको खाते पीते नहीं होंगे ?

उत्तर—ज्ञानी चक्रवर्ती होते हैं किन्तु जब तक राग है तब तक खाते पीते तो हैं किन्तु अंतर में यह प्रतीति होती है कि 'यह राग मेरा स्वरूप नहीं है, मेरा आत्मा पवित्र आनंद मूर्ति है, यह सब संयोग पूर्व के कारण से हैं। अवस्था में जो राग है वह मेरे पुरुषार्थकी वर्तमान अशक्ति है। वह राग अथवा वर्तमान पुरुषार्थ की अशक्ति मेरा स्वरूप नहीं है, पर वस्तु मेरी नहीं है, पर वस्तु से मुझे न तो राग है और न परवस्तु से मेरा ज्ञान ही है और मेरे स्वभाव में आनंदकी कचाई नहीं है।' जब कोई बाहर से त्यागी होकर बैठा होता है किन्तु भीतर से यह मानता है कि 'परवस्तु के कारण राग होता है' और पर के कारण से ज्ञान मानता हो तो वह अज्ञानी है। उसका त्याग सच्चा त्याग नहीं है।

स्पर्श—स्निग्ध और कर्कश इत्यादि सभी स्पर्श जड़-परमाणु की अवस्था हैं। उस स्पर्श के कारण से आत्मा का ज्ञान नहीं होता। ज्ञान तो स्वतंत्र स्वभाव है। उस समय ज्ञान विशेपरूप से परिणमता है स्पर्श जड़ की अवस्था है, मेरे ज्ञान की अवस्था मेरे अंतर से परिणमन करती है। स्पर्श के कारण से मेरे ज्ञान की अवस्था नहीं होती इस प्रकार ज्ञानी को ज्ञान और स्पर्श के पृथक्त्व की प्रतीति है।

कबीर की एक सुप्रसिद्ध घटना है कि एकवार वे घूमने को निकले जब कि लोग सो रहे थे तब उनने कहा कि:—

"सुखी है सब संसार, खा पीकर के सोता है।
दुःखी हैं दास कबीर जब जागे तब रोता है"॥

यह समस्त संसार सुखी मालूम होता है वह खा पीकर के सो रहा है मात्र मैं ही दुःखी हूं क्यों कि मैं जब जाग कर देखता हूं तब मुझे ऐसा लगता है कि मेरा एक एक समय चला जा रहा है, मानों मेरे अनंत जन्म मरण को दूर करने का सुयोग ही चला जा रहा है। मुझे जन्म मरण को दूर करने की चिंता लग रही है और इन लोगों को जन्म मरण को दूर करने की चिंता नहीं है, इसलिये वे सो रहे हैं इस प्रकार कबीर ने वैराग्य पूर्वक कहा है।

गर्मी के दिनों में दो रुपया सेर के आम खाकर और दो मन के रेशमी गद्दे पर स्निग्ध स्पर्श का उपभोग करता हुआ पड़ा है और उसमें शांति मान रहा है किन्तु स्पर्श से आत्मा को शांति और ज्ञान नहीं होता। आत्मा को शांति और ज्ञान भीतरी एकाग्रता से होता है।

वेचारे रेशमी गद्दे को तो खबर ही नहीं है कि स्वयं कौन है और किस अवस्था में है, उसे जानने वाला आत्मा है किन्तु उससे आत्मा का ज्ञान नहीं होता। स्पर्श जड़ है वह कुछ जानता नहीं है और ज्ञान चेतन स्वरूप है, वह सब कुछ जानता है इसलिये स्पर्श और ज्ञान दोनों भिन्न हैं, यों श्री जिनेन्द्रदेवने कहा है॥

कर्म—याद रखो कि कर्म जड़ हैं, उनके कारण से ज्ञानकी अवस्था नहीं है किन्तु उस समयकी स्व पर प्रकाशकत्व की शक्ति में कर्म की अवस्था को जाननेवाले ज्ञान की ही पर्याय विकसित हुई है। कर्म को जानने का ज्ञानका स्वभाव है। कर्म के कारण ज्ञान नहीं जानता ज्ञान तो ज्ञान के कारण जानता है।

ज्ञानावरणीकर्म:—कर्म ज्ञान नहीं है क्योंकि कर्म अचेतन है। कर्म किंचित् मात्र भी नहीं जानता और ज्ञान सब कुछ जानता है। तूने जब ज्ञानमें कर्म का लक्ष्य किया कि—'ज्ञानावरणी कर्म आड़े आता होगा इसलिये ज्ञान नहीं खिलता' तब कहते हैं कि सुन! तेरे ज्ञान की उस समय की अवस्था ही स्व-पर को जानने वाली है, इसलिये वह कर्मको जानता है वहां तेरे ज्ञान की सामर्थ्य है तूने अपने ज्ञान की अवस्था की ओर न देखकर कर्म के ऊपर लक्ष्य किया और अपने ज्ञान की अवस्था की प्रतीति नहीं की यह दृष्टि की ही भूल है।

कोई कहे कि—दबे हुये कर्मों का उदय कौनसा होगा यह कौन जाने? उसके लिये कहते हैं कि—जब तुझे ऊपर का विचार आया तब तेरे ज्ञान में द्विरूपता हुई, एक तो तेरे ज्ञान का ज्ञान और दूसरा कर्म का ज्ञान।

तूने इन दोनों का ज्ञान किया। कर्म तेरे ज्ञान को नहीं रोकता. कर्म तो तेरे ज्ञान का ज्ञेय है। ज्ञेय वस्तु ज्ञानको नहीं रोकता किन्तु वह ज्ञेय है। यदि ज्ञेय वस्तु ज्ञानमें बाधक होने लगे तो केवली को लोकालोक ज्ञेय हैं वह उसके ज्ञानमें बाधक होना चाहिये किन्तु ऐसा नहीं होता क्यों कि ज्ञेय वस्तु ज्ञान में बाधक नहीं है।

जब शरीरमें रोग आता है तब जिसे यह विचार होता है कि 'यह असाता क्यों?' वह अपने ज्ञान की उस समयकी विशेष अवस्था को अस्वीकार करता है। तू तो मात्र ज्ञान करनेवाला है। शरीर में असाता आई है इसे तेरे ज्ञान ने जाना, वहां जानने में असाता कहां बाधक हुई? यह भी सत्य नहीं है कि साता अच्छी होती है और असाता खराब।

आत्मा का स्वभाव है ज्ञान, उसमें जो साता-असाता मालूम होती है वह ज्ञान की उस समयकी सामर्थ्य शक्ति है, उस ज्ञानकी शक्तिकी ओर लक्ष्य न करके जो यह मानता है कि 'परवस्तु ज्ञानमें आई इसलिये मेरा विचार बदल गया' वह ज्ञेय के कारण ज्ञानकी अवस्थाको मानता है अर्थात् ज्ञान और ज्ञेयकी एकताको मानता है यही अधर्म है। और यह मान्यता बदल गई कि मैं तो जानने वाला ही हूं तो यह धर्मका कारण है यहां मात्र मान्यताको ही बदलना है, बाह्य में कुछ करना नहीं है। बारम्बार यही श्रवण, यही मनन और यही श्रद्धा मजबूत होती जानी चाहिये। बारम्बार वस्तुकी स्वाध्याय और ध्यान करनी चाहिये। निरंतर इसी का श्रवण-मनन होना चाहिये।

यदि कोई कहे कि पहले मैंने बहुत क्रोध कषाय की होगी, इसलिये वर्तमान में क्षमा नहीं रह पाती तो उसकी यह बात गलत है। वर्तमान में उसने क्या किया? मात्र कर्म का ज्ञान ही किया है। ज्ञान का स्व-पर प्रकाशक स्वभाव है, ज्ञानकी उस समयकी अवस्था वही याद आये ऐसी थी, तू अपनी उसी अवस्था का ज्ञान कर कर्म तो ज्ञेय है, जड़ हैं। वे कुछ भी नहीं जानते और आत्मा का ज्ञान तो सब कुछ जानता है। भगवान जिनेन्द्रदेव ने कहा है कि-कर्म और आत्मा बिल्कुल भिन्न हैं। ज्ञान और कर्म भिन्न हैं, तू यह ज्ञान क्यों नहीं करता।

नाम कर्मकी यश प्रकृति अथवा अपयश प्रकृति तेरे ज्ञान का ज्ञेय है, तेरे ज्ञान के लिये हानि कर्ता नहीं है।

सातों नरक के समस्त जीवों का शरीर नपुंसक है। पहले इतने जोर से विपरीत वीर्य डाला है कि वीर्य-हीन-नपुंसक हो गये हैं और देवों में किसी के नपुंसकवेद होता ही नहीं है क्योंकि उनमें अशुभ में अल्प वीर्य का संबंध किया है, इसलिये वे नपुंसक नहीं होते. जगतकी व्यवस्था ही ऐसे नियम वाली है।

कर्म और आत्मा त्रिकाल में भिन्न हैं कर्म आत्मा की कोई हानि नहीं करते और आत्माकी सत्ता कर्म पर नहीं चलती मात्र आत्मा तो जानता है। कर्म ज्ञेय है।

शास्त्र में जब कर्म को सिद्ध करना होता है तब यों आता है कि 'ज्ञानावरणी कर्म आत्मा के ज्ञानको रोकता है' यह बात निमित्त से है। श्रीमद् राजचन्द्रजी ने कहा है कि—जब कर्मको सिद्ध करना हो तब एक बार यह निश्चय किया कि अब राग नहीं करना है फिर भी यदि दूसरे क्षण राग आये तो समझना चाहिये कि उस समय आत्मा के पास दूसरी वस्तु है और वह वस्तु है कर्म। वहां यह नहीं कहा है कि कर्मने रागको कराया है किन्तु 'कर्म वस्तु है' यह सिद्ध करने को कहा है।

'राग नहीं करना है' ऐसा निर्णय करने वाला तू है फिर भी राग होता है, वहां पर तेरी अस्थिरता से दूसरी वस्तु पर लक्ष्य करने से तेरे राग होता है। यदि वस्तु न हो तो तेरा लक्ष्य चूककर दूसरी वस्तु पर लक्ष किये बिना राग नहीं हो। अन्य वस्तु राग नहीं कराती।

पंचेन्द्रिय और मनसे होने वाले ज्ञानका विकास कदाचित् कम हो, फिर भी अंतर स्वरूप की श्रद्धा कर। अंतर स्वरूप की श्रद्धा और एकाग्रता करके केवलज्ञान प्रगट हो सकता है। केवलज्ञान होने से पूर्व उन्हें भी (केवली होने वाले को भी) परका बोध (बाहर का ज्ञान) कम होने पर भी अंदर की श्रद्धा, ज्ञान एकाग्रता से केवलज्ञान होता है।

जब जब कर्म याद आये तब तब कर्म पर भार न देकर यह तो मेरे ज्ञानकी अवस्था की शक्ति है इसप्रकार अपने ज्ञान की ओर लक्ष्य कर।

कोई कहता है कि:—शास्त्र में कर्म की स्थिति की बात आती है न? वहांपर तो कर्म की स्थिति यह बताने के लिये कहा है कि 'यदि ऐसा ही भाव रखा करे तो इतने समय तक टिकेगा।' विपरीतभाव तो एक समय मात्र के लिये है। संसार एक ही समयमात्र के लिये है।

'यदि मेरा अनंत संसार होगा तो ? मेरे कर्म की लंबी स्थिति होगी तो ?' इसप्रकार का जो विकल्प आया सो उसमें तेरे ज्ञानमें उस विकल्प का ज्ञान ही हुआ है, वहां ज्ञानमें अनंत संसार आया नहीं है किन्तु अनंत का ज्ञान किया है। अनंत का ज्ञान करने में ज्ञान को अनंतभव नहीं लगते तथा "कर्म स्थिति लंबी होगी तो ?" इसप्रकार कर्म की ओर देखने की अपेक्षा जो तेरी स्थिति अनादि अनंत है उसकी ओर क्यों नहीं देखता। कर्म तो तेरे ज्ञेय है, वे तुझसे भिन्न वस्तु है।

'पृथक्त्वकी श्रद्धा पृथक् होने का (मोक्ष का) उपाय है और पर के साथ जो संयोग बुद्धि है वह संयोग (संसार) का कारण है।'

धर्मद्रव्य—चौदह ब्रह्माण्ड में व्याप्त सर्वज्ञ भगवान के द्वारा देखा हुआ अरूपी अचेतन द्रव्य है, उसमें ज्ञान नहीं है, वह कुछ जानता नहीं है और ज्ञान सब कुछ जानता है। धर्मद्रव्य लक्ष्य में आया इसलिये ज्ञान हुआ ऐसी बात नहीं है किन्तु तेरे ज्ञानकी पर्याय ही ऐसी है कि जो लक्ष्य में ले उसका ज्ञान उस समय तेरे ज्ञान से होता है। तेरे ज्ञानकी पर्याय चेतन है और धर्मास्ति अचेतन है, दोनों अलग हैं यह श्री जिनदेव ने कहा हैं।

सर्वज्ञ भगवान के सिवाय धर्म, अधर्म द्रव्यको कोई प्रत्यक्ष नहीं देख सकता और जैन के अतिरिक्त अन्य कोई इसके संबंध में चर्चा भी नहीं कर सकते (अर्थात् अन्य चार द्रव्यों के संबंध में तो चर्चा करके अनुमान से भी मान लें किन्तु इस धर्मास्ति और अधर्मास्तिकाय की तो चर्चा भी नहीं कर सकते)।

तेरे ज्ञानकी अवस्थाकी शक्ति ही ऐसी है कि उस समय तुझे धर्मास्ति द्रव्य लक्ष्य में आया किन्तु तेरा ज्ञान धर्मास्ति द्रव्य के कारण नहीं हुआ, उस धर्मद्रव्य में ज्ञान नहीं है, वह कुछ जानता भी नहीं है और आत्मा ज्ञान स्वरूप है वह सब कुछ जानता है इसलिये ज्ञान अलग है और धर्मद्रव्य अलग है यों श्री जिनेन्द्रदेव ने कहा है।

अधर्मद्रव्यः—यह भी धर्मास्ति द्रव्य की तरह चौदह ब्रह्माण्ड में व्याप्त, अरूपी अजीव द्रव्य है जिसे सर्वज्ञ भगवान ने देखा है, वह अचेतन है कुछ जानता नहीं है तथा ज्ञान सब जानता है इसलिये जिनदेव कहते हैं कि ज्ञान और अधर्म द्रव्य त्रिकाल भिन्न हैं।

धर्म और अधर्म दोनों वस्तुएं सर्वज्ञ के ज्ञान में त्रैकालिक सिध्ध हो चुकी हैं जब वह तेरे ज्ञानमें आती है तब वह तेरे ज्ञान की ही अवस्था है। धर्म अथवा अधर्म द्रव्य के कारण तेरा ज्ञान नहीं है।

कालद्रव्यः—यह अजीव अरूपी अनंत गुण का पिंड वस्तु है। लोकाकाश के एक एक प्रदेश में एक एक कालाणु स्थित है। वे कालाणु असंख्यात हैं, अचेतन हैं। वे बिल्कुल कुछ नहीं जानते और ज्ञान सब कुछ जानता है इसलिये ज्ञान अलग है और कालद्रव्य अलग है।

कुछलोग यह मानते हैं कि कालस्थिति के पकने पर मोक्ष होता है। कालस्थिति तेरे पुरुषार्थ से पकती है। तू पुरुषार्थ कर तो कालस्थिति पकी ही पड़ी है। जैसे चावल की बोरी भरी रखी हो तब कोई वह नहीं पूछता कि 'यह चावल कब पकेंगे ?' किन्तु पतेली में डालकर चूल्हे पर रखने के बाद ही यह देखा जाता है कि 'अब कितनी देर लगेगी ?' इसी प्रकार आत्मा की स्वभाव की श्रद्धा करे, ज्ञान करे तो उसके बाद स्थिरता करने में कितना समय लगेगा यह देखना होता है किन्तु ज्ञान की स्वसामर्थ्य की प्रतीति तो न करे और कहे काल बाधक हो रहा है यह बात कहां से लाया ? काल आत्मा के स्वभाव में है ही नहीं। काल को याद करने की सामर्थ्य तेरे ज्ञान की है। कालद्रव्य जगत की त्रिकाली अचेतन वस्तु है और आत्मा ज्ञान स्वभावी है। कालद्रव्य से ज्ञान नहीं हुआ, काल और ज्ञान दोनों पृथक् हैं यह श्री जिनेन्द्रदेव ने कहा है।

प्रत्येक वस्तु अपने कारण से बदलती है तब काल तो निमित्त है, मात्र मौजूद है। काल मुझे हानि करता है यों मानने वाला आत्मा के स्व—पर प्रकाशक ज्ञानगुण की प्रतीति नहीं करता। स्वभाव की प्रतीति ही मोक्ष है और स्वभाव को पराधीन मानना ही संसार है।

'मेरा कितना काल बाकी होगा' ऐसी कल्पना करते समय भी ज्ञान की ही सामर्थ्य मौजूद है। 'सर्वज्ञ भगवान ने मेरा कितना काल देखा होगा ?' जहां ऐसी कल्पना की वहां क्या किया ? सो सुनः—

एक तो सर्वज्ञ के ज्ञान की स्व—पर प्रकाशक शक्ति अपने ज्ञान में याद की है। तुझे अपने ज्ञान की प्रतीति नहीं है इसलिये तुझे ऐसा लगता रहता है कि 'भगवान ने मेरा काल अधिक देखा होगा तो ?' इसप्रकार पर के ऊपर लक्ष्य जाता है वहां तेरे ज्ञानमें तूने काल को, सर्वज्ञ को और अपनी पर्याय की शक्ति को याद किया है।

प्रभु! तेरी प्रभुता समय समय पर तेरी पर्याय में ही व्याप्त है। तेरी पर्याय की स्व-पर प्रकाशकत्व की शक्ति है, उस शक्ति को न मानकर ज्ञेयके साथ एकत्व बुद्धि मानता है वह बंध मार्ग है। जब तूने ज्ञेय के कारण हानि के माना तो इससे ज्ञात होता हैं कि तूने अपने ज्ञान की शक्ति के नहीं माना। जिसने ज्ञेय के कारण रागद्वेष के माना उसे रागद्वेष हुये बिना नहीं रहेगा। जिसकी जैसी मान्यता होती है उसीके अनुसार उसकी प्रवृत्ति होती है।

मेरे ज्ञान की स्वाधीन पर्याय के कोई रोकने के लिये समर्थ नहीं है। भगवान सर्वज्ञ हैं उनके न तो भव है और न राग विकार। जिस ज्ञान ने इस प्रकार सर्वज्ञ के स्वरूप का निर्णय किया है उसमें यह बात कहां से आगई कि मुझमें भव है या रागद्वेष है।

सर्वज्ञ के भवका अभाव है, रागद्वेप का अभाव है। वह तीनकाल और तीनलोक के एक समय में जानते हैं। और मेरा स्वरूप भी सर्वज्ञ के समान ही है। इस प्रकार अपने ज्ञानकी पर्याय में निर्णय किया तो उसमें भी भव नहीं है, रागद्वेप नहीं है, ऐसा मेरा स्वभाव है। इस प्रकार अपने ज्ञानकी प्रतीति न होकर जो ज्ञेय के ऊपर डाल देता है उसे अपने स्व-पर प्रकाशक स्वभावकी प्रतीति नहीं है।

आकाशः-जो ऊपर दिखाई देता है वह आकाश द्रव्य नहीं है किन्तु पुद्गलोंकी अवस्था है। आकाश अनंत है, अरूपी अजीव द्रव्य है, इस प्रकार आकाश का जो ज्ञान है सो वह तेरे ज्ञानकी स्वतः पर्याय उतनी, उतनी बड़ी और वैसी ही है। जो ज्ञान एक पर्याय में अनंता जानता है उस ज्ञानकी सामर्थ्य कितनी होगी, इस प्रकार अपने ज्ञानकी महिमा आनी चाहिये। तेरा ज्ञान आकाश द्रव्य के कारण नहीं है तेरा ज्ञान स्वभाव भिन्न है और आकाश द्रव्य भिन्न हैं यों श्री जिनेन्द्रदेव ने कहा है।

संवत्सरी

बालचंद—भाई! संवत्सरी निकट आ रही है किन्तु प्रतिक्रमण के लिये मेरा आने का विचार नहीं हो रहा है आप मुझे क्षमा करेंगे।

ज्ञानचंद—तुम्हें ऐसा विचार क्यों आया? यह स्पष्ट कहो फिर इस संबंध में कुछ निश्चय करेंगे।

बालचंद—देखिये, मैं 'प्रतिक्रमण' शब्द का अर्थ तक नहीं जानता तब फिर उसके भाव को तो मैं क्या समझूं. इसलिये कुछ बिचार नहीं होता।

ज्ञानचंद—तुम इतने वर्षों से प्रतिक्रमण कर रहे हो और इसके संबंध में कुछ जानते नहीं हो तो इसे अभी तक अजानकारी में यों ही क्यों चलने दिया? अजानकारी में रहना तुम जैसे आदमियों का काम नहीं है।

बालचंद—आपका कहना सच है, अजानकारी हरगिज नहीं रहनी चाहिये। कुछ लोग कहते हैं किः— "हम भले न समझते हों, इसमें क्या हानि है? जितने समय तक धर्मस्थान में रहेंगे उतने समय तक छहकाय के जीवों की हिंसा टलेगी

ज्ञप्ति और करोति क्रियाकी व्याख्या

ज्ञप्ति क्रियाः-ज्ञानकी विकार रहित जो निर्मल क्रिया अर्थात् ज्ञानकी एकाग्रता है (अर्थात् ज्ञान स्वभावी आत्मा में पुण्य पाप रहित ज्ञानकी एकाग्रता) सो ज्ञप्तिक्रिया है।

करोति क्रियाः-जड़ का कर्तव्य मेरा है, पुण्य पाप के भाव का कर्तव्य मेरा है, जड़की अवस्था मेरे हाथमें है, ऐसी जो मान्यता है अर्थात मैं जड़की क्रियाको कर सकता हूं और विकारी परिणाम मेरे हैं ऐसा जो अभिप्राय है सो करोति क्रिया है।

नोट—(१) जड़की अवस्था मेरे द्वारा होती है ऐसा भाव और पुण्य पाप के परिणाम मेरे हैं ऐसा भाव अर्थात् करोति क्रिया ज्ञानी के नहीं होती; किन्तु ज्ञप्तिक्रिया (ज्ञान क्रिया) होती है।

(२) जीव परका कुछ नहीं कर सकता, इसलिये परकी कोई भी क्रिया जीवकी क्रिया नहीं है।

प्रतिक्रमण संवाद

—: लेखक :—
रामजीभाई माणेकचंद दोशी.

और फिर जब हम चौवीस घंटे तक अन्न जल ग्रहण नहीं करने की प्रतिज्ञा लेते हैं तब वह तप तो हुआ ही तथा उससे निर्जरारूप धर्म भी हुआ, इसलिये हमें उसे समझने की क्या आवश्यकता है"। भला, इस युग के मुझ जैसे युवक के गले यह बात कैसे उतर सकती है इसलिये यथार्थ क्या है, यह समझाइये।

ज्ञानचंद—तुमने स्पष्टीकरण मांगा यह बहुत अच्छा किया। अजानकारी से आत्मा को कभी लाभ हो ही नहीं सकता प्रत्युत हानि होती है, इसलिये तुम्हें यह विषय समझाने के लिये यहां कुछ कहुंगा।

वालचंद—प्रतिक्रमण का अर्थ क्या है ? कृपया पहले यही बताइये।

ज्ञानचंद—प्रतिक्रमण=प्रति+क्रमण प्रतिक्रमण का अर्थ होता है वापिस होना। जीव अनादिकाल से अपने स्वरूप को भूला हुआ है इसलिये उस भूल से वापिस होना—अपने यथार्थ स्वरूप को समझना सो प्रतिक्रमण है।

वालचंद—तब तो इसका मतलब यह हुआ कि:—

(१) जीव क्या है और उसका स्वरूप क्या है ? यह स्वयं सर्वप्रथम जानना चाहिये।

(२) जीव अनादि कालसे क्या भूल कर रहा है यह जानना चाहिये। क्यों कि भूल को जाने बिना उससे वापिस कैसे हुआ जा सकता है।

(३) जीव का और अपने में होनेवाली भूल का स्वरूप जानकर भूल से वापिस होना चाहिये, इस प्रकार आत्मा में होनेवाली क्रिया को प्रतिक्रमण कहते हैं।

ज्ञानचंद—तुमने जो प्रतिक्रमण का स्वरूप कहा है वह बराबर है। ज्ञानीजन इसी को सच्चा प्रतिक्रमण कहते हैं।

वालचंद—तब तो इसका अर्थ यह हुआ कि आज तक बिना समझे जो प्रतिक्रमण करते रहे हैं उसमें मात्र कालक्षेप हुआ है, आत्मा के लिये उससे कोई लाभ नहीं हुआ, क्यों यह ठीक है न ?

ज्ञानचंद—हां, बात तो ऐसी ही है। प्रतिक्रमण तो आत्मा का (जीव का) शुद्ध भाव है, इसलिये जो आत्मा को नहीं समझता उसके प्रतिक्रमण की यथार्थ क्रिया नहीं हो सकती।

वालचंद—कुछ लोग कहते हैं कि छहकाय के जीवों की रक्षा हुई इतना तो लाभ हुआ ? क्या यह ठीक नहीं है ?

ज्ञानचंद—तुम छहकाय के जीवों में हो या नहीं ? यदि हो तो क्या तुम्हारी रक्षा हुई ? यदि नहीं हो तो छह काय के जीवोंकी रक्षा कहां हुई ?

वालचंद—मैं तो यह भी ठीक ठीक नहीं जानता कि जीव क्या है इसलिये मैं यह कुछ नहीं कह सकता कि छह काय जीव किन्हें कहते हैं। हां जब मैं छोटा था तब मैंने कुछ बोल सीखे थे जिनमें यह भी था कि पांच प्रकार के एकेन्द्रिय जीव और त्रस जीव यों मिला कर छह प्रकार के संसारी जीव हैं, उन्हें छह काय के जीव कहते हैं। मैं त्रस जीव हूं इसलिये छह काय के जीवों में मैं भी आगया।

ज्ञानचंद—तब बताओं कि तुम्हारे माने हुये प्रतिक्रमण से तुम्हारे जीव की रक्षा हुई या नहीं अर्थात् तुम्हारा विकार दूर हुआ या नहीं।

वालचंद—जब मैं जीवका यथार्थ स्वरूप ही नहीं समझता तब मैं यह कैसे कह सकता हूं कि मेरे जीवकी रक्षा हुई या नहीं।

ज्ञानचंद—ज्ञानीजन कहते हैं कि जब तक जीव अपने स्वरूपको नहीं समझता तब तक समय समय पर अपना भाव मरण किया करता है और इसलिये वह दुःख ही भोगता रहता है। तुम अपने स्वरूपको नहीं समझे हो इसलिये तुम अपना भाव मरण प्रत्येक समय में किया करते हो। बिना समझे होनेवाली प्रतिक्रमण की क्रिया के समय भी भाव मरण तो हो ही रहा है तब फिर तुम्हारे जीव की रक्षा कहां हुई। रक्षा तो क्या हुई किंतु तुम्हारी अरक्षा अर्थात् भाव मरण हुआ, इसी प्रकार छहकाय के जीवों की भी रक्षा नहीं हुई।

वालचंद—किन्तु मैंने दूसरे जीवों को नहीं मारा इसलिये उतने समय के लिये इतना लाभ तो हुआ ?

ज्ञानचंद—यह विषय बराबर विचारणीय है। तुम जब जीव को पहचानते ही नहीं हो तब तुमने उसे मारा अथवा नहीं मारा यह प्रश्न ही

कैसे उठेगा? और फिर यह निश्चित करने की आवश्यकता है कि जो जीव जी रहे हैं वे तुम्हारे कारण से जी रहे हैं या अपने कारण से? इस विषयमें तुम क्या मानते हो यह बताओ।

बालचंद—मैंने इस संबंध में न तो कोई विचार किया है और न उसके यथार्थ स्वरूप का निश्चय किया है इसलिये आप ही समझाइये।

ज्ञानचंद—यदि युवक गहराई में उतर कर सच्चे स्वरूप को समझने के लिये परिश्रम करें तो बहुत अच्छा हो, इसलिये धीरज के साथ सुनकर और उसपर विचार करके सत्यासत्य का निर्णय करना। अमुक आदमी कहता है इसलिये मान लेना तो अंध श्रद्धा है और अंध श्रद्धा अज्ञान है—अविवेक है, इसलिये विचारवान व्यक्तियों को उसका त्याग करना ही चाहिये।

बालचंद—आपका कहना सच है। अंध श्रद्धा विपरीत दशा है और विपरीत दशा से लाभ हो नहीं सकता है मेरे मनमें सत्य को समझने की तीव्र जिज्ञासा उत्पन्न हुई है इसलिये आप जो कहेंगे उसे सुनकर मैं विचार करूंगा और सत्यासत्य का निर्णय करूंगा।

ज्ञानचंद—बहुत अच्छा! यदि तुम ऐसा करोगे तो असत्य से पृथक् होकर सत्य को यथार्थ रूप में समझ लोगे और यही सच्चा प्रतिक्रमण है। यदि ऐसा हुआ तो यह संवत्सरी प्रतिक्रमण तुम्हारे लिये यथार्थ रूप में होगा।

बालचंद—मुझे अब ऐसा लग रहा है कि अब मुझे वीतराग की आज्ञा के अनुसार सच्चा प्रतिक्रमण करना चाहिये। यदि मैं ऐसा नहीं करता तो मेरा अमूल्य मनुष्य भव व्यर्थ जायगा।

ज्ञानचंद—ठीक है, अब विचार करो कि क्या कोई जीव दूसरे जीव को मारने के लिये समर्थ है। अनेकबार ऐसा होता है कि जब एक आदमी किसी दूसरे आदमी को मारने के लिये बंदूक मारता है तब वह आदमी तो नहीं मरता किन्तु कोई दूसरा ही अजान आदमी बीच में आजाता है और गोली लगने से वह मर जाता है, इसका सिद्धांत ऐसा है कि प्रत्येक जीव और उसका शरीर जब तक एक साथ रहने योग्य है तब तक निश्चय से वे रहते ही हैं। लोग उसे जीवन कहते हैं। जब जीव और शरीर एक साथ रहने योग्य नहीं होते तब वे पृथक् हो जाते हैं, लोग इसी को मरण कहते हैं।

यहां इतना विशेष ध्यान रखना चाहिये कि एक आदमीने दूसरे को मारने के लिये—खून करने के लिये विचार किया और उस विचारकी पूर्ति के लिये उसे बंदूक मारी किन्तु वह बच गया। यद्यपि उस आदमीको कोई शारीरिक हानि नहीं हुई फिर भी जिस जीवने खून करने का भाव किया था उस जीवने स्वयं अपनी हिंसा तो कर ही ली है, क्योंकि उसने तीव्र अशुभ भाव करके अपनी शुद्धता का खून किया है। अज्ञानी जीव अपने विकारी भावों से लाभ होता है इस प्रकार की विपरीत समझ से अपने गुणों का खून कर रहे हैं इसी का नाम भाव मरण है। इस प्रकार दूसरा जीव बचे-या मरे किन्तु जिस जीव ने किसी को मार डालने का भाव किया है उसने अपनी हिंसा तो कर ही डाली है।

बालचंद—आपकी बात को मैंने समझ लिया है। हां, आपने जो उदाहरण दिया है वह अशुभ भाव का है किन्तु बिना समझे प्रतिक्रमण करने वाले ने तो किसी जीव को मारने का भाव नहीं किया है, उसके संबंध में आप क्या कहते हैं?

ज्ञानचंद—कोई जीव स्वयं दूसरे का लाभ या हानि नहीं कर सकता किन्तु अपने ही भावों में गड़बड़ी कर सकता है यही बताने के लिये उपरोक्त दृष्टांत दिया गया है। जैसे एक जीव किसीका बुरा नहीं कर सकता उसी प्रकार भला भी नहीं कर सकता। यदि कोई दूसरे जीवों को दुःख नहीं देने का भाव करता है तो वह शुभभाव है और यदि परेशान करने का भाव करता है तो अशुभभाव है। शुभाशुभ भाव मेरे हैं और वे करने योग्य हैं, इसप्रकार जीव की जो दृढ़ धारणा है वह संसार का मूल है—जड़ है। और जबतक उसका छेदन नहीं किया जाता तब तक संसार बना रहता है। अपना यथार्थ स्वरूप समझे बिना वह दूर नहीं हो सकता, उस जड़ को शास्त्रीय परिभाषा में मिथ्यात्व कहा है। मिथ्यात्व ही संसार है और वही परिग्रह है, उससे वापिस होना सो मिथ्यात्व का प्रतिक्रमण है।

बालचंद—आपकी बात को मैंने समझ लिया। आप यह कहना चाहते हैं कि—

(१) एक वस्तु दूसरी वस्तु का कुछ नहीं कर सकती और इसलिये वह हानि लाभ भी नहीं कर सकती। जीव और अजीव भी वस्तुऐं हैं, इसलिये जीव पुद्गल का अथवा दूसरे जीव का कुछ नहीं कर सकते और न पुद्गल ही किसी जीव को हानि लाभ पहुंचा सकता है।

(२) इस प्रकारकी मान्यता होने पर जो जीव जगत के अनंत पदार्थों पर अपना स्वामित्व विपरीत दृष्टि के कारण मान रहा था वह दूर हो जाता है।

(३) प्रत्येक जीव अपने आप को ही अपने भाव से हानि या लाभ पहुंचा सकता है।

(४) यदि अपने स्वरूपको समझ ले तो उसे लाभ हो और सच्ची समझ को आप 'मिथ्यात्व का प्रतिक्रमण' कहते हैं, क्या यह बात ठीक है ?

ज्ञानचंद—हां, तुमने जो कहा वह ठीक है; किन्तु अपने स्वरूपको समझना चाहिये ऐसा कह देने से स्वरूप नहीं समझा जाता; इसलिये उसका उपाय जानना चाहिजे।

वालचंद—आप का कहना ठीक है। कृपया वह उपाय वताइये

ज्ञानचंद—पहले आत्म ज्ञानी पुरुष से आत्मा का ठीक २ स्वरूप समझना चाहिये। आत्मा त्रिकाली अखंड, शुद्ध, चैतन्यचमत्कार मात्र ध्रुव स्वरूप है मात्र अपनी वर्तमान चालू अवस्था में क्षण क्षण में नया विकार किया करता है, उसकी ओर लक्ष्य को गौण करके यदि त्रिकाली ध्रुव चैतन्य स्वरूपकी ओर लक्ष्य दे तो सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। और सम्यग्दर्शन का प्रगट करना सो मिथ्यात्व का प्रतिक्रमण है इसलिये इस संबंध में विचार करके सत्यासत्य का निर्णय करके सम्यग्दर्शन प्रगट करना चाहिये।

वालचंद—कई लोग प्रतिक्रमण का पाठ करते हुये इस प्रकार बोलते सुने गये हैं:—

'मिथ्यात्व का प्रतिक्रमण, अव्रत का प्रतिक्रमण, कषाय का प्रतिक्रमण, प्रमाद का प्रतिक्रमण' मैं यहां पर यह जानना चाहता हूं कि मिथ्यात्व का प्रतिक्रमण न किया जाय और दूसरा किया जाय तो चल सकता है या नहीं ?

ज्ञानचंद—मिथ्यात्व का प्रतिक्रमण हुये विना अर्थात सम्यग्दर्शन प्रगट हुये विना किसी जीव के सच्चे व्रत नहीं हो सकते। वालव्रत अथवा वालतप हो सकता है किन्तु वालव्रत या वालतप धर्म नहीं है वह तो *अधर्म है। अर्थात मिथ्यात्व का प्रतिक्रमण* हुये विना दूसरा कोई प्रतिक्रमण नहीं हो सकता इसलियेआत्म स्वरूपको समझने की वहुत आवश्यका है।

वालचंद—आपने जो कहा सो ठीक है, हम जैसे युवकों को अपना कार्यक्षेत्र वदलने की आवश्यकता है यथार्थ समझ कर लेनेकी आवश्यक्ता है। विशेषतः प्रत्येक स्थान पर सम्यक्ज्ञान की प्याऊ विठाने का काम करना चाहिये।

ज्ञानचंद—युवक और वृद्ध यह शरीराश्रित अवस्थायें हैं। जीव से शरीर परवस्तु है, इसलिये उस पर वस्तु की ओर से लक्ष्य छोड़कर प्रत्येक जीव को अपना स्वरूप समझने के लिये प्रयास—सत्य पुरुषार्थ करना चाहिये और अपने स्वरूप में स्थिर रहना चाहिये। जव स्थिर नहीं रह सकता तव अपनेमें अशुभ भाव न हो सके इसलिये ज्ञान की रुचि वढ़ाने का प्रयास करना चाहिये। उन भावों को जगत के जीव प्राप्त कर सकें, इसके लिये सम्यक्ज्ञान की प्याऊ प्रत्येक स्थानपर स्थापित हो, वह पुष्ट हो और वृद्धिंगत होती रहे, ऐसी भावना भानी चाहिये।

वालचंद—युवक और वृद्ध शरीराश्रित अवस्था है यह ठीक है समस्त जीव अनादि कालसे हैं इसलिये कोई छोटा वड़ा नहीं है, अतः समस्त जीवों को अपना स्वरूपसमझ कर अपना अज्ञान दूर करने का प्रयत्न करना चाहिये, मिथ्यादर्शन को दूर करना चाहिये। जो इस प्रकार करता है उसी के सच्चा प्रतिक्रमण होता है, यह वात विल्कुल स्पष्ट है। अमुक समय के लिये आहार के त्याग की प्रतिज्ञा लेना सो सम्यक् तप नहीं है, क्यों कि जिसे अपने स्वरूप की खवर नहीं है उसके वालतप होता है, यह वात भगवान ने डंके की चोट कही है। इसलिये मुझे सर्वप्रथम मिथ्यात्व का प्रतिक्रमण करना चाहिये, मैं इस वात तो भली भांति समझ चुका हूं और अपने मित्रों को भी सच्चा प्रतिक्रमण करने के लिये समझाने का प्रयत्न करूंगा।

ज्ञानचंद—वहुत अच्छा। अव तुम और सव प्रतिक्रमण का यथार्थ स्वरूप समझो तथा भगवान के सच्चे अनुयायी वनो, नाम के अनुयायी मिट जाओ मेरी यही भावना है।

★

परीषह

वाह्य संयोगमें समभाव रखकर शुद्ध भावमें वढ़ते जाना सो परीषह है। और उस समयका वाह्य संयोग 'परीषह निमित्त' है। इस प्रकार उपसर्ग अथवा परीषह वाह्यमें नहीं किन्तु अपने भावमें है।

—जिनदेव का सच्चा सेवक—

जो व्यवहार से भी जिनेन्द्र भगवान का भक्त होता है वह मिथ्याभाव को स्थान नहीं देता अर्थात् वह वीतराग देव शास्त्र गुरुको छोड़कर कुगुरु, कुदेव आदिकका समर्थन नहीं करता। वाणी द्वारा अथवा अन्य किसी भी प्रकार से असत् मिथ्या का समर्थन नही करता–उसे स्थान नहीं देता। जब वह यह श्रद्धा करले कि सर्वज्ञदेव और कुदेवादिक एक समान नहीं हो सकते तब व्यवहार से सर्वज्ञकी श्रद्धा कहलाती है। सत्य मार्ग एक ही होता है, तीनलोक और तीनकाल में सत्य के दो मार्ग नहीं हो सकते। वीतरागदेव के अतिरिक्त अन्य देवको सच्चा माननेवाला वीतराग का भक्त नहीं है।

कुछ लोग जैनधर्म और अन्य धर्मोंका समन्वय करना चाहते हैं किन्तु जैनधर्म का अन्य धर्मों के साथ कभी भी समन्वय नहीं हो सकता। अमृत और विप का समन्वय कैसा? वीतराग का सेवक वीतराग देवके स्वरूप को या बाह्य रूपको अन्यथा न तो कहता है और न मानता है। वीतराग की वाणी सहज स्वभाव से निकलती हैं भगवानकी वाणी दूसरे के लाभ की इच्छा से नहीं खिरा करती, भगवान तो बिलकुल वीतराग हो चुके हैं, उनकी वाणी भी स्वतंत्र रूप से खिरती है।

अब यहां यह कहा जाता है कि वीतराग का सेवक कब कहलाता है और व्यवहार से जैन कब कहलाता है?

वीतराग का सेवक वीतरागदेव से विपरीत कहनेवाले की बात भी नहीं सुनता। बाप को गाली देनेवाला बाप का दुश्मन है। अच्छा लड़का उसे मान नहीं दे सकता, इसी प्रकार वीतराग की बात से विरुद्ध कहनेवाले की बात को वीतराग का सेवक कभी नहीं सुन सकता। वह जिनदेव की वीतराग प्रतिमा के रूप को सरागरूप नहीं करता। वीतराग की प्रतिमा के वस्त्र नहीं हो सकते, माला नहीं हो सकती, मुकुट नहीं हो सकते और शस्त्र आदि रागद्वेष के अन्य चिन्ह भी नहीं हो सकते। जिनदेव तो वीतराग हैं, आनंदघन हैं। उनके साक्षात् अभाव में प्रतिमाजी में उनकी स्थापना की जाती है;

स्थापना दो प्रकार की होती है, (१) सद्भावरूप स्थापना (२) असद्भावरूप स्थापना। जिनेन्द्रदेव के अनुसार उनकी मूर्ति में जिन देवत्व का आरोप करना सो सद्भावरूप स्थापना है। इन्हें तदाकार और अतदाकार स्थापना भी कहते हैं। जिनदेवकी प्रतिमामें जिनदेवकी ही स्थापना होती है, इसलिये उस प्रतिमा पर कोई शृंगार आदिक नहीं हो सकता। वह वीतरागदेव का प्रतिबिम्ब है–निर्ग्रंथ है। इस प्रकार जो व्यवहार से भी जिनदेव का सेवक है, वह जिनदेव के स्वरूप को अन्यथा नहीं मानता, वह जिन प्रतिमा की अविनय नहीं करता। यदि कोई जिन देवकी प्रतिमा का अविनय करता है तो वह उसे स्वीकार नहीं करता और अविनयादि के स्थान से स्वयं अपने को बचाता रहता है। इसी प्रकार जिनदेव की तरह सद्गुरु और सत्शास्त्रों के संबंध में भी समझना चाहिये। इतना करने पर वह शुभराग में आया हुआ कहलाता है, उसके ग्रहीतमिथ्यात्व छूट गया है और वह बाह्य जैन कहलाता है और जब वह शुद्ध आनंदघन स्वरूप की श्रद्धा के बलपर शुभराग का भी त्याग कर देता है कि 'मेरा पर के साथ कोई संबंध नहीं है, इतना ही नहीं किन्तु देव, शास्त्र, गुरु की ओर जो शुभ विकल्प उठते हैं वह भी मेरा स्वरूप नहीं है। मैं अखंड ज्ञायक हूं, मेरे ज्ञायक स्वभाव में राग का अंश भी नहीं है।' इस प्रकार जब आत्मस्वभाव की श्रद्धा करता है तब वह परमार्थ श्रद्धा है। वह वीतराग का सच्चा सेवक हो गया है, उसका अनादिकालीन विपरीत मान्यतारूप अगृहीतमिथ्यात्व छूट गया है और वह सच्चा जैन हो गया है। (मुक्तिका मार्गमें से)

—ग्राहकों....से....निवेदन—

आपका वार्षिक मूल्य १२ वें अंक के साथ पूरा हो चुका है, इसलिये दूसरे वर्षका (अंक १३ से २४ तक का) मूल्य तीन रुपया मनियार्डर द्वारा शीघ्र ही भेजने की कृपा करें।

आपके पास दूसरे वर्षका प्रथम (१३ वां) अंक (वैशाख का) भेजा जा चुका है और दूसरा (१४ वां) अंक आपके पास भेज रहा हूं।

यदि आषाढ़ शुक्ला १५ तक आपका मूल्य तीनरुपया मनियार्डर से नहीं आजायगा तो तीसरा (पंद्रहवां) आषाढ़ का अंक आपके पास सवा तीन रुपया की वी. पी. से भेजा जायगा। जो आप तुरन्त ही छुड़ा लेने की कृपा करेंगे।

मुद्रक: चुनीलाल माणेकचंद रवाणी, शिष्ट साहित्य मुद्रणालय, दासकुंज, मोटा आंकडिया-ता. ७–७–४६
प्रकाशक: जमनादास माणेकचंद रवाणी, आत्मधर्म कार्यालय, मोटा आंकडिया, काठियावाड

धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है।

वर्ष : २
अंक : ३

: संपादक :
रामजी माणेकचंद दोशी
वकील

आषाढ
२४७२

जिनवाणी स्तुति

हे जिनवाणी माता तुमको लाखों प्रणाम;
तुमको क्रोड़ों प्रणाम......
शिवसुखदानी माता तुमको लाखों प्रणाम ..... टेक

तू वस्तु स्वरूप बतावे, अरु सकल विरोध मिटावे;
स्याद्वाद विख्याता तुमको लाखों प्रणाम..........१

तू करे ज्ञाताका मण्डन, मिथ्यात्व कुमारग खण्डन;
हे तीन जगत की त्राता, तुमको लाखों प्रणाम......२

तू लोकालोक प्रकाशे, चर अचर पदार्थ विकासे;
हे विश्वतत्त्वकी ज्ञाता, तुमको लाखों प्रणाम......३

तू वस्तुस्वरूप सुझावे, सिद्धान्त-मर्म समझावे;
तू मेटे सर्व असाता, तुमको लाखों प्रणाम......४

हे मात कृपा अब कीजे, परभाव सकल हर लीजे,
'शिवराम' सदा गुण गाता, तुमको लाखों प्रणाम......५

वार्षिक मूल्य तीन रुपया शाश्वत सुख का मार्ग दर्शक मासिक पत्र एक अंक पांच आना

आत्मधर्म कार्यालय—मोटा आंकड़िया—काठियावाड

देवावाणी श्री समयसारजी पर श्री कानजी स्वामी का प्रवचन

(१) आत्मा स्वयं शरीर, मन, वाणी तथा आठ प्रकार के कर्म रजकणों से बिल्कुल भिन्न वस्तु है वह स्वतंत्र निर्विकारी तत्त्व है। अज्ञानी को उसकी अनादि-काल से खबर नहीं है, इसलिये पांच इन्द्रियों में सुख मानता है, परमें मोह करता है और यह मानता है कि परका मैं कुछ कर सकता हूं। आत्मा ऐसा मोह अज्ञानभाव से करता है किन्तु उसमें कर्म तो निमित्त मात्र है। कर्म पर वस्तु है, परवस्तु आत्म तत्त्व को रोक सकता है अथवा लाभ कर सकता है यह तीनलोक और तीनकाल में नहीं बन सकता किन्तु यह अपने स्वरूप को भूल कर 'यह शरीर, कुटुम्बादिक और शुभा-शुभ परिणाम ही मैं हूं' इस प्रकार मानकर स्वरूप की सावधानी को चूककर परमें रागी हो रहा है यही वास्त-विक मोह है। उसमें जड़कर्म निमित्त मात्र है। स्वयं परमें सावधान हुआ और स्वरूप में असावधान हुआ तब जड़कर्म को निमित्तरूप कहा जाता है और वह द्रव्य मोह है।

(२) आत्मा का वह ज्ञान स्वभाव कैसा है?

समस्तलोक के ऊपर तैरता हुआ, तैरता हुआ का क्या अर्थ है—रागद्वेष में एकमेक नहीं होना। रागद्वेष और शुभाशुभ परिणाम से भिन्न अर्थात् अधिकाधिक रहता हुआ जो ज्ञान स्वभाव है सो वह सबसे ऊपर तैरता है।

शरीर मन्दिर में विराजमान ज्ञानमूर्ति अंगार भिन्न है; जिसने ऐसे आत्मा को जान लिया वह समस्तलोक के ऊपर तैर रहा है। मेरा स्वभाव स्पष्ट प्रगट निर्मल सब का ज्ञाता है वह पर रूप नहीं होता, यह जिसने जान लिया वह समस्त लोक के ऊपर तैर रहा है। मेरा ज्ञान स्वभाव पर से निराला, प्रत्यक्ष उद्योत स्वभाव से सदा अंतरंग में प्रकाशमान है।

(३) वस्तु स्वभावको जाने बिना कहां स्थिर हुआ जाय? और स्थिर हुए बिना चारित्र नहीं होता तथा बिना चारित्र के मोक्ष नहीं होता इसलिये मोक्षकी प्राप्ति के लिये चारित्र होना चाहिये और चारित्र होने के लिये यथार्थ ज्ञान चाहिये। श्री समयसारजीकी ३१ वीं गाथा में पहचाननेकी बात कही है। पहचान होते ही तत्काल सब वीतराग हो जाते हों सो बात नहीं है जो जाना और माना उसी में पुरुषार्थ करके क्रम २ से स्थिर होता जाता है यही वीतरागकी सच्ची भक्ति है।

(४) (गाथा ३३) भगवानकी स्तुति अपने आत्मा के साथ संबंध रखती है किन्तु वह पर भगवान के साथ नहीं रखती। सामने बैठे हुये भगवान की ओर उन्मुखता का जो भाव है वह शुभभाव है उससे पुण्य बंधता है किन्तु धर्म नहीं होता। स्त्री पुत्रादि की ओर उन्मुखता वाला जो भाव है सो अशुभ भाव है उस अशुभ भाव को दूर करने के लिये भगवान की ओर शुभभाव में युक्त होता है; किन्तु आत्मा कैसा वस्तु है तथा धर्म का संबंध तो मेरी आत्मा के साथ है यह नहीं मानता उसे भगवान की सच्ची स्तुति अथवा भक्ति नहीं होसकती। इस लाल पीली दुनिया में-जहां अच्छे शरीर, अच्छा खाना पीना घूमना फिरना और मौज करना होता है ऐसी पचरंगी दुनिया में जो रचा पचा रहता है उसे यह धर्म कहांसे समझ में आसकता है।

अज्ञानी अर्थात् जो अनादिकाल से अजान है और जो शरीरादि संयोग को अपना मानता है उससे कहते हैं कि हे भाई! तेरी आत्मा का संबंध तेरे साथ है परके साथ नहीं है। तू अपने आत्मा के धर्म के संबंध को पर के साथ मानता हो, देव शास्त्र गुरु को भी अपने आत्मा के धर्म के संबंध रूप मानता हो तो वह सच्ची स्तुति नहीं। (आचार्यदेव ने समयसार जी की ३३ वीं गाथा में यह समझाया है।)

इसमें कोई पर नहीं कर सकता ऐसा स्वतंत्र स्वभाव बताया है। जब तेरा ही आत्मा स्वरूप की जागृति के द्वारा प्रयत्न करता है और जब मोह का क्षय करता है तभी मोह का क्षय हो जाता है। किन्तु उसे कोई पर कर देता हो सो बात नहीं है, ऐसा स्वतंत्र स्वरूप बताया है।

श्री समयसारजी में आचार्यदेव ने निम्न दशावाले को कहा है कि तू अपने में जितना संबंध करेगा उतनी सच्ची भक्ति होगी। परावलंबन से धर्म नहीं होता किन्तु अंतर स्वरूप में सम्यक्ज्ञान पूर्वक जितनी...एकाग्रता–स्थिरता है उतना धर्म है। परकी ओर का जो भाव है सो शुभभाव–पुण्यभाव है। अशुभराग को दूर करके शुभ विकल्परूप राग होता है। यदि शुभराग न हो तो पाप राग हो इसलिये ज्ञानी अशुभराग को दूर करके शुभ राग में युक्त होते तो हैं किन्तु शुभभाव विकारी भाव है; इससे मेरा धर्म खीलेगा ऐसा वह नहि मानता। तीनों प्रकार की (जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट) निश्चय स्तुति का संबंध तो आत्मा के साथ है।

आत्मधर्म
: वर्ष २ : १५ : आषाढ :
: अंक ३ : : २४७२ :

सम्यक्त्वीकी इंद्रपदप्राप्ति समयकी भावना

[पूज्य गुरुदेव के प्रवचन में से]

अरे ! अपने स्वरूप का आनंद सावन कर रहा था उसमें भंग पड़ा तब पुण्य बंध गया और उस पुण्य का यह फल है। वह पुण्य मेरा नहीं है और यह पदवी मेरा नहीं है, इस प्रकार पहले से ही पुण्य का अस्वीकार करता चला आया है। न तो इन्द्रिय में सुख है और न इन्द्रपद में मेरा सुख है। मेरा सुख मेरे स्वरूपमें है। जब मेरे आत्मा के सत्व की शक्ति मारी गई—हीन पड़ गई तब यह पुण्य बंधा है और उसका फल है यह इन्द्रपद जो कि सड़े हुये तिनके के समान है।

अरे ! मेरे अतीन्द्रिय आनंद में लूट पड़ी तब यह पुण्य बंध गया। मेरे स्वरूप का यह फल नहीं है। नहीं, नहीं; यह पद मेरा नहीं है। त्रिलोकीनाथ देवाधिदेव तीर्थंकर कहां विराज रहे हैं? पहले वहीं दर्शन करने चलो। इस प्रकार स्वयं प्रथम ही तीर्थंकर भगवान के पास दर्शनार्थ जाता है और मंडली को भी साथ में ले जाता है।

पहले साक्षात् तीर्थंकर भगवान के पास जाता है पश्चात् शाश्वत प्रतिमाओं के दर्शन करनेको जाता है ऐसी भावना भावे कि—मेरा शुद्धोपयोग पूर्ण नहीं हुआ और शुभोपयोग के फल में यह पुण्य बंध गया। अब कब इसे टालकर स्वरूप की भावना को भाते भाते केवलज्ञान प्राप्त करूंगा? वह घड़ी धन्य है जिस घड़ी में आत्मभावना को पूर्ण करके केवलज्ञान प्राप्त करूंगा। पड़ोस में धूरा हो किन्तु वणिक उसका मालिक नहीं बनता, उसी प्रकार सम्यक्त्वी धर्मात्मा इन्द्रपद का धनी नहीं होता। वह स्पष्ट इनकार करता है कि यह पद मेरा नहीं है, यह मेरी वीतरागता को रोकने वाला है। स्वरूप की आनंद की रुचिमें भावना को भाता हुआ पूर्ण वीतरागी नहीं हुआ वहां यह पुण्य बंध गया उसका यह फल है। हमारे स्वरूप का यह फल नहीं हो सकता। स्वरूप की भावना में जब भंग पड़ा तब पुण्य बंध गया, किन्तु मेरी भावना तो संपूर्ण वीतराग पद की ही है। उसमें बीचमें विघ्न करने वाला यह पद मेरा नहीं है, इस प्रकार सम्यक्त्वी जीव पुण्य को और पुण्य के फल को अस्वीकार करता है।

धन्य है सम्यक्त्वी तेरे सम्यक्त्व को !

आत्मा का घोर अपराध

: : : [पूज्य श्री कानजी स्वामीका प्रवचन] : : :

अपराध का अर्थ क्या है?

यह आत्मा अनादिकाल से संसार में परिभ्रमण कर रहा है, पर में सुख बुद्धि मान रहा है, इसप्रकार आत्मा अपना अपराध करता है। पर से सुख माना अर्थात् यह माना कि 'मुझमें संतोष होने लायक कुछ नहीं है, इसलिये पर हो तो मुझे संतोष हो' यही अपना अपराध है।

आत्मा अनादि अनंत वस्तु है, उसका वीतरागी स्वभाव है, फिर भी उसकी खबर नहीं है, इसलिये यह मानता है कि यदि मेरे संतोष के लिये पर पदार्थ हो तो ठीक हो। आत्मा यह नहीं मानता कि 'मेरा सुख मुझमें है' यही उसका अपराध है।

चौरासी के जेल का कारण अपराध है

आत्म संतोष को प्राप्त श्रीगुरु से जन्ममरण के दुःख से दुःखी शिष्य पूछता है कि हे देव, हे प्रभु! जन्म मरण का त्रास अपराध का फल है। कृपया बताइये कि वह अपराध क्या होगा? अंतरंग में जिसे चौरासी के अवतार का त्रास अनुभव हुआ है और ऐसा लगा है कि अवश्य कोई अपराध है। क्योंकि यदि मैं अपराधी नहीं होता तो मुझे अपने से संतोष होना चाहिये था। मैं अनादिकाल से अभीतक अपराध करता चला आया हूं किन्तु अपराध का स्वरूप नहीं जान पाया। इसलिये यहां पर उस शिष्यने अपराध का स्वरूप पूछा है। यदि अपराध करता हुआ नहीं आया होता अर्थात् निरपराध होता तो यह पराधीनता नहीं होती। पराधीनता तो है किन्तु अपराध का स्वरूप ज्ञात नहीं हो सका। यदि अपराध के स्वरूप को जाना होता तो अपराध को दूर करके निरपराध रहता। जगत् में भी अपराधी को जेल मिलती है। उसी प्रकार शिष्य को जन्म मरण जेल के समान मालूम होती है और इसीलिये जेल का कारण जो अपराध है उसके स्वरूप को जानने के लिये वह तैयार हुआ है।

जिनने यह मान रखा है कि आत्मा के अतिरिक्त परमें सुख होगा वे सब अपराधी हैं और चौरासी की जेल में पड़े हुये हैं। अंतःकरण में ऐसा लगा कि यदि शरीरादिक और पुण्य अनुकूल रहें तो सुख मिले। इसप्रकार पर सुखापेक्षिता को लेकर पराधीनता में सुख मानता हुआ चौरासी की जेल में जा फंसा है। इस जेल का कारण उपरोक्त अपराध है, बिना अपराध के जेल नहीं होती।

शिष्य कहता है कि भगवन् यदि मुझे अपने सच्चिदानंद स्वरूप की प्रतीति होजाय तो यह चौरासी की जेल न रहे। इसलिये अपराध तो है, उस अपराध का मतलब क्या है, अपराध क्या है और कितना है?

अपराध को अपराध के रूपमें जानले तो अपराध को दूर करे

जेल में पड़े हुये को जैसे जेल की आदत पड़ जाती है और उसे जेल का दुःख नहीं लगता ऐसे जेल के बंधन में जिसने सुख मान रखा है उसे अपराध अथवा अपराध के फल का दुःख ही नहीं मालूम होता। इसीप्रकार संसार की रुचिवाला जीव जहां चौरासी के जन्म मरण में से एक भव को पूरा करता है—उसकी देह की स्थिति को पूरा करता है वहीं से वह शरीर के छोड़ने के साथ ही ऐसी भावना लेकर जाता है कि मेरा इस शरीर के बिना चल ही नहीं सकता, मेरा भव के बिना चल ही नहीं सकता और भव की परंपरा को काटना नहीं है तथा एक के बाद दूसरी देह धारण करके चौरासी के जन्म मरण का चक्कर लगाना है। यहांपर शिष्य को भव का दुःख मालूम हुआ है। वह अपराध का स्वरूप जानने के लिये तत्पर हुआ है। भगवान् आत्मा चैतन्यज्योति ज्ञानमूर्ति स्वरूप है। चैतन्य स्वरूप को अपने सुख के लिये पर की आवश्यकता

होती है यों मानना सो चैतन्य का अपराध है। प्रभु, उस अपराध के स्वरूप को जानना है और उसे दूर करके निरपराध होना है। (निरपराध का अर्थ है मोक्ष)

यह तो उसके लिये है जिसको गर्ज पड़ी है किसी को जबर्दस्ती नहीं समझाना है। जिसे अंतरंग से चोट लगी है ऐसा शिष्य श्रीगुरु से कहता है-कि:—

प्रभु! मुझे पर की क्या आवश्यकता है, आत्मा को पर वस्तु से संतोष है या मुझमें संतोष है। संतोष जैसी वस्तु मुझमें है या नहीं। यहांपर शिष्य के ध्यान में तीन बातें आई:—

(१) उसे ऐसा जंच गया है कि मेरा अपराध है।

(२) चौरासी का अवतार जेल के समान प्रतिभासित हुआ है अर्थात् उसे जन्म मरण के त्रासका अनुभव हुआ है।

(३) अपराध का स्वरूप उस ज्ञानी के पास से जाना जा सकता है जिसने अपराध को जान लिया है।

अब शिष्य के प्रश्न का उत्तर देते हैं:—

संसिद्धि सिद्धि राध आराधित साधित एक है।
इस राध से जो रहित है वह आत्मा अपराध है ॥३०४॥
अरु आत्म जो निरपराधी सो निशंकित होत है।
वर्ते सदा आराधना से जानता मैं आत्म को ॥३०५॥

[श्री समयप्राभृत]

इन दो गाथाओं में आत्मा की अपराध और निरपराध दशा का वर्णन है।

(१) देह जड़ है, वह आत्मा की जाति नहीं है आत्मा ज्ञानस्वरूप ज्ञाता दृष्टा है उसके अतिरिक्त पर की भावना का होना सो अपराध है।

(२) पर की इच्छा न होकर मेरे तत्त्वमें सुख है पर द्रव्य की नास्ति के द्वारा मेरे स्वतंत्र स्वरूप में ही सुख है इस प्रकार जो शुद्ध आत्मा की शुद्धि है वही मेरा तत्त्व है।

शिष्यने श्री गुरु की विनय करके कहा है कि भगवन् अपराध का स्वरूप और निरपराधका स्वरूप कहिये। एक के समझ लेने पर दूसरा भी मालूम हो जायगा। यदि निरपराधका स्वरूप समझ में आ जायगा तो अपराध का स्वरूप भी समझ में आ जायगा और यदि अपराध का स्वरूप समझ में आ जाय तो निरपराध का स्वरूप भी समझ में आ जायगा।

पर द्रव्यके परिहार के द्वारा शुद्ध आत्मा की सिद्धि का होना सो राध है और जो राध से रहित है वह आत्मा अपराधी है।

अपराध, अपराध का फल और अपराध को दूर करनेका उपाय

यदि निरपराध हो तो परसे पृथक् होकर स्वरूपानुभव के आनन्द में लीन हो; किन्तु वह आनन्द तो है नहीं इसलिए वर्तमान अपराधयुक्त है। उस अपराध को दूर करनेके लिए इसप्रकार का विचार करना चाहिये कि "मेरा आत्मा अशक्त या पराधीन नहीं है। मेरे सुख के लिए किसी परकी आवश्यकता नहीं है। मैं परिपूर्ण शुद्ध हूं, स्वतंत्र हूं, इस प्रकार का निरपराधभाव ही साधन है" आत्मा के सम्बन्धमें जितने अंश में पराश्रित होने का भाव है उतने ही अंशमें वह अपराधी है और उस अपराध का फल है संसार की जेल।

किसी पर वस्तु से आत्माको संतोष होता है इस प्रकार की मान्यता के अभावसे आत्माके पूर्ण स्वतंत्र स्वरूपकी श्रद्धा, उसका ज्ञान और उसमें एकाग्रतारूप चारित्र इन तीनों की एकता का होना सो आत्मा का राध है।

परवस्तु में आत्मा का सुख अथवा सन्तोष तीनकाल और तीनलोक में नहीं है। इस प्रकार की दृढता का होना सो आत्माके निरपराध होने का उपाय है। परवस्तु के अभाव सहित मेरा सुख मुझमें है; इसप्रकार अपने में ही सुख शान्ति का निर्णय होना सो निरपराधपन है। जिसके ऐसा निश्चयात्मक निर्णय नहीं है कि आत्मा में ही सुखशान्ति है, वह अपराधी है। उन दोनों का यथार्थ पृथक् ज्ञान हुए बिना यह ज्ञान नहीं हो सकता कि मेरा क्या है और पर क्या?

स्वतंत्र निःशंक स्वभावकी निःसन्देह आत्मश्रद्धा का होना सो निरपराधपन है और स्वभावमें सन्देह तथा परमें निःसन्देह होना सो अपराधीपन है!

अपने स्वभावमें शंका की, स्वरूपसे डरा, उसमें सन्देह हुआ और परमें सुख माना सो अपराधी है, उस अपराधी को तीनकाल और तीन लोकमें चौरासी की जेल के सिवाय दूसरा फल नहीं मिल सकता। जो कर्म निमित्तक विकार भावको अपना मानता है वह अपराधी है।

अपराध क्या है और कितना है?

आत्माने परमें सुख माना सो अपराध है और उसका फल है संसार की जेल। यह छोटीसी भूल नहीं है। अनन्तज्ञान और अनन्तवीर्य आदि अनन्तगुणों से परिपूर्ण

स्वरूप का अनादर किया है। निर्मल, सहज चिदानन्द स्वरूपमें सुख न मानकर परमें सुख को मानना सो सामान्य अपराध नहीं है किन्तु स्वरूप के अनादर का महान अपराध है।

आत्मस्वरूप का अज्ञान और उसके कारण परमें सुखबुद्धि का होना सो आत्मा का महान अपराध है। स्वरूप का अज्ञान, परमें लीनता और परमें सुख का लालच होना अपराधका कारण है।

शाश्वत स्थिर स्वभाव की प्रतीति के बिना परवस्तु से सुख होगा ऐसी नाशवान बुद्धिमें अविनाशीका अनादर करना महान अपराध है। आत्मा के अविनाशी स्वरूप में सार न मानकर पर वस्तु के नाशवान संयोग में सार मान लेना ही चौरासी की जेल का मूल है।

मूल अपराध क्या है?

मुझमें सुखशान्ति नहीं है इस प्रकार स्वरूप का अज्ञान और पुण्य, प्रतिष्ठा, शरीर, स्त्री एवं राज्य इत्यादिमें सुखकी मान्यता का भाव आत्मा का परम अपराध है। उसके फल स्वरूप जन्म, जरा मरण की परम्परा चलती रहती है।

जो भाव राध रहित होता है वह अपराध है। अपराध रहित भाव आत्म स्वभाव है और निरपराधहीन भाव (अर्थात् अपराव सहित भाव) का होना अपराव है।

आत्मा परके आधार से रहित स्वतंत्र है। जो उस दृष्टि को भूलकर परमें सुख मानता है वह आत्मा अपराधी है। जो आत्मा स्वयं अशुद्ध रूपमें परिणमन करता है वह विराधक है। जब अपनेमें से सुखशान्ति का निश्चय शिथिल होता है तब परकी इच्छा होती है और इसीलिए शुद्ध आत्मा की सिद्धि नहीं होती। जो बाह्यदृष्टिमें भटक जाता है उसे साक्षी स्वरूपकी अन्तर्दृष्टि की प्राप्ति नहीं होती है। परका ग्रहण होने से न तो शुद्ध आत्मा की सिद्धि होती है और न आत्मा का विकास ही हो पाता है। जबतक जीव यह नहीं जानलेता कि आत्मामें सुख है और आत्मा अबन्ध (निरपराध) है तबतक अपराधी है-गुनहगार है।

स्वभाव की शंका ही अपराध है

स्वभाव में सन्देह और पर में निःसन्देहरूप अपराध के कारण अपने सुख स्वरूप स्वभाव में सन्देह हो गया है और जहांपर सुख नहीं है वहांपर सुख मान बैठा है। इसलिए सुख का अनुभव नहीं होता।

हे चैतन्य भगवान्! यदि तुझे अपनी वस्तु के स्वामित्व की प्रतीति हो जाय तो तू शरीरादि परवस्तु के स्वामित्व को स्वीकार न करे।

परको ग्रहण करने की बुद्धि से और आत्मामें ऐसा सन्देह होने से कि मेरा परके बिना चल ही नहीं सकता, उसे बन्धकी शंका है और यही अपराध है।

जिसे आत्मामें सुख सन्तोष की शंका है उसे भीतर से यह विकल्प उठा करता है कि "मैं पुण्यकर डालूं नहीं तो भविष्य में अनुकूलता नहि मिलेगी। मानो मेरा स्वरूप तो बिलकुल अनुकूलता हीन निर्माल्य है" इस प्रकार आत्मा के स्वामित्व को स्थापित नहीं करता और परसे सुख होगा ऐसे भावमें उसे बन्धकी आशंका है तथा अपने घरकी चैतन्य शान्ति को खोलकर उसका आनन्दभोग करने के स्वभावमें वह सन्तोष नहीं करता। बस यही अपराध है।

देह मन्दिरमें भगवान आत्मा का स्वादिष्ट नैवेद्य भरा पड़ा है किन्तु उसकी उसे खबर नहीं है। इसलिए वह दूसरों से भीख मांगकर उसके द्वारा आनन्द लाना चाहता है। जहां आत्मा के अतिरिक्त परको ग्रहण करने का भाव है और परको लेकर सुखकी मान्यता है, वहीं से अपराध प्रारम्भ हो जाता है।

परमें उपाय करने से भूल नहीं टल सकती

यहांपर मुख्य बात यह है कि अन्तरंग में भूल कहां है यह जान लिया जाय। जहां भूल है वहां उसे दूर करने का उपाय किया जाय तो भूल टल जायगी।

जैसे मुंहपर कोई दाग है और वह दर्पण में दिखाई देता है। यदि कोई उस दाग को दूर करने के लिए दर्पण को सौ वर्षतक घिसता रहे तो भी मुंह का दाग नहीं मिटेगा। जहांपर मैल है वहांपर तो उसे दूर करने का प्रयत्न नहीं करता है और परमें प्रयत्न करता रहता है तो ऐसे मैल क्योंकर दूर होगा। इसीप्रकार आत्मामें जहां भूल है उसे न जानकर यदि कोई शरीरादि को घिसता रहे तो उससे भूल दूर नहीं होगी। आत्मा अरूपी वस्तु है उसका परके बिना नहीं चल सकता। इसप्रकार की बुद्धि का होना सो मैल है, भूल है, अपराध है।

अपराध क्या है और कहां है?

"मुझे परकी आवश्यकता है। पुण्य के बिना मोक्ष नहीं मिल सकता"। इसप्रकार की मान्यता ही अपराध है और उस अपराध का फल चौरासी की जेल है।

प्रश्नोत्तर

पूज्य श्री कानजी स्वामी से किये गये प्रश्नों के उत्तर

धर्म के लिये आत्मा परसे भिन्न है और वह परका कुछ भी नहीं कर सकता इसप्रकार की श्रद्धा का होना प्रथम कर्तव्य है। चक्रवर्ती राज को भोगता हुआ भी अंतरंग में पर से पृथक्त्वकी प्रतीति करता है। यथार्थ पहचान अलग वस्तु है और शुभक्रिया अलग वस्तु है।

प्रश्न–पहचान करने के लिये कुछ शुभभाव तो करना ही चाहिये?

उत्तर–पहचान अंतरंग के शुद्धभाव से होती है। शुभभाव करते करते धर्म होता हो सो बात नहीं है।

प्रश्न–यदि एक आदमी पाप न करे और पुण्य भी न करे तो क्या हो?

उत्तर–यदि पुण्य और पाप कुछ भी न करे तो कहना होगा उसे आत्माकी संपूर्ण पहिचान हो चुकी है और वह वीतराग कहलायगा। धर्म तो आत्माका स्वरूप है, वह बाह्य में नहीं है।

प्रश्न–हम सब श्रावक तो कहलाते हैं न?

उत्तर–नाम से श्रावक कहे जा सकते हो, वास्तवमें तो सर्वज्ञ भगवान का अनुयायी ही सच्चा श्रावक है।

प्रश्न–अपने बालकोंको धर्म प्राप्त कराना हमारा कर्तव्य नहीं है?

उत्तर–कोई किसीको धर्म प्राप्त करा ही नहीं सकता।

प्रश्न–संसारियों को पहले सुख के लिये क्या करना चाहिये?

उत्तर–आत्माको पहिचानना ही सर्व प्रथम कर्तव्य है।

प्रश्न–आत्माको पहचानने के बाद क्या करना चाहिये?

उत्तर–आत्माकी पहिचान होने के बाद 'क्या करना चाहिये' यह प्रश्न ही नहीं रहता। ज्ञान होने पर ज्ञान से ही ज्ञान प्रगट होता है।

प्रश्न–आत्मा की पहिचान करने का क्या साधन है?

उत्तर–सत्समागम।

प्रश्न–सत्समागम कैसे होता है?

उत्तर–निवृत्ति लेकर होता है, बाह्यक्रिया से नहीं होता है।

प्रश्न–कोई कहता है कि 'मुझे आत्मज्ञान प्राप्त करना है, मैं समझता हूं कि यही उत्तम है' यों कहनेवाले का लड़का जब बीमार होता है तब वह जानता है कि 'यह लड़का मेरा नहीं है'–तब उसे क्या करना चाहिये?

उत्तर–पहले उसे यह पहचान होनी चाहिये कि इस लड़के का मेरे द्वारा कुछ भी होने जाने वाला नहीं है, फिर भी वह स्वयं अभी वीतराग नहीं हुआ है तबतक बचाने का भाव होता है।

प्रश्न–क्या कोई जीव पुण्य के बिना पहले से ही कोई धर्म नहीं कर सकता?

उत्तर–धर्म करते हुये बीचमें पुण्य तो आता ही है किन्तु पुण्य करते करते धर्म होता है यह त्रिकाल में भी कभी नहीं बन सकता।

प्रश्न–समझने के बाद क्या करना होता है?

उत्तर–समझ लेने के बाद ही बहुत कुछ करना होता है—समझने के बाद स्वरूप में स्थिरता करनी होती है।

प्रश्न–सभी संसारियोंको धर्म समझने के लिये क्या करना चाहिये?

उत्तर–सबकी चिंता छोड़कर मात्र अपनी बात करनी चाहिये।

प्रश्न–मुझे धर्म समझने के लिये क्या करना चाहिये?

उत्तर–शास्त्राभ्यास और सत्समागम करना चाहिये। सवेरे हमेशा धर्मशास्त्र का एक पाठ पढ़कर उसका ठीक अर्थ समझना चाहिये। यदि बिना समझे जीवनभर बोलता रहे और पढ़ता रहे तो भी कोई लाभ नहीं होगा।

प्रश्न–पहले कौनसी पुस्तक पढ़नी चाहिये?

उत्तर– जैनसिद्धांत प्रवेशिका, मोक्षमार्ग प्रकाशक, आत्मसिद्धि शास्त्र इत्यादि समझ पूर्वक पढ़ना चाहिये।

प्रश्न–क्या शुभभाव करना सो अज्ञान है?

उत्तर–शुभभाव को धर्म मान कर अथवा लाभकारक मान कर करना सो अज्ञानता है। अशुभ को टालने के भाव से आत्मा की पहिचान के साथ शुभभाव करना सो योग्य है। बिना जाने समझे किये हुये शुभभाव निश्चय से पाप की ही कोटि के हैं। आत्मा के गुण के लिये तो शुभभाव भी अच्छा नहीं है पुण्य और पाप दोनों विकार हैं। धर्म अविकारी स्वरूप है। अशुभ से बचने के लिये पुण्य करने को कोई नहीं रोकता, किन्तु आत्मा की पहिचान धर्म से ही होती है।

प्रश्न–उधर तो मोक्ष नहीं जा सकता हो और इधर संसार भी इष्ट न हो तो क्या कोई बीच का भी मार्ग है?

उत्तर–दूसरा कोई मार्ग नहीं है। या तो संसार हो सकता है या फिर मोक्ष।

प्रश्न-यदि कोई पुण्य ही करे और पाप बिल्कुल न करे तो पुण्य अच्छा कहलायगा या नहीं?

उत्तर-बिना भान के मात्र पुण्य नहीं हो सकता। यदि कदाचित् विशेषरूप से शुभभाव करे तो एकाध भव स्वर्गादि को प्राप्त करके उसके बाद के भवमें आत्मभान के बिना (शुभ भाव विकार है और विकार एकरूप स्थिर नहीं होता इसलिये शुभ भाव को बदलकर) अशुभ भाव करके अनंत संसार को बढ़ायेगा। जो आत्मप्रतीति के साथ पुण्यभाव को करता है वह पुण्यभाव को अपना नहीं मानता। इसलिये वह पुण्यभाव को छोड़कर शुद्ध भावमें स्थिर होगा। कोई भी ज्ञानी अथवा अज्ञानी मात्र पुण्य में नहीं टिक सकता। निम्नदशा में पुण्यबंध के साथ ही साथ पापबंध होता है, मात्र पुण्य बंध नहीं हो सकता।

धर्म के लिये यह सारी बात प्रथम इकाई के समान है। पुण्य के मार्ग अनेक हैं, धर्म का मार्ग त्रिकाल में एक ही है। सम्यक्त्वी जीवोंको पूर्ण स्वरूपकी प्रतीति होती है किन्तु जिनके चारित्र में पूर्णता नहीं होती उनके परभावका (शुभाशुभ भाव का) स्वामित्व छूट जाता है किन्तु शुभभाव होता है। उनके अंतरंग में इस प्रकार का निषेध भाव होता है कि 'यह मेरा स्वरूप नहीं है'।

प्रश्न-अशुभ कर्मोंको दूर करने के लिये क्या तीर्थंकर भगवान को भी शुभभाव करने पड़ते हैं?

उत्तर-यह प्रश्न ही योग्य नहीं है क्योंकि तीर्थंकर वीतराग होते हैं। वीतराग के शुभाशुभ भाव हो ही नहीं सकता।

प्रश्न-सम्यक्त्वी को आत्मस्वरूप की प्रतीति होती है फिर भी वह लड़ता क्यों है तथा उसके राग क्यों होता है?

उत्तर-जबतक पूर्ण वीतराग नहीं हो जाता तबतक सम्यक्त्वी के राग होता है किन्तु वह रागको अपना नहीं मानता। अर्थात् वह उसका कर्ता नहीं होता, फिर भी जितना राग है उतनी पुरुषार्थ की अशक्ति तो है ही।

प्रश्न-धर्म के लिये पूजा आवश्यक है या नहीं?

उत्तर-पूजा अशुभभाव को छोड़ने मात्र के लिये शुभभाव में निमित्त है किन्तु उसमें धर्म नहीं होता। क्योंकि पूजा में भगवान के प्रति राग है और जो राग है वह धर्म नहीं हो सकता।

प्रश्न-केवली भगवान को पूर्ण ज्ञान प्रगट हो जाता है फिर भी वे संसार में क्यों अटके रहते हैं?

उत्तर-उनके योग का कंपन होता है इसलिये उतने अंश में उनके अपूर्णता है।

गुरुदेव के उद्‌गार

जबतक आत्मा की दरकार नहीं होती तबतक अर्थशून्य विचार उठते ही रहते हैं। मेरा क्या होगा? क्या मेरा आत्मा यों ही भटकता रहेगा? क्या मेरी और कोई गति नहीं है? जबतक इसप्रकार अंतरंग से समझने की जिज्ञासा जागृत नहीं होती तबतक उसे यथार्थ प्रतीति नहीं होती।

प्रश्न-क्या आत्मप्रतीति होने के बाद गुरु की आवश्यकता रहती है?

उत्तर-छठे गुणस्थान तक होती है (होती है और अवश्य रहती है इस में अंतर है) अरे! लोगोंको धर्मका स्वरूप समझना कठिन हो गया है।

संवत् १९५२ में श्रीमद् राजचंद्र ने कहा था:—"वर्तमान में जैनों में बहुत समय से एक आवरण पड़ा हुआ है, कोई ज्ञानी पुरुष है नहीं, बहुत समय से कोई ज्ञानी हुआ नहीं है, अन्यथा इसमें इतने अधिक कदाग्रह नहीं होते।"

व्याख्यान का सार

कर्म और आत्मा का एक क्षेत्र में रहना सो अवगाह क्षेत्र संबंध है। आत्मा के एक एक प्रदेश के साथ कर्म के रज-कण मौजूद हैं किन्तु वे आत्मा के साथ एकमेक नहीं हो जाते। आकाशकी जगह की अपेक्षा से आत्मा में कर्म एकमेक हुये कहलाते हैं।

ज्ञानकी क्रिया का निषेध नहीं किया है, शुभराग अथवा अशुभराग की क्रिया का तथा क्रोधादि का निषेध किया गया है। कर्म के संबंध का निषेध किया गया है।

प्रश्न-जहां कर्म जाता है क्या वहां आत्मा को भी साथ ले जाता है?

उत्तर-जब एक की ऐसी अवस्था होती है तब दूसरेकी भी वैसी ही अवस्था निमित्त नैमित्तिक संबंध को लेकर होती है। फिर भी दोनों अपने अपने स्वतंत्र कारण से साथ में जाते हैं। जब स्वयं विपरीत होकर विकारी भाव करता है तब कर्म निमित्त कहलाते हैं। परमार्थतः कर्म आत्माका कुछ भी नहीं कर सकते।

प्रश्न-वस्तु स्वरूप को समझने के बाद भी कर्मका फल तो भोगना ही पड़ता है न?

उत्तर-कर्म का फल तो बाह्य संयोग मिलने पर ही निर्भर है, किन्तु यदि जीव विकारीभाव को दूर करना चाहे तो आंतरिक शुद्धभाव से दूर कर सकता है।

पूज्य गुरुदेव के उद्‌गार

अहो ! आत्मा का स्वरूप त्रिकाल पवित्र है ऐसे जीव भी अनंत हैं जिनने अनादिकाल से कभी मनुष्य भव नहीं पाया। उनका आत्मा भी शक्तिकी अपेक्षा त्रिकाल पवित्र मूर्ति है।

विपरीत मान्यता संसार है और सीधी मान्यता मोक्ष। संसार और मोक्ष दोनें पर्याय में हैं। स्वभाव तो त्रिकाल निर्मल है और जो निर्मल है वह त्रिकाल निर्मल ही है।

पुण्य धर्म का नाशक (रोकनेवाला) है और धर्म पुण्य का नाशक है।

पर से लक्ष्य छोड़कर 'स्व' के ऊपर लक्ष्य करना सो सच्ची मान्यता है।

इस समय जैनधर्म का जहाज थपेड़ों में फंसता चला जारहा है, उसे बचाने के लिये अच्छे नाविक (सद्‌गुरु और सत्समागम) की आवश्यकता है।

पाप को पाप तो सभी कहते हैं किन्तु ज्ञानी जन पुण्य को भी पाप कहते हैं क्योंकि पुण्य और पाप दोनों बंधन भाव हैं, स्वभाव को रोकने वाले हैं।

[संयुक्तांक १०-११-१२ से आगे]

प्रकरण छट्ठा

कर्मचंद—मैं परका भला बुरा कर सकता हूं, सुख दुःख दे सकता हूं यह मान्यता गलत है, उसे पाप कहते हैं सो भी ठीक है, किन्तु आप उसे महापाप क्यों कहते हैं ? (यह सच है कि जीव अपूर्ण अवस्था में परको सुख दुःख देनेका भाव कर सकता है)

धर्मचंद—उसके महापाप होने का कारण यह है कि जीव दूसरे का कुछ कर नहीं सकता और अपना कर सकता है। यदि दूसरेका भी करने लगे तो स्वयं और पर एक हो जाय। क्योंकि जैसे वह अपना कर सकता है उसी तरह यदि परका भी करे तो पर अनंत वस्तुएँ हैं इसलिये स्वयं और अनंत वस्तुएँ उसकी मान्यतामें एक ही कहलायगी। जैसे वह अपना स्वामी है वैसे ही अनंत पर वस्तुओं का भी स्वामी हुआ। यह मान्यता अनादिकाल से चली आरही है और इसीलिये वह पर वस्तुमें इष्ट अनिष्टपन मानता है, इस प्रकार वह समस्त दुखोंका मूल होने के कारण महापाप है।

कर्मचंद—आपकी इस बातको मैंने समझ लिया है। मैं उसका सार कहे देता हूं। देखिये, इसमें कहीं कोई अंतर हो तो हमें सूचित कीजियेगा।

धर्मचंद—भले कहिये।

कर्मचंद—आपने जो कहा है, उसका सार इस प्रकार है:—

(१) एक जीव पर का कुछ भी नहीं कर सकता।

(२) स्वयं अपने में विकारी अथवा अविकारी भाव कर सकता है।

(३) जबतक संपूर्ण अविकारी भाव प्रगट नहीं होते तबतक जीवको अशुभभाव दूर करके शुभभाव करना चाहिये, किंतु उस शुभभाव को धर्म नहीं मानना चाहिये।

(४) ऐसा करने से जो अनंत परवस्तुएं हैं उन पर का ममत्व अभिप्राय में से निकल जाता है और इससे जो दान, दया, तप, पूजा, सेवा इत्यादि करता है वह अपने अशुभ भावों को दूर करने के लिये तथा लोभ कषाय को कम करने के लिये करता है वह पर के भले के लिये नहीं करता। इसलिये पर चाहे जैसी प्रवृत्ति करे तो भी निजको कोई हर्ष विषाद नहीं होता।

(५) स्वयं अपने में स्थिर रहने का प्रयत्न करता है और जब नहीं रह सकता तब तीसरे पहरा में बताई गई मान्यता के साथ चौथे पैरा के कथनानुसार प्रवृत्ति करता है और जो राग शेष रहता है उसमें अपना स्वामित्व नहीं मानता।

धर्मचंद—ठीक है, अब विशेष चर्चा कल करेंगे।

(दोनों अपने अपने स्थान पर चले जाते हैं)

प्रकरण सातवां

आत्म स्वरूप के ज्ञायक सम्यग्दृष्टि साधक जीव के पुण्य का स्वरूप; क्या पुण्य का ठेका उनका है?

कर्मचंद-इस संबंधमें विचार करनेपर प्रश्न उठता है कि तीर्थंकर नामकर्म ऐसा है कि जिस जीव के वह कर्म होता है वह जरूर वीतराग हो जाता है। इसलिये जिस भाव से तीर्थंकर पदकी प्राप्ति होती है वह भाव शुभभाव है तब फिर उसे उपादेय क्यों नहीं मानना चाहिये ?

धर्मचंद—आपके प्रश्न का उत्तर देने के लिये पहले आपसे ही निम्न लिखित बातों के संबंध में जान लेना आवश्यक है:—

(१) वह शुभभाव मिथ्यादृष्टि के होता है या सम्यग्दृष्टि के होता है।

आत्मस्वरूपका अज्ञानही महापाप है

❀ (श्री रामजीभाई माणेकचंद दोशी) ❀

जीवके यदि दुःख से मुक्त होना हो तो उसे सूक्ष्म दृष्टि से यह निर्णय करना ही चाहिये कि दुःख कैसे होता है और वह कैसे छूट सकता है। अनादिकालसे यह भूल चली आरही है, पुण्य के स्वरूपको बराबर समझना चाहिये जिससे यह भ्रम दूर हो जाय कि 'पुण्य से धर्म होता है' और यह ज्ञात हो सके कि पुण्यकी मर्यादा कितनी है। पाप क्या है और उसमें महापाप क्या है? इस के स्वरूपको समझना चाहिये। इस के बिना कभी भी सच्चा सुख नहीं मिल सकता।

(२) उस भाव को सम्यग्दृष्टि उपादेय—आत्म स्वरूप मानता है या विकार मानता है।

कर्मचंद—(१) वह भाव तो सम्यग्दृष्टि के ही होता है, मिथ्यादृष्टि के हो ही नहीं सकता।

(२) सम्यग्दृष्टि उसभाव को अपना स्वरूप नहीं मानता, जो उसभाव को निज स्वरूप मानता है उसे तो उसका भाव हो ही नहीं सकता।

धर्मचंद—यह ठीक है, जो जो तीर्थंकर भगवान होते हैं वे पहले अपने पुरुषार्थ से सम्यग्दर्शन प्रगट करते हैं और उनके जो राग रह जाता है उस भावका निमित्त पाकर तीर्थंकर नाम कर्म बंधता है।

कर्मचंद—तब तो इसका अर्थ यह हुआ कि शुभभाव का ठेका सम्यग्दृष्टि ने ही लिया है।

धर्मचंद—उनका ठेका तो शुद्धताको प्रगट करने का है किंतु उसमें जब अपूर्णता होती है तब सातिशय पुण्य प्रकृतियों का अवांछित वृत्ति से बंध हो जाता है। उसे यदि आप पुण्य का ठेका कहना चाहते हों तो भले कहे किन्तु सम्यग्दृष्टि जीव उस राग भावको और तीर्थंकर प्रकृतिको-दोनों को उपादेय नहीं मानते।

कर्मचंद—यह तो 'ज्यों ज्यों ढील दी त्यों त्यों हाथ में आता गया' ऐसी बात हुई। क्या सातिशय पुण्यका भी कोई दूसरा नाम है।

धर्मचंद—उस पुण्य को पुण्यानुबंधी पुण्य कहते हैं। 'ज्यों ज्यों ढील दी त्यों त्यों हाथ में आता गया' जब ऐसा राग होता है तब सम्यग्दृष्टि के ऐसा बनता है किन्तु वह उसका मालिक नहीं है। इसलिये उसके आया हुआ भी नहीं कहा जा सकता। सम्यग्दृष्टि तो मात्र उसका ज्ञाता दृष्टा है।

कर्मचंद—आत्मस्वरूपके अजान व्यक्ति को पुण्य होता है उसका कोई विशेष नाम है?

धर्मचंद—हां, उसे पापानुबंधी पुण्य कहा जाता है।

कर्मचंद—उस पुण्य का स्वरूप क्या है?

धर्मचंद—श्री परमात्म प्रकाश अध्याय २. गाथा २० में इस प्रकार कहा गया है:—

पुण्णेण होइ विहवो विहवेण म ओमएण मइ-मोहो।
मइ-मोहेणय पावं ता पुण्णं अम्ह मा होउ ॥२०॥

पुण्येन भवति विभवो विभवेन मदो मदेन मति मोहः।
मतिमोहेन च पाप तस्मात् पुण्यं अस्माकं मा भवतु ॥

अर्थ—पुण्य से धन होता है, धन से अभिमान होता है, अभिमान से बुद्धिभ्रम होता है और बुद्धिभ्रम होनेसे पाप होता है, इसलिये ऐसा पुण्य हमारे न हो।

टीकाकार कहते हैं कि मिथ्यादृष्टि जीव को पुण्य के फल से प्राप्त संपदा से अभिमान होता है, अभिमान से बुद्धिभ्रष्ट होती है, बुद्धिभ्रष्ट होने से पाप कमाता है और पाप से भव भवमें अनंत दुःख पाता है इसलिये मिथ्यादृष्टियों का पुण्य पाप का ही कारण है।

सम्यक्त्वादि गुण सहित विवेकी जीव के पुण्यबंध अभिमान उत्पन्न नहीं करता। उन्हें चाहे जैसी महान् विभूति प्राप्त हुई हो तो भी वे मद अहंकारादि विकल्पों को छोड़कर सम्पूर्ण पवित्रता को प्रगट करते हैं। मिथ्यादृष्टियों को पुण्य का फल (विभूति) गर्व का कारण होता है, सम्यग्दृष्टियों को नहीं।

कर्मचंद—आपके कहने से तो यह स्पष्ट होता है कि जीव को यदि दुःख से छूटना हो तो उसे सूक्ष्म दृष्टि से यह निर्णय करना ही चाहिये कि दुःख क्योंकर होता है और वह कैसे मिट सकता है। अनादिकाल से यह भूल चली आरही हैं। पुण्य का स्वरूप ठीक ठीक समझ लेना चाहिये, जिससे यह भ्रम दूर हो जाय कि पुण्य से धर्म होता है और यह समझा जा सके कि पुण्य की मर्यादा कितनी है। पाप क्या है? और उसमें महापाप क्या है? इसका स्वरूप समझना चाहिये। इसके बिना सच्चा सुख कदापि नहीं मिल सकता। जो पुण्य के स्वरूपको ही नहीं समझता वह पुण्य कैसे करेगा।

(शेष पृष्ठ ४७ पर)

पर्वाधिराज पर्यूषण पर्व

वैसे सुवर्णपुरी एक तीर्थधाम तो है ही किंतु पर्यूषण के दिनों में वह साक्षात् धर्मक्षेत्र बन जाता है पर्यूषण के दिन सुवर्णपुरीमें पंचम नहीं किन्तु चतुर्थकाल की याद दिलाते हैं।

सुवर्णपुरी में क्या नहीं है, सबकुछ है। एक तरफ भव्य जिनालय है, जिसमें मूलनायक के रूपमें श्री सीमंधर भगवान की अत्यंत भाववाहिनी प्रतिमाजी विराजमान हैं। जिनालय के पिछले भागमें अद्‌भुत समवशरण (धर्मसभा) है, जिसमें कुंदकुंद आचार्य सीमंधर भगवान का उपदेश ग्रहण कर रहे है। एक तरफ यह पवित्र दृश्य दिखाई देता है और दूसरी ओर जन्म मरण के भयंकर रोग को दूर करने के लिये महामंगल मंदिर-श्री जैन स्वाध्याय मंदिर है, जिसमें वीतराग की साक्षात् वाणी के समान परमागम श्री समयसारजी विराजमान है; जिनकी विधि-पूर्वक प्रतिष्ठा की गई है। इसप्रकार वहां सच्चे देव, सच्चे गुरु और सच्चे शास्त्र का अपूर्व सुमेल पाया जाता है।

यहां की बहुत बडी विशिष्टता यह है कि यहांपर परम पूज्य श्री कानजी स्वामी विराजमान हैं। वे वीतराग प्रभुकी छत्रच्छाया के नीचे व्याख्यान पीठिका पर विराजमान होकर सत् धर्मका धारावाहिक उपदेश देते हैं जिससे धर्मोपदेष्टाकी एक बहुत बड़ी कमीकी पूर्ति हो जाती है।

पर्यूषण के दिनों में इस धर्मक्षेत्र में धर्म लाभ लेने के लिये सैंकडों धर्मप्रेमी आते हैं। इन दिनों में वास्तव में सुवर्णपुरीमें सच्चा धर्मोत्सव मनाया जाता है। मुमुक्षुओंका धर्म प्रेम अद्‌भुत मालूम होता है। मूसलधार वर्षा के बीचमें भींगते हुये भी अनेक भाई बहिन इन महा पुरुष के मुख से बहते हुये धर्मबोध के प्रवाहको ग्रहण करने के लिये सहर्ष आते हैं और श्री कानजी स्वामी अत्यंत सुमधुर वाणी द्वारा बिलकुल स्पष्टता से आत्माका स्वरूप और धर्मकी दुर्लभता इत्यादि समझाते हैं। उनके प्रवचन का कुछ सार यहां दिया जाता है:-

१—[त्रिकाल स्पष्ट निर्मलानंद चैतन्य ज्योति एक-रूप वस्तु है, उसमें बंध मोक्ष का भेद नहीं है। इस प्रकार पंचमकाल के अज्ञानी शिष्य के लिये आचार्यदेव ने कहा है।

२—आत्म वस्तु स्वरूप के माहात्म्य के बिना और उसे जाने बिना अनंत कालमें सबकुछ कर चुका है। दान, दया, तप, व्रत, हिंसा, चोरी इत्यादि सब कुछ अनंत बार कर चुका है। किन्तु अनंतकालमें यह नहीं समझ पाया कि इस सब के उसपार आत्मा का स्वभाव क्या है। यदि यथार्थ स्वरूप को समझे तो रुचि हो, रुचि हो तो स्थिर हो और स्थिर हो तो संसार न हो।

३—'प्रभु! तू है, त्रिकाल है, अनंत कालमें अनंत शरीर धारण किये हैं' यह कहने पर उसे स्वीकार किया तो उसमें 'अनंत शरीर धारण किये हैं' इस अनंत का ख्याल एक क्षण में आगया। 'यदि अनंत भव न किये होते तो अभी मुक्ति हो जाती, इससे अनंत भव हुये' यह निश्चित करने वाला ज्ञान अनंत को जानने वाला है और जिस ज्ञानने अनंत को जाना है उसमें वीर्य अनंत है, स्थिरता अनंत है, श्रद्धा अनंत है, समस्त गुणों की अनंतता एक साथ ही है।

जो ज्ञान एक क्षणमें अनंत को जानता है वह एक समय में भी अनंत को जानता है क्योंकि एक क्षण में असंख्यात समय हैं और एक क्षणमें ज्ञानने अनंत को जाना है। यदि उस अनंत के असंख्य भाग किये जावे तो अनंत आयगा। इसलिये ज्ञान एक समय में-वर्तमान में अनंत को जानता है। प्रभु! अपनी प्रभुता तो देख, यह तेरी प्रभुता का गान हो रहा है।

४—प्रभु, तू आत्मा और तेरे साथ कर्म का बंध यह कहते हुये लज्जा मालूम होती है। तू एक और तुझे कर्म का बंध कहना सो कलंक है। प्रभु, तू एक स्वतंत्र वस्तु है, तुझे रागद्वेष या कर्म का संग कहना सो उचित नहीं मालूम होता। तेरे साथ बंधन कहना पड़ता है, यह खेद की बात है।

हमें इस बंधन की बात कहते हुये भी लज्जा मालूम होती है तब तुम्हें सुनते हुये यह होना चाहिये कि अरे! मेरे कर्मका संग नहीं है। प्रभु, तेरे स्वरूप में कर्म नहीं है। एक तत्त्व का परके साथ संग कहना सो स्वतंत्रता की लूट है, इससे पराधीनता आती है। प्रभु, तेरे आत्मा को कर्मका संग त्रिकाल में भी नहीं है।

५—सम्यग्दर्शन में न तो रागद्वेष का भरोसा है और न निर्मल पर्याय का ही। इतना ही नहीं किन्तु सम्यग्दर्शनका अपना भी भरोसा नहीं है किन्तु एकक्षण में परिपूर्ण अनंत गुणोंका पिंड जो अखंड वस्तु है वही सम्यग्दर्शन का विषय है।

६—अन्य पांच द्रव्यों (धर्मास्ति, अधर्मास्ति, आकाश, काल और परमाणु) को दुःख नहीं और तुझे दुःख है ऐसा कहना-बंधन बद्ध कहना सो लज्जाकी बात है-खेद की बात है। तुझे अपने शाश्वत टंकोत्कीर्ण स्वरूप की स्वाधीनता का भान नहीं है और पर के आश्रयको मान रहा है यह तुझे शोभा नहीं देता। इसलिये अब तू अपने अकेलेपन में आजा और द्वित्वको छोड़दे। तू चैतन्य राजा है, तब तुझे परका तावेदार कहना संगत नहीं माल्म होता।

७—स्वरूपकी प्रतीति सहित परिग्रहकी मर्यादा करने वालेकी दृष्टिमें तो अभाव है ही, वह अस्थिरता होने के कारण मर्यादा करता है। उसकी दृष्टि तो वीतरागता पर ही है, उसकी अनंत गुण पर रुचि है, पर पदार्थकी रुचिवालेको अनंत पदार्थकी रुचि है और स्वकी रुचि वालेको पर पदार्थकी किंचित् मात्र भी रुचि नहीं है। अस्थिरता होने से अल्प आसक्ति होती है किन्तु दृष्टिमें तो अभावकी ही इच्छा करता है।

८—यह तीसमारखां का बेटा भवका भाव रखकर भवमें भ्रमण किया करता है किन्तु इस भाव से एक भी भव नहीं किया कि मुझे 'भव का भाव नहीं चाहिये' यदि एकबार भी यह कह दे कि 'भव नहीं, भवका भाव नहीं' तो उसे भव हो ही नहीं। 'मेरे स्वरूप में भव नहीं है, भवका भाव भी नहीं है और अब भव भी नहीं है। इस प्रकार भवका भाव तोड़कर एक भी भवको पलट दे तो उसके भव हो ही नहीं।

९—भगवन् तू अनंतकाल से अपने आत्मतत्त्वकी प्रतीति के बिना संसारमें भटक रहा है। परकी महिमा में निजकी महिमा अंतर्भूत होगई है। देखनेवाले नेदेख-नेवालेको नहीं जान पाया और परवस्तुमें सुखको मान बैठा है, इसलिये स्वभावकी अनंत शांतिको पलटकर अनंत आकुलता का संवेदन कर रहा है।

१०—अरे! तुझे यह नहीं दिखाई देता कि यह आशा तो प्रत्येक क्षण में नई नई बदलती जा रही है जो क्षण क्षण में बदलती रहती है, वह विकार है। एक रूप नहीं, इसलिये वह करने योग्य नहीं है। क्या तुझे ऐसा नहीं लगता कि जो भीतर त्रिकाल एक रूप स्वभाव मौजूद है उसी की प्रतीति करनी होगी।

उपरोक्त दश उपदेश वचन श्री कानजी स्वामी द्वारा दिये गये पर्यूषणपर्व में समयसारजी के प्रवचन में से ग्रहण करके लिखे गये हैं।

इसके अतिरिक्त श्री कानजी स्वामी दो पहरमें सत्ता स्वरूप पर प्रवचन करते थे। इस प्रकार पूज्यश्री कानजी स्वामी की अद्भूत धर्म वाणी का लाभ आबाल वृद्ध सभी को प्राप्त हुआ था। सायंकाल को मंदिर जी में भक्ति होती थी, जिसमें देव गुरु की स्तुति, स्तवन, पद इत्यादि उत्साह पूर्वक गाये और गवाये जाते थे।

हमेशा सवेरे और रात्रि को धार्मिक प्रश्नोत्तर होते थे; जिसमें बहुतबडी संख्यामें पुरुषों उपस्थित होते थे और अपनी शंका का समाधान प्राप्त करते थे। रात्रिमें चर्चा से पहले हमेशा प्रतिक्रमण होता था, जिसमें सैकडों मुमुक्षु लाभ लेते थे। विगत संवत्सरी के दिन लगभग ७०० भाइयोंने प्रतिक्रमण में भाग लिया था। पर्यूषण के दिनों में दो बार जलूस निकला था जिसमें करीब २००० भाई बहिनोंने अत्यंत उल्लास पूर्वक भाग लिया था।

इस प्रकार सुवर्णपुरी के धर्मक्षेत्र में विगतवर्ष और उससे भी अधिक उत्साह पूर्वक गतवर्ष पर्यूषण पर्व मनाया गया था। इस वर्ष और भी अधिक धार्मिक आयोजना के साथ पर्यूषण पर्व मनाया जायगा। पर्यूषण पर्व की शोभा का मूल तो स्वाध्याय मंदिर में ही है। इस मूल के द्वारा समस्त वृक्ष को जो संपुष्टि मिली है वह बाहर अप्रगट नहीं है।

परम पूज्य श्री कानजी स्वामी सुवर्णपुरी में निरंतर धर्म का उपदेश देकर शासन पर महान उपकार कर रहे हैं। उनकी वाणी को सुनना भी जीवन की सार्थकता है। उनके उपदेश की नींव में आत्मा के स्वरूप की यथार्थ समझ विद्यमान है। सचमुच ही यह सत्पुरुष पंचम कालमें भरत क्षेत्र में अद्वितीय धर्मवीर प्राप्त हुआ है और भरत क्षेत्र में इन धर्मवीर ने धर्म काल प्रवर्तित कर दिया है।

वे धर्मवीर त्रिकाल जयवंत हो
जिनने शासन का प्रचार किया है।

वीतराग—वाणी

श्रुतपंचमी पर

परम पूज्य श्री कानजी स्वामी के
❀ प्रवचन से ❀

श्री जयधवला में चारित्र कैसा होता है इसका कथन है, संयम के निर्वाह के लिये आहार की वृत्ति अथवा पंचमहाव्रत्त पालन करने का विकल्प भी निश्चय चारित्र का भंग है। निश्चय चारित्र का स्वरूप कहा जायगा। केवलज्ञानी के द्वारा कही गई यह बात है। केवलज्ञान को प्राप्त करनेवाले आचार्योंने इसका संग्रह किया है, वही यहां कही जा रही है, किसी की शक्ति नहीं है जो इसे बदल सके।

प्रत्याख्यान—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से लगे हुये दोषों का त्याग करना सो प्रत्याख्यान है अथवा समस्त प्रकार के दोषों से मुक्त होकर स्वरूप में ही स्थित रहने की प्रतिज्ञा करना सो प्रत्याख्यान है। और एक बार स्वरूप की स्थिरता हो जाने के बाद उससे चलित होना सो अप्रत्याख्यान है।

प्रतिक्रमण-अप्रत्याख्यान से अलग होना सो प्रतिक्रमण है। अर्थात् प्रत्याख्यान में लगे हुये दोषों से (अस्थिरतासे) अलग होकर स्वरूप में पुनः स्थिर होना सो प्रतिक्रमण है।

मुनि समाधिमरण के समय निर्दोष आहार की वृत्ति का अथवा महाव्रत के शुभभाव का भी त्याग करते हैं; उसे यहांपर प्रतिक्रमण कहा है। इसलिये शिष्य के प्रश्न उठता है कि:—

शिष्य का प्रश्न-समाधि के समय मुनि आहारादि का त्याग करते हैं, इसलिये वह प्रत्याख्यान कहा जा सकता है किन्तु उसकी जगह आपने उसे प्रतिक्रमण कैसे कहा?

उत्तर-समाधिमरण के समय मुनि को प्रतिक्रमण कहा है, उसका कारण यह है कि—जो स्वयं प्रतिक्रमण न हो किन्तु प्रतिक्रमण जैसा हो उसे भी उपचार से प्रतिक्रमण कहा जाता है। इसलिये यहां पर मुनि जो समाधिमरण करते हैं उसके उपचार से प्रतिक्रमण के रूपमें स्वीकार किया है।

मुनि समाधि के समय विचार करते हैं कि- परम वीतराग दशा के अतिरिक्त जो कुछ भी संयम व्रत अथवा महाव्रत के पालन करने की वृत्ति जाग्रत होती है वह हमारे प्रत्याख्यान में भंगरूप ही है। हमारा प्रत्याख्यान तो वीतरागता को प्रगट करके केवलज्ञान को प्रगट करना था। हमारे प्रत्याख्यान में साधक और साध्य के बीच (चारित्र और वीतरागता के बीच) अंतर हो ही नहीं सकता।

अहा! तनिक देखो तो इस मुनिदशा को, मुनित्व और केवल ज्ञान के बीच कोई अंतर है नहीं, ऐसा मुनित्व का स्वरूप स्थापित किया है। निर्ग्रंथ मुनित्व में निर्दोष आहार की अथवा पंच महाव्रत की जो वृत्ति आती है सो वह प्रत्याख्यान में भंग रूप है। पहले जब हमने मुनित्व ग्रहण किया और सातमें गुणस्थान में निर्विकल्प दशामें स्थिर हुये तब हमने चारित्र ग्रहण किया था। उस चारित्र में सातमें से सीधे वीतराग ही हो जाने की बात थी। छठे गुणस्थान में वापस आने की बात ही नहीं थी हमारा ऐसा चारित्र (प्रत्याख्यान) था, परंतु अपने पुरुषार्थ की कमजोरी के कारण हम पुनः छठे गुणस्थान में आये और इसप्रकार हमारे चारित्र का भंग हुआ। यों हमारे निश्चय चारित्र के प्रत्याख्यान में दोष लगा है, उस दोष का समाधि मरण के समय त्याग किया जाता है इस अपेक्षा से उसे प्रतिक्रमण कहा है, यों आचार्य भगवान ने कहा है।

सामान्य प्रत्याख्यान में बीच में कोई भेद हो ही नहीं सकता, उसके बीच में कोई वृत्ति नहीं आसकती। जैसा शुद्ध स्वभाव है, वैसी ही शुद्ध पर्याय हो जाती है, वही प्रत्याख्यान है।

सातमें गुणस्थान के बाद जो छठा गुणस्थान आया वह चारित्र में भंग हुआ कहलाता है, वही प्रत्याख्यान में दोष लगा कहलाता है। निश्चय महाव्रत में सत्य दयादि समस्त विकल्पों का त्याग है। पांचमहाव्रत भी व्यवहार है, उसका भी त्याग है।

आत्मा का शुद्ध स्वभाव बिल्कुल निर्विकल्प है, उसमें कोई वृत्ति आये तो उस सबका हमने साधु होते समय (निर्विकल्प होने के समय) प्रत्याख्यान किया था और हमने तो वस्तु में ही स्थिर होजाने का निश्चय किया था। हमारे चारित्र और केवलज्ञान के बीच कोई भेद नहीं था। इसप्रकार बीच का विकल्प तोड देता है-इनकार करता है कि हमने तो ऐसा चारित्र ग्रहण किया था जिससे उसी क्षण

वीतरागता आजाय, किन्तु क्या किया जाय ? हमारी शक्ति की निर्बलता के कारण निर्दोष आहार लेने की वृत्ति आगई वह भी हमारे निश्चय महाव्रतमें भंग पडा है।

ओहो ! देखो तो इस दशा को, लोगों के भाग्य को तो देखो, मानों साक्षात् वीतराग की वाणी है। कान में बात के पड़ते ही भीतर झनझनाहट हो जाती है कि मानों केवलज्ञान आगया। संतोंने अपने हृदयकुंड में वीतराग के पेट का अमृत भर रखा है और उसका प्रवाह यहांपर बहता हुआ छोड़ दिया है। अहो ! जगत् का यह भाग्य है कि वीतराग की वाणी रह गई है। आचार्य भगवान कहते हैं कि:—हमारा कार्य तो इतना था कि विकल्प को तोड़कर सातमें गुणस्थान में जहां स्वरूप की रमणता में बलपूर्वक स्थिर हुये, वहां से छठे गुणस्थान में वापिस आने की बात ही नहीं थी, वहां से सीधी वीतरागता ही प्राप्त करनी थी। यहां तो छठे गुणस्थान में आने का खेद है।

सामान्य प्रत्याख्यान में तो भंग होता ही नहीं, किन्तु बीच में (छठे गुणस्थान में आने से) भंग पड़ गया है, इसलिये प्रतिक्रमण आता है। यदि सामान्य प्रत्याख्यान एक रूप रहा होता तो मुनि के प्रतिक्रमण नहीं कहलाता। मरण समय के प्रतिक्रमण से तो वास्तव में सामान्य प्रत्याख्यान में पड़े हुये भंगकी संधि की है।

आज श्रुतपंचमी है; आज ज्ञान की आराधना का दिन है, आज क्या नहीं समझा जाता, आज तो केवल ज्ञान हो सकता है। इस हिसाब वहांमें वापिस होने की बात ही नहीं है। आज श्री भूतबलि और पुष्पदंत आचार्यों ने श्रुतकी पूजाकी थी, यह श्रुतपूजाका दिन है।

वास्तव में मुनि के समाधि के समय प्रत्याख्यान होता है, किन्तु मुनिदशा के समय लिये हुये सामान्य प्रत्याख्यान में से चलित हो जाने के कारण पूर्व के प्रत्याख्यान का ज्ञान कराने के लिये उसके प्रतिक्रमण कहा गया है क्यों कि जहां प्रतिक्रमण होता है वहां पहले प्रत्याख्यान होना चाहिये। उस प्रत्याख्यान में भंग पड़ा, इसलिये प्रतिक्रमण है। इसप्रकार पूर्वका प्रत्याख्यान याद आता है। यहांपर प्रथम मुनिदशा के समम लिये गये सामान्य प्रत्याख्यान और समाधि मरण के बीच संधि कराने के लिये प्रतिक्रमण कहा गया है। वास्तव में तो समाधि के समय मुनि के चारित्र और केवलदशा के बीच के अंतर का नकार किया है। यद्यपि इस भव में केवलज्ञान नहीं है किन्तु इस समाधि मरण से मुनिगण केवलज्ञान के साथ संधि करते हैं, यों आचार्यदेव ने कहा है। ★

(शेष पृष्ठ ४३ से आगे)

जब कुछ शुभभाव होता है तब उसका अव्यक्त अभिमान भी होता ही है। 'मैं परका भला कर सकता हूं' जब यह मानता है तब नम्रता–करुणाबुद्धि होनेपर भी यह भ्रम हो ही जाता है कि मैं परका कुछकर सकता हूं–मुझे वह करना ही चाहिये–यह मेरा कर्तव्य है और इस भ्रमसे उसके भीतर अव्यक्त अभिमान हो ही जाता है।

धर्मचंद—ठीक है, वैसे अभिमान को शास्त्रीय परिभाषामें 'अनंतानुबंधी मान' कहते हैं।

कर्मचंद—यह ठीक है, क्योंकि यदि एक का भला किया जा सकता हो तो अनंत का भी किया जा सकता है। इसलिये वह अभिप्राय में अनंत परवस्तुओं का स्वामी हुआ। मैं सबका सेवक हूं ऐसा मानना सो भूल है। सम्यग्दृष्टि जिस जिस शुभभावमें युक्त होता है वह किसी के भले के लिये नहीं किन्तु अपने भले के लिये होता है। अर्थात् अशुभ राग को टालने के लिये पुण्यभाव करता है। राग हमेशा पर लक्ष्य से होता है इसलिये यदि पर को लाभ होना हो तो पर के अपने कारण से होता है। मैंने इस बात को भली भांति समझ लिया है। इस प्रकार यह विषय पूर्ण होता है।

धर्मचंद—आप समझने की इच्छा रखते हैं यह अनुमोदनीय है। इस मान्यता को लक्ष्यमें रखकर उसे बारम्बार याद करना चाहिये। उसके लिये स्वाध्याय इत्यादि करना चाहिये, शास्त्रों के अर्थों की पद्धति को ठीक ठीक समझना चाहिये, इससे उसकी मान्यता और ज्ञान अधिक निर्मल होगा। यदि वह जान लेगा कि सत् किस प्रकारका है तो वह असत् को दूर कर सकेगा। ★

सूचना

यद्यपि 'आत्मधर्म' का गतांकमें सूचना दी गई थी कि आषाढ़ शुक्ला पूर्णिमा तक आपकी ओर से दूसरे वर्षका चन्दा नहीं आयेगा तो आत्मधर्मका १५ वां अंक वी. पी. से भेजा जायगा किन्तु डाक हड़ताल से आप अपना चंदा नहीं भेज सकें और न हम आपको इस अंक वी. पी. से भेज सकते हैं।

अतः १५ वां अंक वैसा ही भेजा जा रहा है। आशा है, हड़ताल खुलते ही कृपालु ग्राहक अपना चन्दा म. ओ. से भेज देंगे अथवा उनके नाम 'आत्मधर्म' का आगामी अंक वी. पी. से पहुंचेगा तो वे उसे छुड़ा लेंगे।

ATMADHARMA
With the permisson of the Baroda Govt.
order No 30-24 date 31-10-44
Regd. No. B. 4875

श्री गुरु स्तुति

ते गुरु मेरे मन वसो, जे भव जलधि जिहाज ।
आप तिरहिं पर तारहीं, ऐसे श्री ऋषिराज ॥ ते गुरु० ॥

मोह महा रिपु जानिके, छांडयो सब घर–बार ।
होय दिगम्बर वन बसे, आतम शुद्ध विचार ॥ ते कुंद प्रभु० ॥

रोग उरग–बिल वपु गिण्यो, भोग भुजंग समान ।
कदली तरु संसार है, त्याग्यो सब यह जान ॥ ते गुरु० ॥

रत्नत्रय निधि उर धरें, अरु निर्ग्रंथ त्रिकाल ।
मार्यो काम खवीस को, स्वामी परम दयाल ॥ ते कुंद प्रभु० ॥

पंच महाव्रत आदरें, पांचों समिति समेत ।
तीन गुपति पालें सदा, अजर–अमर पद देत ॥ ते गुरु० ॥

धर्म धरें दसलाछनी, भावें भावन सार ।
सहैं परीसह बीसदो, चारित रतन भण्डार ॥ ते कुंद प्रभु० ॥

जेठ तपै रवि आकरौ, सूखें सरवर नीर ।
शैल–शिखर मुनि तप तपैं, दाझें नगन शरीर ॥ ते गुरु० ॥

पावस रैन डरावनी, बरसै जल धरधार ।
तरुतल निवसें तब यती, बाजै झंझा ब्यार ॥ ते कुंद प्रभु० ॥

शीत पड़ै कपि मद गलै, दाहै सब वनराय ।
ताल तरंगिनि के तटै, ठाड़े ध्यान लगाय ॥ ते गुरु० ॥

इहिविधि दुद्धर तप तपैं, तीनों काल मंझार ।
लागे सहज सरूप में, तनसों ममत निवार ॥ ते कुंद प्रभु० ॥

पूरब भोग न चिंतवें, आगम वांछें नाहिं ।
चहुंगतिके दुख सों डरें, सुरति लगी शिव माहिं ॥ ते गुरु० ॥

रंगमहल में पोढते, कोमल सेज बिछाय ।
ते पच्छिम निशि भूमिमें, सोवें संवरि काय ॥ ते कुंद प्रभु० ॥

गज चढि चलते गरवसों, सेना सजि चहुरंग ।
निरखि निरखि पग वे धरें, पालें करुणा अंग ॥ ते गुरु० ॥

वे गुरु चरण जहां धरें, जगमें तीरथ जेह ।
सो रज मम मस्तक चढो 'भूधर' मांगे एह ॥ ते कुंद प्रभु० ॥

मुद्रक : चुनीलाल माणेकचंद रवाणी, शिष्ट साहित्य मुद्रणालय, दासकुंज, मोटा आंकडिया–ता. ४–८–४६
प्रकाशक : जमनादास माणेकचंद रवाणी, आत्मधर्म कार्यालय, मोटा आंकडिया, काठियावाड

धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है।

वर्ष : दूसरा
अंक : ४-५

संपादक
रामजी माणेकचंद दोशी
वकील

श्रावण-भाद्रपद
२४७२

आत्माका यथार्थ निर्णय

साक्षात् तीर्थंकर भगवान से आया हुआ उपदेश परम गुरुओंकी परंपरा से प्राप्त हुआ है। संतोंने उसे अनुभव में लेकर जन्म मरण नाशक शुद्धदृष्टि से अज्ञानरूपी अंधकारको दूर करने का उपाय शुद्धनय है, यह जानकर संसारी जीवों के भाव मरणोंको दूर करने के लिये अकषाय करुणा करके शुद्धनयको ही मुख्यतः देकर उसका प्रगट उपदेश खूब बलपूर्वक किया है।

जड़ कर्म के बंधन से रहित, पर में कार्यकारण हीन पूर्ण ज्ञान-घन स्वभाव आत्मा है, उसे यथार्थ जानकर उसका श्रद्धान करना, पर्याय बुद्धि न रहना अर्थात् वर्तमान संयोगी अवस्थाको अपना स्वरूप न मानना,

और परमें-कर्तृत्वकी मिथ्या बुद्धि के फलमें अनादिकाल से चक्कर लगाता है, इसलिये उस भूलका त्याग करके मैं वर्तमान अवस्था के बराबर ही नहीं हूं किन्तु मैं विकारी अवस्था का नाशक हूं, इस प्रकार शुद्धनय के द्वारा पूर्ण केवलज्ञान स्वभावी आत्माको स्वीकार करना सो सच्ची श्रद्धा का विषय है।

पूर्ण स्वरूप शुद्ध आत्मा के यथार्थ निर्णय के विना सची श्रद्धा नहीं हो सकती और स्वरूपकी सच्ची श्रद्धा के विना यथार्थ चारित्र और केवलज्ञान नहीं हो सकता।

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

शाश्वत सुखका मार्ग दर्शक मासिकपत्र

एक अंक
पांच आना

आत्मधर्म कार्यालय—मोटा आंकड़िया—काठियावाड

इसके विना कैसे रहा जा सकता?

पूज्य श्री कानजी स्वामी के द्वारा श्री समयसारजी की गाथा ३३ पर प्रवचन

धर्म उसका नाम है कि धर्म को जाना, माना और उसके बाद जब प्रतिकूल प्रसंग आये तब समझे कि वह उसमें और मैं अपने में हूं। न तो उसमें मेरा हाथ है और न मुझमें उसका हाथ है किन्तु अभी जहां तक अपनी अशक्ति है वहां तक अशुभ राग को दूर करके शुभ राग होता है, और वह शुभराग भी अपनी मर्यादा में होता है क्योंकि स्वरूप की मर्यादा का उलंघन करके वह शुभ राग भी नहीं होता किन्तु यहां पर तो उस मर्यादा के शुभ राग को भी दूर करने की बात है।

समयसार जी में आचार्यदेव कहते हैं कि शरीर, मन, वाणी और पुण्य पाप के भाव तेरा नहीं है। तू इनसे पर है, वे तुझसे अत्यंत भिन्न हैं। तुझमें पर नहीं है यह आत्यंतिकरूप में निषेध किया हैं। जिसने पर से पृथकता जानली है उसने पर से एकत्व को भी उखाड़ फेका है। ऐसे मुनियों ने पर के साथ के एकत्व का आत्यंतिक निषेध किया है तो फिर अब इस पुरुष को तत्काल ज्ञान न होगा? अवश्य होगा ही।

भाई! पुण्य पाप के विकारी भाव नाशवान हैं, उससे तेरा अविनाशी स्वरूप भिन्न है। हम उस अविनाशी स्वरूप को प्रगट कर चुके हैं, वही तुझ से कहा जाता है तो वह तेरी समझ में क्यों न आयगा? अवश्य आयगा, अवश्य भान होगा ही। यह बात तेरे कान में पड़े तुझे सच्ची जिज्ञासा हो, रुचि हो तब फिर तेरी समझ में क्यों न आयगा। आचार्य देव कहते हैं कि हमने अनेक पहलुओं से आत्मा को पृथक् बताया है तब फिर अब तत्काल प्रतीति क्यों नहीं होगी? तत्काल आबालवृद्ध सभी को प्रतीति अवश्य ही होगी।

वह ज्ञान कैसा होकर प्रगट होता है? अपने निज रससे आकृष्ट होकर एकरस होता हुआ प्रगट होता है। मैं आनंद मूर्ति हूं, इसप्रकार की श्रद्धा के द्वारा यदि उसमें एकाग्र हो तो ज्ञान कैसा प्रगट होता है? अकेला ज्ञान ही नहीं किन्तु साथमें आनंद को लेता हुआ प्रगट होता है, आकुलता और पराधीनता को दूर करता हुआ प्रगट होता है। प्रतीति के होनेपर शांति होती है, आनंद होता है। प्रतीति के होने पर आकुलता दूर न हो अथवा शांति न हो ऐसी बात इस शास्त्र में नहीं है।

आचार्यदेव कहते हैं कि हमारी कही हुई बात को सुनकर किस पुरुष को यथार्थ ज्ञान नहीं होता? अवश्य होता है। यहां यह बताया जाता है कि कौन कहने वाला है और किसके लिये कहा जा रहा है। जब कि कहने वाला ज्ञानी है और समझने वाला पात्र है तब फिर समझ में क्यों नहीं आयगा? अवश्य समझ में आयगा। शरीर, मन, वाणी मेरे नहीं हैं, उनकी ओर होने वाला आकर्षण मेरा नहीं है। इसप्रकार वीर्य पर की ओर से रुक गया और यह जानलिया कि मेरा ज्ञान आनंद का वीर्य मुझमें है तब फिर ऐसा कौन पुरुष है जिसे शीघ्र ही यथार्थ प्रतीति नहीं हो जायगी? अवश्य होगी ही। जिसने पात्र होकर सुना वह यथार्थ ताको क्यों न प्राप्त करेगा?

आचार्य देव कहते हैं कि हमारी कही हुई बात जगत को अवश्यमेव मोक्ष देगी। हमने शरीर और आत्मा की पृथकता के गीत गाये हैं। पृथक्त्व को भिन्न भिन्न करके बताया है, तब फिर ऐसा कौन पुरुष है जो जड़ और चैतन्य के बटवारे को नहीं पासके?

आचार्यदेव कहते हैं कि भला, ऐसी अपूर्व बात को प्राप्त किये बिना पंचम काल के जीव क्यों रह जाय? इस पंचमकाल में हमारे मनमें ऐसे शास्त्रकी रचना करने का विकल्प उठा और शास्त्र रचा गया, तब फिर ऐसा कौन पुरुष है जो स्वरूपको प्राप्त नहीं करेगा? इस बातको सुनकर ऐसा कौन जीव हो सकता है जिसे आत्मा की प्रतीति न होगी? अवश्य होगी ही।

(शेष पृष्ठ ६३ पर)

मुद्रक: चुनीलाल माणेकचंद रवाणी, शिष्ट साहित्य मुद्रणालय, दासकुंज, मोटा आंकडिया-ता. २३-८-४६
प्रकाशक: जमनादास माणेकचंद रवाणी, आत्मधर्म कार्यालय, मोटा आंकडिया, काठियावाड़

आत्मधर्म
वर्ष : दूसरा : श्रावण-भाद्रपद
अंक : ४-५ : २४७२

निश्चय और व्यवहार

प्रश्न—श्री समयसारादि में शुद्ध आत्मा के अनुभव को निश्चय कहा है तथा व्रत तप संयमादि को व्यवहार कहा है और हम भी ऐसा ही मानते हैं।

उत्तर—शुद्ध आत्मा का अनुभव सच्चा मोक्षमार्ग है, इसलिये उसे निश्चय कहा है। अब यहां पर स्वभाव से अभिन्न और परभाव से भिन्न ऐसा शुद्ध शब्द का अर्थ जानना चाहिये किन्तु संसारी को सिद्ध मानना ऐसा भ्रमरूप शुद्ध शब्द का अर्थ नहीं जानना चाहिये। व्रत तप इत्यादि मोक्ष मार्ग नहीं हैं किन्तु निमित्तादि की अपेक्षासे उपचार से उसे मोक्षमार्ग कहते हैं और इसीलिये उसे व्यवहार कहा है इस प्रकार भूतार्थ-अभूतार्थ मोक्षमार्ग पना करि निश्चय व्यवहार नय कहे गये है ऐसाही मानना चाहिये किन्तु यह दोनों ही सच्चे मोक्षमार्ग हैं और यह दोनों उपादेय हैं ऐसा मानना सो मिथ्याबुद्धि है।

प्रश्न—श्रद्धान तो निश्चय का रखते हैं तथा प्रवृत्ति व्यवहार रूप रखते हैं इस प्रकार हम इन दोनों को अंगीकार करते हैं।

उत्तर—ऐसा भी नहीं बन सकता क्योंकि निश्चय का निश्चय रूप और व्यवहारका व्यवहार रूप श्रद्धान करना योग्य है किन्तु एक ही नय का श्रद्धान होनेपर तो एकान्त मिथ्यात्व होता है और फिर प्रवृत्ति में तो नयका प्रयोजन ही नहीं है क्योंकि प्रवृत्ति तो द्रव्यकी परिणति हैं वहां पर जिस द्रव्य की परिणति हो उसे उसकी ही प्ररुपणा करें तो निश्चय नय और उसीको अन्य द्रव्य की प्ररुपणा की जाय तो वह व्यवहार नय है इस प्रकार अभिप्राय के अनुसार प्ररुपणा करने से उस प्रवृत्ति में दोनों नय घटित हो जाते हैं किन्तु केवल प्रवृत्ति तो ही नय रुप नहीं है इसलिए इस प्रकार भी दोनों नयों का ग्रहण मानना मिथ्या है।

प्रश्न—तब फिर क्या किया जाय? हम उसके संबंध में क्या समझे?

उत्तर—निश्चयनय के द्वारा जो निरूपण किया हो उसे सत्यार्थ मानकर उसका श्रद्धान स्वीकार करना चाहिये और व्यवहार नय के द्वारा जो निरूपण किया हो उसे असत्यार्थ मानकर उसका श्रद्धान छोड़ना चाहिये। श्री समयसार में भी यही कहा है कि:—

सर्वत्राध्यवसानमेवमखिलं त्याज्यं यदुक्तं जिनै—
स्तन्मन्ये व्यवहार एव निखिलो ऽप्यन्याश्रयस्त्याजितः।
सम्यगनिश्चयमेक मेव तदमी निष्कंपमाक्रम्य किं,
शुद्धज्ञानघने महिम्नि न निजे बध्नंति संतो धृतिम्॥

अर्थ:—जिससे समस्त हिंसादिक अथवा अहिंसादिक में अध्यवसाय होता है उन सबको छोड़ देना चाहिये ऐसा श्री जिनेन्द्रदेवने कहा है इसलिये मैं यह मानता हूं कि जो पराश्रित व्यवहार है वह सारा ही छुड़ाया है तब फिर सत्पुरुष एक निश्चय को ही भलीभांति निश्चय रूपमें स्वीकार करके शुद्ध ज्ञानघनरूप अपनी महिमामें स्थिति क्यों नहीं करते।

भावार्थ:—यहां व्यवहार का त्याग कराया है इसलिये निश्चय को अंगीकार करके निज महिमारूप प्रवर्तना युक्त है। पट्पाहुड में भी कहा है कि:—

जो सुत्तो ववहारे, सो जोई जग्गए सकज्जम्मि।
जो जग्गदि ववहारे सो सुत्तो अप्पणो कज्जे॥

अर्थ:—जो व्यवहारमें सोता है वह योगी अपने कार्यमें जागता है तथा जो व्यवहारमें जागता है वह अपने कार्य में सोता है इसलिये व्यवहार नय का श्रद्धान छोड़कर निश्चयनयका श्रद्धान करना चाहिये। व्यवहार नय स्वद्रव्य पर द्रव्य को अथवा उसके भावों को अथवा कारण कार्यादिकको किसी का किसी में मिलाकर निरूपण करता है इसलिये ऐसे ही श्रद्धान से मिथ्यात्व है। अतः उसका त्याग करना चाहिये और निश्चयनय उसीको यथावत् निरूपण करता है तथा किसीको किसी में मिलाता नहीं है इसलिये ऐसे ही श्रद्धान से सम्यक्त्व होता है, अतः उसका श्रद्धान करना चाहिये। ★

सुखका स्वरूप और उसका उपाय

: : (पूज्य श्री कानजी स्वामीका प्रवचन) : :

[जगत के सभी जीव सुख चाहते हैं और चाहते हैं कि वह सुख कभी भी दूर न हो। दूसरी बात यह है कि कोई जीव यह मानते हैं कि 'मुझे सुख चाहिये है' और कोई यह मानते हैं कि 'मुझे सुखरूप होना है' इन दोनों मान्यताओं में अंतर है। जिसे यह खबर नहीं है कि मैं स्वयं शाश्वत सुखरूप स्वाधीन हूं 'वह सुख चाहिये है' इस प्रकार की मान्यता से असंताप से बाह्य में सुख ढूंढता है और वह सुख के साधन-उपाय भी पराश्रय से मानता है इसलिये उसकी दृष्टि पर संयोग पर ही रहती है ऐसी पराधीन दृष्टि वाला जीव स्वाधीन सुख का अंश भी प्राप्त नहीं कर सकता यहां पर यही कहा जाता है]

— श्री समयप्राभृत गाथा २१८-२१९ —

जिसने यह माना है कि धर्म चाहिये है उसकी संयोग पर दृष्टि है। अर्थात् वह बाहर से धर्म करलूं, पर की दया करूं, पर की रक्षा करूं, किसीका आशीर्वाद प्राप्त करके कल्याण करूं, अत्यधिक पुण्य करूं तो सुख हो, इस प्रकार परवस्तु के द्वारा धर्म (सुख) मांगता है और इसीलिये वह जीव पर संबंध रहित सुख स्वरूप नहीं हो सकता। किन्तु जब जीव स्वयं ही अपने को शाश्वत सुखरूप जानता है और मेरे सुख स्वरूप आत्मा की श्रद्धा उसका ज्ञान और उसमें रमणता के द्वारा मैं स्वयं ही सुखरूप हो जाऊं ऐसा मेरा स्वभाव है इस प्रकार जब आत्म प्रतीति करता है तब स्वाधीन दृष्टि होती है। अर्थात् उसे सुख के लिये कोई चाह नहीं रहती।

पुण्य पाप के विकार से सुख नहीं है, दया, पूजा इत्यादि पुण्य राग और हिंसा इत्यादि पाप राग इत्यादि सब विकारी भाव हैं। उनसे जो जीव सुख प्राप्त होना मानता है वह विपरीत मान्यता वाला है। आत्मा ही नित्य सुखरूप है संयोग और क्षणिक विकाररूप आत्मा नहीं है इसलिये विकार में आत्मा का सुख नहीं है।

'मुझे सुखरूप होना है' इसमें स्पष्ट ध्वनित होता है कि वह निज से ही स्वयं सुखरूप है, सुख के लिये किसी पर पदार्थ की आवश्यकता नहीं है। सुखरूप होनेवाला स्वयं अकेला है। उसमें पुण्य चाहिये, पर चाहिये, अन्य की सहायता चाहिये इत्यादि सब हो तो वह स्वयं सुखरूप होगा यह नहीं बन सकता; किन्तु वह स्वयं जिस स्वरूप में है उसी स्वरूप में समझ पूर्वक स्थिर हो जाय तो सहज आनंदरूपदशा प्रगट होजाय अर्थात् वह स्वयं सुखरूप परिणमित हो जाय।
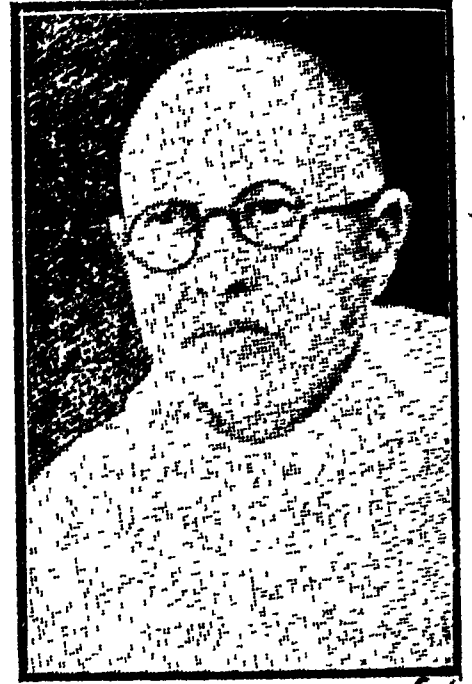
यहां पर श्री समयसार जी की २१८ वीं गाथामें सुवर्ण का दृष्टांत दिया है—जैसे परमाणुओं में सुवर्णरूप अवस्था का स्वभाव ही ऐसा है कि शुद्धरूप में स्वयं ही सुवर्णपने से स्वतः होता है, इसी प्रकार ज्ञानी का स्वभाव है कि आत्मा ज्ञानानंद मूर्ति है उसकी प्रतीति स्वरूप ज्ञान अवस्था का स्वभाव ही नित्य स्वतंत्र रूपमें ज्ञानानंद रूपमें स्वयं होना है।

यहांपर अवस्था के स्वभाव का वर्णन किया है। वर्ण, गंध, रस और स्पर्श की अवस्था के रूपमें परमाणु ही होने वाला है। वह स्वयं ही उसरूप होता है। वर्णादिगुण और उसे धारण करनेवाली गुणी वस्तु सदा स्थिर रहने वाली है और वही नई अवस्था के रूप में सुवर्ण इत्यादि के रूपमें होती है। उसे वह रूप बाहर से प्राप्त नहीं करना पड़ता—स्वभाव से ही उस रूप होता है जिसमें वह है वह प्रगट दशा रूपमें होता है-बाहर से प्राप्त नहीं करना पड़ता। मिट्टी को घटरूप होने में पर की आवश्यकता नहीं है। परमाणु माटीपन को पलटकर घटरूप स्वयं होते हैं। यदि घटरूप होने में मिट्टी को पर की आवश्यकता हो तो कुम्हार चक्रादि पर वस्तुसे ही घटत्व आजाना चाहिये, इस प्रकार पराधीनता होगी; किन्तु त्रिकाल में कोई भी वस्तु पराधीन नहीं है। परमाणुओं में घटरूप होने की शक्ति है, वह

स्वयं प्रगट होती है। वस्तु की क्रमबद्धपर्याय होती है, उसमें निमित्त की वाट नहीं देखना पड़ती। सोने का स्वभाव आभूषणरूप होने का है, इसलिये वह स्वयं होता है सोना ही आभूषण रूप में परिणमित होजाता है। परमाणु बदलते बदलते स्वयं ही सुवर्णरूप होजाते हैं उस सोने का स्वभाव ही अलिप्त है। यदि सोने को कीचड़ में डाल दिया जाय ते। भी वह कीचड़मय नहीं होता वह सुवर्णरूप में ही रहता है, कीचड़रूप नहीं होता तथा कीचड़ के द्वारा सोने में मलिनता भी नहीं आती। इसी प्रकार ज्ञानी अपने त्रैकालिक स्वतंत्र स्वभाव को सबसे पृथक् जानता है वह स्वयं सुखरूप है, इसलिये बाहर से कुछ भी प्राप्त नहीं करना चाहता। पर संयोग में रहते हुये भी ज्ञानी को कोई पर-अज्ञानरूप करने में समर्थ नहीं है। ज्ञानी स्वयं ज्ञानरूप ही होता है, अज्ञानियों की बाह्य संयोग पर दृष्टि होती है इसलिये वे सुख के लिये संयोग प्राप्त करने की इच्छा किया करते हैं किन्तु वे असंयोगी तत्त्व को सुख स्वरूप नहीं जानते।

अपनी स्वाधीन सत्ता की महत्ता को न देखता हुआ अज्ञानी जीव यों मानता है कि मेरे सुख के लिये देव गुरु शास्त्र चाहिये, मैं अकेला क्या कर सकता हूं। शरीर निरोगी चाहिये, बाह्य त्याग और शरीर की क्रिया से धर्मप्राप्त करूं इसप्रकार अज्ञानी जीव अपने को अकिंचित्कर, दीन, शक्ति हीन तुच्छ मान बैठता है। वह अन्य पर पदार्थों को मानता है किंतु वह यह नहीं जानता कि मैं कौन हूं। अज्ञानी की यह धारणा होती है कि अन्य की शक्ति से मेरा सुख होगा अर्थात् मुझमें अपनी कोई शक्ति नहीं है किन्तु हे अज्ञानी जीव! यदि तुझमें शक्ति नहीं है ते। वह कहांसे आयेगी?

मैं अकेला अपने से पूर्ण हूं, अनंत गुणों का शाश्वत स्वाधीन भंडार हूं, मुझे अपने सुख के लिये अन्य किसी की आवश्यकता नहीं है। देव गुरु शास्त्र संबंधी शुभ विकल्प की भी आवश्यकता नहीं है; इसप्रकार पहले स्वाधीनस्वभाव को पहिचानकर हां ते। कह। अभी ते। यह सत्य को स्वीकार करने की और सत्य को पहिचानने की बात है अपने घरकी बात है। लोगों ने धर्म को बहुत मंहगा मान रखा है, उनने सत्य को नहीं सुना, उधर रुचि ही नहीं की इसलिये वे पहले से ही अपनी ऐसी धारणा बना बैठे हैं कि हम इसे नहीं समझ सकते और इसप्रकार वे आत्मा की पर्वाह नहीं करते।

समस्त आत्मा स्वतंत्र भगवान हैं, क्षणिक विकारमय नहीं है। स्वयं जिस स्वभावरूपमें है उससे अन्यरूप कभी नहीं होगा। इसप्रकार यदि स्वभाव को निश्चित करे ते। स्वयं जिस धर्म रूपमें है उसी अवस्थारूपमें निजको होना है उसमें किसी पर निमित्त की अथवा रागकी अवस्था के रूपमें होने की आवश्यकता नहीं है। अर्थात् धर्म स्वाधीन है।

मुझे धर्मरूप-सुखरूप होना है। धर्मरूप होने का मेरा स्वभाव है। पुण्य पाप के विकारी भाव को ठीक मानना और उसमें सुख मानना सो यह विपरीत मान्यता ही महान पापरूप, अधर्म और दुःख है।

मुझे धर्मरूप होना है, कोई परवस्तु मेरे धर्म को करनेवाली नहीं है किंतु मैं ही धर्मरूप में अपने द्वारा होनेवाला हूं। मुझे अकेले को धर्मरूप होना है धर्म से पृथक् नहीं होना है-अर्थात् देव गुरु शास्त्रादि कोई भी मेरे रूप में अथवा मैं उस पररूप होने वाला नहीं हूं। सम्यक् श्रद्धा ज्ञान और चारित्र की अवस्था के रूपमें होनेवाला मैं अकेला ही हूं, उसके लिये मुझे पर साधन की आवश्यकता नहीं है तथा मेरा ऐसा स्वरूप नहीं है कि मुझे अन्य किसी की वाट देखनी पड़े। मैं स्वाधीन हूं, मैं अपने धर्म से कदापि रहित नहीं हूं इसप्रकार पहचान लेना ही धर्म है।

विकाररूप होने में संयोग की रुचि है—उसमें दुःख है और धर्मरूप अर्थात् सुखरूप होने में असंयोगी अविकार स्वभाव की रुचि है। "मुझे धर्मरूप होना है" इसमें यह अंतर्हित है कि मैं वर्तमान प्रगट धर्मरूप नहीं हुआ, शक्तिरूप में धर्मस्वरूप पूर्ण है। आत्मा में अपार अनंत अक्षय सुखरूप धर्म भरा हुआ है, उस स्वभाव को पहचान कर उसमें एकाग्र होनेपर धर्मरूप पर्याय प्रगट होती है अर्थात् आत्मा स्वयं धर्मरूप प्रगट होता है।

यह निर्जरा का अधिकार है। शुद्ध, अखंड, ध्रुव आत्म स्वभावकी यथार्थ दृष्टि के बल से शुद्धता की वृद्धि और अशुद्धता की हानि होना सो निर्जरा है। निम्न साधक दशा में निरालंबी स्वरूप की श्रद्धा और ज्ञान बराबर है किन्तु वीतरागीपन से संपूर्ण स्थिरता नहीं कर सकता, वहां पर अशुभ पापराग से बचने के लिये सच्चे देव शास्त्र गुरु की भक्ति पूजा प्रभावना इत्यादि में शुभ राग होता है परंतु भावना ते। अरागी

के रूप में स्थिर रहने के पुरुपार्थ की है अर्थात पुण्य पाप के विकल्पों से रहित पूर्ण धर्मरूप होने की है।

परसंबंध से रहित और क्षणिक पुण्य पाप के भाव से रहित अक्षयसुखरूप-धर्मरूप होने वाला मैं अकेला हूं इसप्रकार निश्चय करने पर किसी अन्य सामग्री की ओर देखना शेप नहीं रह जाता। पराश्रयरहित अपने स्वाधीन स्वभाव की पहले प्रतीति करे तो जैसा स्वभाव है उसरूप होने के लिये अपने स्वभाव में देखना होता है। यदि कोई शुभाशुभ भाव हो तो वहां यह जानना चाहिये कि वह भाव मेरे पुरुपार्थ की वर्तमान अशक्ति से बाह्य लक्ष्य को लेकर होता हैं; किन्तु वह भाव मेरे धर्मरूप में नहीं होता। यदि मैं अपने धर्म स्वरूप को अंतर्लक्ष्य करके, एकाग्रता करके उन्मुख होऊं तो मैं उस धर्मरूप मैं होता हूं। पर वस्तु और देहादि की क्रिया सब पर रूप में होती हैं, वह मेरे रूपमें नहीं हो सकती। पुण्य पाप का अनुभव दुःख है, आकुलता है, क्षणिक विकार है। मैं त्रिकाल अविकारी हूं, मैं उस क्षणिक विकाररूप होनेवाला नहीं हूं।

इस प्रकार सब ओर से सुख दृष्टि को खींचकर निरुपाधिक धर्म स्वरूप के लक्ष्य में स्थिर होने वाला स्वयं अकेला सुखरूप होता है और वही वर्तमान धर्म है। धर्मरूप होने के लिये आत्मा को पर की आवश्यकता नहीं होती। ज्ञानी को पर से भिन्न अपने स्वभाव का ज्ञान श्रद्धान होने से वह स्वयं ही ज्ञानरूप में परिणमित है उसे कोई भी संयोग अज्ञानरूप करने के लिये समर्थ नहीं है। यह बात यहां दृष्टांत से विस्तार पूर्वक समझाई गई है।

जैसे पुद्गल की सुवर्णरूप अवस्था का स्वभाव कीचड़ इत्यादि से मलिन होना नहीं है इसलिये सुवर्ण अन्य का संयोग होने पर भी सुवर्णरूप में हीं परिणमित होता है, कीचड़ का संयोग उसे मलिन करने में समर्थ नहीं हैं। उसीप्रकार धर्मी अर्थात् आत्माकी धर्मरूप होनेवाली अवस्था का स्वभाव स्वयं सुखरूप और ज्ञानरूप होना ही है। मैं त्रिकाल अनंत गुण की मूर्तिरूप हूं, क्षणिक राग की भावनारूप नहीं हूं तथा पर से बिगड़ने तथा सुधरने वाला भी नहीं हूं, इस प्रकार स्वाधीन धर्म की श्रद्धा के बलसे ज्ञानी स्वयं सुखरूप होता है। सुख के लिये किसी पर क्षेत्र अथवा कालको नहीं देखना होता।

लोग भी धर्म व्याख्या करते हुये कहते हैं कि:—

धर्म न वाड़ी ऊपजै धर्म न हाट बिकाय।
धर्म विवेकहिं ऊपजै जो करिये तो थाय॥

धर्म करने का अर्थ है धर्मरूप होना। जो स्वतंत्र रूपमें करता है वह कर्ता है अर्थात् जो स्वतंत्ररूप से कार्यरूप होता है वह कर्ता है। आत्मा धर्म करता है अर्थात् आत्मा स्वयं धर्मरूप होता है। सत्स्वरूप को पहचान कर निरुपाधिक धर्मरूप कार्य करने वाला स्वयं धर्मरूप होगा या दूसरा। कोई देव गुरु अथवा शास्त्र तेरे धर्मरूप में होने वाले नहीं है।

पहले श्रद्धा में परिपूर्ण सुख स्वरूप को स्वाधीनरूप में निश्चित करे और परमें सुखबुद्धि रूप मिथ्या मान्यता का सर्वथा त्याग करे तो वह स्वयं श्रद्धा में धर्मरूप हो। अर्थात् पूर्णता को लक्ष्य करके जो आंशिक निर्मलता रूप स्वभाव प्रगट किया उसरूप वह स्वयं होगया। अब जितनी अधूरी अवस्था है उसे स्वरूप स्थिरता के बल से पलटकर पूर्ण निर्मलतारूप—सुखरूप होना है। किन्तु किसी शरीर मन वाणी इत्यादि पर रूप अथवा शुभाशुभ रागरूप होना अपने सुख के लिये शेप नहीं है इसप्रकार की दृष्टिवाला धर्मी जीव चाहे जैसे संयोग में हो फिर भी कोई पर उसे लाभ या हानि करने में समर्थ नहीं है। उसके ज्ञान को अज्ञानरूप करने के लिये कोई समर्थ नहीं है। आत्मामें ही सुखरूप दृष्टि हुई है इसलिये वह परमें अनुकूलता प्रतिकूलता नहीं देखता, वह पुण्य अथवा पुण्य के फल को नहीं चाहता इसलिये स्वभाव से ही वह धर्मरूप होता है।

जैसे कोई पापभाव छोड़कर पुण्यभाव करता है तो उसके फलरूप देवादिपद मिलता है और यदि पापभाव करता है तो उसके फलरूप नरकादि मिलता है। वे दोनों विकारभाव जैसे सफल हैं उसी प्रकार पुण्यपाप के विकार से रहित निरालंबी ज्ञायक स्वभाव को पूर्ण सुख रूप में पहचानकर उसकी श्रद्धा के रूपमें जो भी होता है उसे धर्म का प्रारंभ अपने में होता है इसलिये वह अपने में सफल है। पुण्य पाप दोनों विकार हैं इसलिये उनका फल बाह्य संयोग में जाता है और सच्ची श्रद्धा-ज्ञान स्वभाव है इसलिये उसका फल स्व में जाता है।

स्वयं जिसरूप हो सकता है उस स्वरूप को पहचानने से स्वयं उसरूप होता है। वह अपना स्वरूप होने से अपने पास रहेगा और जो अपना स्वरूप नहीं है वह विकारभाव में स्वयं नहीं हुआ है अर्थात् वह विकारभाव

अपने पास नहीं रहता। शरीर मन वाणी के रूप में अथवा देवपद की धूल के रूप में तू नहीं हो सकता, इसलिये उसकी रुचि छोड़ तो वह तेरे पास नहीं रहेंगे। इसका आशय यह है कि रागभाव से पर संबंध मिलता है किन्तु स्वभावभाव से—गुण से बाहर का कुछ नहीं मिलता। जो भीतर है वह स्वरूप प्रगट होता है।

जो जीव अपने को पराश्रयवाला मानता है और विकारी भावरूप होनेवाला मानता है उसकी दृष्टि पराश्रित संयोग पर होती है इसलिये वह उस ओर की पुण्य पाप की विकारी भावना के रूपमें परिवर्तित होता रहता है। मैं स्वाधीन सुख स्वरूप हूं इसप्रकार जो जीव त्रिकाल असंग स्वभाव की प्रतीति करता है वह स्वयं आत्मधर्मरूप होता है, स्वयं ही ज्ञानानंद से परिपूर्ण है ऐसी दृष्टि के अभ्यास से क्षणिक विकार का क्षय होता जाता है और आत्मा स्वयं सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्ररूप तथा वीतरागता और केवल ज्ञान अवस्थारूप होजाता है। वह जिस रूप स्वयं होता है उस रूप अपने को परिपूर्ण मानना तथा अवस्था से उस रूप होने की श्रद्धा करना एवं जिसरूप में स्वयं नहीं है उस रूप न होने की श्रद्धा करना सो धर्मी का लक्षण है।

यह तो ऐसी बात है जो आठ वर्षका बालक भी समझ सकता है। जिसके रुचि होती है वह सब समझता है। कोई कहे कि मुझे मोक्ष चाहिये है तो क्या उसे बाहर से मोक्ष लाना है। क्या लोक के अग्रभाग में स्थित मुक्ति शिला के पत्थर पर जाना सो मोक्ष है कि स्वयं वस्तु स्वरूप पहिचान कर पूर्ण पवित्र दशा स्वरूप प्रगट होना वह मोक्ष है ? मोक्षदशारूप में होने वाला आत्मा है। पुण्य पाप के विकारभाव संयोग के लक्ष्य से होते हैं वे बंधभाव हैं। उस बंधभाव से मुक्ति अर्थात् अशुद्धता का त्याग और संपूर्ण शुद्धता का ग्रहण चिदानंद ध्रुव आत्म स्वभाव के लक्ष्य से होता है।

भगवान श्री कुंदकुंदाचार्य देव यहां पर सुवर्ण और लोहे का दृष्टांत देकर स्वभाव की स्वतंत्रता बतलाते हैं कि किसी पर के द्वारा किसी में कोई परिवर्तन नहीं होता। जो परमाणु स्वयं सुवर्णरूप हुये हैं उन्हें कीचड़ के द्वारा जंग नहीं लग सकती क्योंकि सोने का स्वाभाव ही जंग नहीं लगने का है। इसीप्रकार ज्ञानी धर्मात्मा की दृष्टि नित्य निरालंबी ज्ञानानंदी स्वभाव पर है, इसलिये वह स्वयं ज्ञानरूप परिणमता है। किसी पर से लाभ या हानि माननेरूप अज्ञान अथवा रागद्वेष ममतारूप करने के लिये कोई समर्थ नहीं हो सकता।

जिसके आधार पर धर्म रहता है अथवा जो स्वयं धर्मरूप होता है वह धर्मी है। मैं नित्य ज्ञान और सुखरूप हूं, जिसे ऐसी निज की श्रद्धा है वह अपने सुख के लिये पर सामग्री की इच्छा नहीं करता। वह पुण्य पाप विकाररूप होने की इच्छा नहीं करता, इसलिये वह किसी भी कालमें मलिन नहीं होता किन्तु स्वभावदृष्टि के बल से उसके शुद्ध की ही वृद्धि होती है। अल्प अशुद्धता है उसकी प्रधानता नहीं है किन्तु श्रद्धा में परिपूर्ण स्वाश्रयी ज्ञान स्वरूप हुआ है उसकी मुख्यता है यदि अशक्ति के कारण राग रहता है सो वह अपने ही कारण से अस्थिरता का राग है, परसामग्री को लेकर राग नहीं है। मैं राग रहित स्वभावरूप होने वाला हूं ऐसी स्वरूप की प्रतीति में वह राग रूप होना नहीं देखता इसलिये वह पर लक्ष्य में नहीं फसता। एक ओर स्वाश्रित स्वभावरूप धर्म दृष्टि है और दूसरी ओर पराश्रित विकाररूप अधर्म-दृष्टि। वह उन दोनों को पृथक् कर देता है, जो धर्मी है उसकी स्वाश्रित दृष्टि होती है इसलिये उसे किसी पर द्रव्य के प्रति स्वतः राग नहीं है अर्थात् वह राग रहित स्वभावरूप ही होता है। जहां सर्वत्र निरालंबी आत्मा पर दृष्टि है वहां सबके प्रति राग का निषेध वर्तमान है और अज्ञानी की पराश्रित दृष्टि होती है इसलिये वह जानबूझकर सबके प्रति राग द्वेष करता है।

धर्मात्मा ग्रहस्थ दशा में होता हुआ भी निरंतर सब ओर से निःशंक और निर्भय है कि मुझे रागद्वेष-अज्ञानरूप करने में कोई समर्थ नहीं है क्योंकि मैं पररूप होनेवाला नहीं हूं। स्व-रूप होनेवाला हूं। वर्तमान अशक्ति के कारण जो राग हो जाता है उस राग का राग धर्मी के नहीं होता और शुभाशुभ राग के परिवर्तन से उसके शाश्वत एक रूप ज्ञायक स्वरूप में कोई परिवर्तन नहीं होजाता। मैं त्रिकाल ज्यों का त्यों ऐसा ही हूं। मैं विकार का नाशक हूं रक्षक नहीं। जिसे राग का राग है उसे स्वभाव की दृढ़ता नहीं है किन्तु राग के प्रति आदर है इसलिये वह राग को नहीं छोड़ना चाहता। जिसने यह मान लिया कि साक्षात् भगवान की उपस्थिति मुझे राग का कारण है उसने पर के कारण राग को माना है वह अज्ञान है। क्योंकि यदि वह स्वयं रागरूप न हो तो उसे कोई पर रागरूप करने में समर्थ नहीं है। धर्मी जीव जानता है

कि साक्षात भगवान की उपस्थिति राग का कारण नहीं है किंतु अस्थिरता की अशक्ति है उसे छोड़कर स्वरूप में मैं स्थिर नहीं हो सकता। अर्थात् प्रयत्न में कमी है इसलिये राग आता है। यदि मैं इसी क्षण प्रयत्न के द्वारा राग को तोड़कर स्थिर होजाऊं तो मुझे भगवान के प्रति जो राग है उसमें भी नहीं रुकना है, भगवान भले विराजमान रहें, उनके कारण से मुझे राग नहीं है। मुझे रागरूप करने में कोई समर्थ नहीं है, यह बात निम्न लिखित दो गाथाओं में कही है:—

छो सर्व द्रव्ये रागवर्जक ज्ञानी कर्मनी मध्यमां,
पण रज थकी लेपाय नहि ज्यम कनक कर्दम मध्यमां ॥२१८॥
पण सर्व द्रव्ये राग शील अज्ञानी कर्मनी मध्यमां,
ते कर्मरज लेपाय छे ज्यमलोह कर्दम मध्यमां ॥२१९॥

टीका:—जैसे सोना कीचड़ में पड़ा हो तो भी वह कीचड़ से लिप्त नहीं होता अर्थात् उसे जंग नहीं लगती, क्योंकि उसका स्वभाव अलिप्त रहने का है, इसी प्रकार ज्ञानी जीव कर्मों के बीचमें रहता हुआ भी कर्मों से लिप्त नहीं होता। क्योंकि सर्व पर द्रव्यों के प्रति जो राग होता है उसका त्यागरूप स्वभाव ज्ञानी के होता है इसलिये वह ज्ञानी अलिप्त रहने के स्वभाव वाला है। जैसे लोहा कीचड़ में पड़ा रहने से कीचड़ से लिप्त होजाता है अर्थात् उसके जंग लग जाती है क्योंकि लिप्त होने का उसका स्वभाव है उसी प्रकार अज्ञानी जीव कर्मों के बीच रहकर कर्मों से लिप्त हो जाता है। क्योंकि सर्व पर द्रव्यों के प्रति जो राग होता है उसको ग्रहण करने का स्वभाव अज्ञानी का होता है और इसलिये अज्ञानी का स्वभाव लिप्त होने का है।

धर्मी जीव किसी भी प्रकार के राग को करने योग्य नहीं मानता। देव गुरु शास्त्र भी इसी सामग्री में आजाते हैं। अरे! मैंने श्री समयसारजी की स्थापना की और उनको विराजमान किया अब उस ओर से राग कैसे तोड़ा जाय? यदि ऐसा माना जायगा तो वह विपरीत दृष्टि का राग है क्योंकि उसमें राग करने योग्य मान्यता है और यह मानलिया है कि सामग्री से राग होता है। ज्ञानी जीव किसी के भी प्रति अंशमात्र राग करना नहीं मानते। उनके ऐसी दृष्टि जागृत रहती है कि कोई भी राग मेरी शांति का कारण नहीं है, इसलिये ज्ञानी राग से लिप्त नहीं होते, उनके न तो राग के प्रति कोई भावना होती है और न उत्साह।

जैसे कोई संसार के प्रति राग करना योग्य मानता है उसीप्रकार यदि कोई देव शास्त्र और गुरु को भी राग करने योग्य माने तो वह मिथ्यादृष्टि है। यह बात नहीं है कि देव गुरु शास्त्र की भक्ति कम की है अथवा पर जीव की दया का पालन कम किया है इसलिये मोक्ष रुका हुआ है तथा यह मान्यता भी भ्रम है कि मेरे द्वारा यदि अधिकाधिक जीव धर्म को समझें तो मैं जल्दी मोक्ष चला जाऊंगा। और यह मान्यता भी बहुत बड़ी भूल है कि मैंने बहुत हिंसा की है इसलिये जब तक समस्त प्राणी मुझे क्षमा नहीं कर देंगे तबतक मैं विकल्पों को तोड़कर मुक्त नहीं हो सकता। इन सब विकल्पों में जीव संयोग से अथवा पर से अपना धर्म मानता है इसलिये वह अज्ञान है। सब अपने द्वारा अपने भावों में हानि करते हैं और अपने अज्ञान भाव को बदलकर उस हानि को स्वयं दूर कर सकते हैं।

मैं अपनी भूल से विकार रूप में दुःखी होता हूं और भूल रहित स्वभाव की प्रतीति के द्वारा भूल को दूर करके अविकारी सुखरूप होनेवाला भी मैं ही हूं, जिसे ऐसा निर्णय होगया है उसे पर की ओर देखने की आवश्यका ही नहीं रह जाती है। अन्य जीव क्षमा करें या न करें किन्तु "मैं ज्ञान स्वरूप हूं और मेरे ज्ञान का स्वभाव राग को छोड़ना है" इस प्रकारकी प्रतीति के द्वारा स्थिरता करके स्वयं राग रहित वीतराग होजाता है। तीर्थंकर भगवान उपस्थित हों तबतक शुभराग न छूटे अथवा पर जीव क्षमा न करें तो मोक्ष रुका रहेगा, जो यह मानता है वह अपने को रागरूप होनेवाला मानता है, अर्थात् वह राग को अपना स्वरूप मानता है। मैं समस्त विरोधरूप मान्यता को दूर करके स्वयं वीतरागी श्रद्धा ज्ञान स्थिरतारूप होनेवाला हूं, यह जिसने जानलिया वह वास्तव में किसी के भी राग में अटकनेवाला (रुकनेवाला) नहीं है। वह रागरूप नहीं होगा किन्तु ज्ञानरूप ही होगा। मेरा अस्तित्व नित्य स्व स्वभाव से है, कहीं अन्यत्र से प्राप्त करना पड़ता हो अथवा यदि राग करूं तो वह स्थिर रहे, ऐसा मेरा स्वरूप नहीं है. इसप्रकार की निर्दोष दृष्टि का होना सो धर्म है। और धर्मी का स्वभाव सर्व प्रकार के राग का त्याग करके उसरूप रहना है।

देखो भाई! ऐसा परम सत्य मानने में और समझने में अपूर्व धर्म है। धर्मरूप होनेवाले धर्मात्मा का आंतरिक अभिप्राय कैसा होता है इसे समझने की यह बात है। धर्मी अर्थात् सम्यग्दृष्टि आत्मा स्वयं ही स्वभाव से विकार के त्याग स्वरूप और ज्ञानरूप स्वभाववाला होता है। अपने स्वभाव की श्रद्धा के बल से वह साक्षात निर्मलता का उत्पादक (निर्मलतारूप होनेवाला) और अशुद्धता का नाशक है इसलिये उसके निर्जरा ही है और वह अल्पकालमें पूर्ण स्वभाव की अबंधदृष्टि के बल से पूर्ण सुख स्वरूप होता है। जो स्वयं ही सुख स्वरूप होता है उसे सुख के लिये कोई विकल्प मन, वाणी, देह, देव, गुरु, शास्त्र अथवा क्षेत्र काल के संयोग की अवश्यकता नहीं होती।

अहो! यह तो भगवान् आत्मा को सबकी स्वतंत्रता की बात है, सब के घरकी सुखरूप बात है। मैं अकेला पूर्ण सुखस्वरूप हूं, मुझे किसी की आवश्यकता नहीं है। मैं ही अपने आप महिमावान् हूं, क्षणिक विकार से मेरी महिमा नहीं है, इस बात को जीव को प्रीतिपूर्वक धारण करके उसका मनन करके अंतर में महिमा को लाकर निःसंदेह निर्णय करना चाहिये।

धर्मकी वस्तुस्थिति तो त्रिकाल में ऐसी ही है इस प्रकार प्रथम ज्ञान श्रद्धान के द्वारा आत्मा में उत्कृष्टतया बहुमान लाकर यथार्थ निर्णय करे तो धर्मरूप सुखरूप होने वाले को जिस स्वरूप में स्वीकार किया और प्रतीति में लिया उस रूप वह अवश्य ही होगा, इसलिये वस्तु स्वरूप जैसा है वैसा ही समझकर उस रूप होना सो ही सबके लिये कल्याण का सनातन मूल मार्ग है।

सर्व द्रव्य से भिन्न मेरे स्वरूप में ही सुख है, सर्व द्रव्यों के प्रति राग करने वाला मैं नहीं हूं अर्थात् किसी भी प्रकार का राग मेरा कर्तव्य नहीं है पहले इस प्रकार की दृढ श्रद्धा होनी चाहिये। यथार्थ समझ के बाद तत्काल ही सब राग दूर न होसके तब वहां अशुभ भावों से बचने के लिये निर्दोष देव, गुरु, शास्त्र की पहिचान के साथ भक्ति पूजा व्रत इत्यादि अनेक प्रकार के शुभराग आते हैं किन्तु ज्ञानी के उसराग की रुचि अथवा भावना नहीं होती, क्योंकि ज्ञानी का स्वभाव सर्व द्रव्यों के प्रति जो राग है उसे छोड़ना है। ज्ञानी के निरालंबी वीतराग स्वरूप होने की भावना है। मेरा स्वरूप सर्व द्रव्य के आलंबन से रहित स्वाधीन है। मैं इस प्रकार की निरालंबन स्वरूप की दृष्टि और स्थिरता रूप होने वाला हूं जो प्रथम इस प्रकार का निःसंदेह निर्णय आत्मा में करता है वह राग रहित वीतराग स्वरूप में परिणत होता है।

श्री समयसार जी की अंतिम गाथा में कहा है किः—

इस समय प्राभृत का पठन कर,
अर्थ तत्त्व सु जानि के।
स्थिर अरथ में आत्मा जो,
सौख्य उत्तम हो वही ॥४१५॥

सर्व शास्त्रों के साररूप समयसारजी में सर्वज्ञ भगवान के कथनानुसार जो योग्य जीव चैतन्य प्रकाश रूप आत्मा के अर्थ और तत्त्व से जानकर—स्वभाव क्या है, और अवस्था क्या है, इसे जानकर अपने स्वभाव में पुण्य पाप हीन श्रद्धा ज्ञान स्थिरता को लेकर स्थिर होगा वह आत्मा स्वयं ही उत्तम सुखरूप होगा।

यहांपर यह नहीं कहा है कि "उस आत्मा को सुख मिलेगा" किन्तु "वह स्वयं ही सुखरूप होगा" यह कहकर सुख और आत्मा का अभेद बताया है। अर्थात् आत्मा के कहीं बाहर से सुख नहीं आता किन्तु आत्मा स्वयं ही सुखमय है, यह बताया है। सुख गुण आत्मा का है उसे कोई दूसरा ले नहीं गया कि जिससे आत्मा को अपने सुख के लिये दूसरे की आवश्यकता पड़े। वह स्वभाव से स्वतः सुखरूप है इसलिये किसी के सामने रंक अथवा उपकृत होने की आवश्यकता नहीं है। साथ ही सुख के लिये कोई संयोग भी प्राप्त नहीं करना होते। मुक्ति का अर्थ है समस्त विभावों से पृथक् होना, अथवा समस्त दुखों से छूटकर पूर्ण सुख रूप होना। सुख स्व-में परिपूर्ण है और वही प्रगट होता है, कहीं सिद्ध शिला में से सुख नहीं आजाता।

आत्मा को किसी बाह्य संयोग से सुख प्राप्त नहीं होता। यदि बाहर से सुख मिलता हो तो यह कहना होगा कि सुख भी संयोगी वस्तु है किन्तु वास्तव में सुख तो आत्मा का स्वभाव है, वह किसी संयोग से उत्पन्न नहीं होता। आत्मा स्वयं ही सुख स्वरूप है इसलिये उसे सुखरूप होने के लिये किसी पर वस्तु की अथवा पर वस्तु की ओर झुकने की आवश्यकता नहीं है। स्वाधीन स्वरूप से आत्मा सुखी है। जैसे सोना स्वभाव से—अपनी शक्ति से ही मलिनता के त्यागरूप स्वभाव में परिणमित है। इसलिये उसे कीचड़ के साथ रहने पर भी जंग

नहीं लगती इसी प्रकार स्वभाव से ही ज्ञानरूप परिणमित आत्मा का स्वभाव सर्व रागों के त्याग रूप है, इसलिये चाहे जैसे संयोग में होने पर भी वह ज्ञान रूप ही परिणमित होता है। अस्थिरता का राग होने पर भी उसका स्वभाव राग के त्याग रूप है। परिपूर्ण स्वभाव की भावना में क्षणिक राग की भावना नहीं है, इसीलिये कहा है कि ज्ञान रूप हुये आत्मा का स्वभाव सर्व पर द्रव्यों के प्रति जो राग किया जाता है उसके त्याग रूप है।

अज्ञानी को स्व पर की पृथक्ता का भान नहीं होता, ज्ञान और राग का विवेक नहीं होता और ऐसी प्रतीति भी नहीं होती कि अपना स्वाधीन ज्ञान स्वभाव ही सुखमय है. इसलिये उसके संयोग और राग की रुचि है तथा उसकी भावना है। अतएव सर्व पर द्रव्यों के प्रति जो राग किया जाता है उसके ग्रहण रूप उस अज्ञानी का स्वभाव है। (यहां पर ज्ञानरूप अवस्था और अज्ञान रूप अवस्था का स्वरूप समझाया गया है) अज्ञानी पर द्रव्य से सुख दुःख मानता है इसलिये वह समस्त पर द्रव्यों के प्रति मर्यादातीत रागद्वेष करके दुःखी होता है। जैसे लोहे का स्वभाव कीचड़ के संयोग से काट लगने का है (यहां यह ध्यान रखना चाहिये कि कीचड़ लोहे को जंगरूप नहीं करता किन्तु लोहे की उस पर्याय का स्वभाव ही जंगरूप होजाना है, इसलिये वह जंगरूप होजाता है) उसी प्रकार अज्ञान की क्षणिक अवस्था के रूप में हुये अज्ञानी का वर्तमान अवस्था में पराश्रित दृष्टि से विकाररूप होने का स्वभाव है। कोई पर द्रव्य उसे विकाररुप नहीं करता, किन्तु स्वयं ही स्वाधीन लक्ष्य को भूला हुआ होने के कारण वह पराश्रय से विकारी होता है। 'मैं त्रिकाल अविकारी असंग स्वरूप हूं' अज्ञानी को इसकी कोई खबर नहीं है किन्तु वह अपने को इस प्रकार पराश्रित मानता है कि मैं पर के प्रति रागद्वेष रूप होने वाला हूं, मुझे पर से सुख दुःख होता है। संयोग के परिवर्तन से मेरे भाव में परिवर्तन होता है, इस प्रकार जिसने पर के कारण अपने को विकृत रूप होना माना है और अपने को पर से भिन्न नहीं माना वह पर लक्ष्य को छोड़कर स्वरूप में स्थिर नहीं हो सकता इसलिये उस अज्ञानी का स्वभाव सर्व पर द्रव्यों के प्रति राग करना होता है। एक ओर परिपूर्ण स्व और दूसरी ओर सर्व पर-इस प्रकार दो भाग करके भेद विज्ञान ही यहां कराता है। आज की बात बहुत ही उत्तम शैली से कही गई है। आज के न्यायों को बारंबार विचार करके पचाना चाहिये और अंतर में मनन करके निर्णय करना चाहिये।

प्रत्येक पदार्थ अपने स्वरूप से है और पर स्वरूप से त्रिकाल में भी नहीं है यह मूल सत्य है। प्रत्येक आत्मा पर से त्रिकाल भिन्न है इसलिये पर के द्वारा किसी को किसी भी प्रकार हानि लाभ नहीं हो सकता। सभी आत्मा अपने स्वरूप से भगवान ज्ञानानंद पूर्ण सामर्थ्यवान हैं, वे क्षणिक विकार योग्य नहीं है और न विकाररूप ही होने वाले हैं। वर्तमान में मोक्ष स्वरूप है ऐसी आत्म स्वरूप की बात अपने आत्मा में जमगई है, इस प्रकार के अनेक जीव तैयार हो चुके हैं, मुक्ति की मंडली तैयार होगई है यह सनातन सत्य सर्व विदित है। सभी आत्मा स्वभावतः मोक्ष स्वरूप हैं उस स्वभाव की श्रद्धा ज्ञान और उसको अरागी स्थिरता रूप होने वाला मैं स्वयं हूं, ऐसी श्रद्धा करके आत्मा में परमानंद दशा की प्रसिद्धि करने की घोषणा की जा रही है।

अज्ञानी की दृष्टि संयोग पर है; इसलिये वह अपने स्वाधीन सुख स्वरूप को वास्तविकतया स्वीकार नहीं कर सकता। उसका जैसा स्वरूप है वह वैसा नहीं देखता। अपना जैसा परिपूर्ण स्वरूप है वैसा ही जानना मानना और उसमें किंचित् मात्र भी विपरीतता को न आने देना सो यही जागृतरूप में आत्मधर्म का अनंत पुरुषार्थ करते रहने की सत् क्रिया है। आत्मा अंतरंग ज्ञानानंद स्वरूप है, देहादिरूप अथवा पुण्य पाप रूप नहीं है, इसकी रुचि अथवा प्रतीति अज्ञानी के नहीं है, इसलिये उसका लक्ष्य पर के ऊपर है। वह निजको यह मानता है कि मैं पररूप होनेवाला हूं इसीलिये वह सुख के लिये संयोग चाहता है।

कहा जाता है कि यदि पेट में रोटियां पड़ें तो शांति से धर्म हो, अच्छा बातावरण हो तो सद्विचार आयें, किंतु क्या रसोई का काम करते हुये अच्छे भाव आ सकते हैं। अज्ञानी जीव निरंतर ऐसी परावलंबी दृष्टि से अपने सुख को पराधीन मानता है कि यदि भगवान की प्रतिमा के पास जायंगे तो शुभभाव होंगे, किन्तु वह अनादि की ऐसी पराश्रित दृष्टि को लेकर साक्षात् तीर्थंकर

की धर्मसभा में भी पहुंच जाता है तो वहां भी वह ऐसी स्वाधीन तत्त्वदृष्टि नहीं करपाता कि स्वाधीन स्वरूप में सुख है। और वह इस पराश्रित बुद्धिरूप विपरीत मान्यता के फंदे को नहीं छुड़ा सकता कि कुछ पुण्य चाहियें और अमुक संयोग हो तो ठीक हो, इसी कारण से यह दुःखी होकर परिभ्रमण कर रहा है।

जो पर से आत्म सुख मानता है वह पर के ऊपर से दृष्टि को क्यों हटायेगा? पर के ऊपर से दृष्टि को उठाये बिना अज्ञान दूर नहीं हो सकता। जिसने अज्ञान भाव से जिन जिन पदार्थों को अनिष्ठ या खराब माना है उन सबके प्रति उसने द्वेष बुद्धि बनाली है। जिसने पर पदार्थ के कारण हानि मान रखी है उसने यह माना है कि पर पदार्थ मुझे द्वेष कराते हैं और इसी लिये वह द्वेष को दूर नहीं कर सकेगा। अज्ञानी अनंत पदार्थों में अनुकूलता प्रतिकूलता का भेद करके सबके प्रति राग द्वेष करता है इसलिये वर्तमान अज्ञान दशा का स्वभाव (लोहे के दृष्टांत को लेकर) सब के प्रति रागद्वेष करके कर्म से लिप्त होना है। अज्ञानी राग की रुचि को नहीं छोड़ता। अज्ञानी का लक्षण ही राग को कर्तव्य मानना है। जिसने परसे अपने में सुख दुःख माना है उसने यह मान लिया है कि पर मुझ में प्रविष्ट होकर मुझरूप होता है और मेरे गुण पर में जाते हैं वह वस्तु की स्वाधीनता को नहीं मानता।

निमित्त का अर्थ है पर वस्तु। जिसने पर वस्तु से लाभ या हानि को माना है उसने यह भी माना है कि यदि मैं अच्छे निमित्तों को प्राप्त करूं तो सुख हो, मैं पर का ग्रहण-त्याग कर सकता हूं, मैं पर को अपने आधीन करके उसकी व्यवस्था कर सकता हूं, अर्थात् पर पदार्थों का संबंध प्राप्त करके उन सब के साथ रागद्वेष किया करूं। ऐसी विपरीत दृष्टि रूप महा अज्ञान में चैतन्य स्वरूप की अनंत हिंसा करने वाला महा पाप है और वह महापापरूप दृष्टि ही संसार के अनंत जन्म मरण के गर्भ में सड़ाने का मूल है।

यह बात बहुत अच्छी है, आत्म स्वरूप की बात अपूर्व है, समझने योग्य है। यदि रुचि पूर्वक एक घंटा भी सुनने में ध्यान लगाये तो महापुण्य का बंध हो और उसके फल स्वरूप पुनः आत्महित की परम सत्य बात सुनने का सुयोग प्राप्त हो। और जो जीव इस सत्य बात का अपने ज्ञानमें निर्णय करके यथार्थ समझ के द्वारा अपने हिताहित का विवेक करे तथा सत्य का बहुमान और महिमा जानकर विचार करे उसे अपूर्व कल्याण स्वरूप सम्यग्दर्शन-आत्मप्रतीति हो और उसे निर्जरारूप धर्म प्राप्त हो। यदि सत्य को समझने की ओर रुचि करके उसका बहुमान पूर्वक विचार करे तो जीव धर्म सम्मुख हो और उसमें निर्जरा भी हो; किन्तु सत्य की रुचि और बहुमान तब होता है जबकि उसकी (सत्यता की) कीमत हो।

अज्ञानी की निमित्ताधीन सुख बुद्धि नहीं छूटती इसलिये वह बाहर से सुख प्राप्त करना चाहता है। वह यह मानता है कि यदि शरीरादिक अच्छे रहें और कर्ण इन्द्रियादिक ठीक हों तो मुझे सुख हो, इसीलिये वह पर पदार्थ का संबंध और राग करने का इच्छुक रहता है, वह संग और विकार से छूटना नहीं चाहता। इसलिये अज्ञानी जीव लोहे की भांति राग से लिप्त होने के स्वभाव वाला है और इसीलिये वह राग के और परके संबध से युक्त—पराधीन दुःखी ही रहता है। और ज्ञानी के शुद्ध स्वाधीन दृष्टि है तथा अंतर प्रतीति प्रगट है, इसलिये वह किसी भी पर द्रव्य को रागद्वेष करने योग्य नहीं मानता। वह स्व द्रव्य में परिपूर्ण स्वाधीन सुख मानता है, इसलिये स्व में ही स्थिर होना चाहता है और इसीलिये वह सोने की भांति राग के त्यागरूप स्वभाववाला है। अस्थिरता की वृत्ति का वह नाशक है; इसप्रकार दृष्टिभेद से ज्ञानी और अज्ञानी के बीच आकाश पाताल के समान महान् अंतर है, यहीबात यहां समझाई गई है। ★

प्रश्नोत्तर

परम पूज्यश्री कानजी स्वामी से पूछे गये प्रश्न और उनके द्वारा
: : प्राप्त उत्तर : :

(१)

प्रश्नः—शुभ भाव और अशुभ भाव—इन दो भेदों का मूल कारण क्या है? देव, गुरु, शास्त्र अथवा स्त्री, कुटुम्ब इत्यादि पर की अपेक्षा के बिना आत्मा में शुभ-अशुभ भाव के भेदों का क्या कारण है?

उत्तरः—भेद की अपेक्षा से शुभ और अशुभ को भिन्न माना गया है उसका कारण विपरीत दिशा में वीर्य की मन्दता अथवा तीव्रता के रूप में युक्त किया गया है। जब विपरीत दशा में वीर्य तीव्र रूप में युक्त होता है, तब अशुभ भाव होता है और जब मन्द रूप में युक्त होता है तब शुभ भाव है। और पुण्य—पाप—दोनों विकार हैं, इसलिये परमार्थतः वे दोनों एक ही हैं। इस प्रकार अभेद-दृष्टि से देखने पर उसका कारण अज्ञान-भाव से स्वलक्ष्य से हट कर पर-लक्ष्य पर जाना है।

(२)

प्रश्नः—एक जीव ज्ञानी मुनि है। उसके संयम-दशा-सातवां, छठवां गुण-स्थान है तथा क्षयोपशम सम्यक्त्व भी है। किन्तु जब वह उस संयम-दशा में देह-त्याग करके देवलोक में जाता है, तब उसके वहां असंयमभाव-चौथा गुणस्थान होता है-इसका क्या कारण है?

उत्तरः- जिसके मुनि-दशा में चारित्र का पुरुषार्थ अप्रतिहत नहीं है, किन्तु प्रतिहत पुरुषार्थ है, उसके चारित्र अधूरा रह जाता है और इसीलिए नवीन भव का बन्ध हुआ है। यदि चारित्र अप्रतिहत होता तो नवीन भव का बन्ध नहीं होता और वह उसी भव में मोक्ष चला जाता।

वह छठे गुण-स्थान से चौथे गुण-स्थान में आता है—वहाँ पर दृष्टि का दोष नहीं है, किन्तु चारित्र का दोष है। दृष्टि ने तो सामान्य एकरूप द्रव्य का लक्ष्य किया है। इसलिए वह अखण्ड है और इसीलिए वह दृष्टि दूसरे भव में भी बनी रहती है। किन्तु चारित्र गुण अखण्ड नहीं हुआ है इसलिए वह छठे से चौथे गुणस्थान में आ जाता है। जो गुण अखण्ड हो जाता है उस गुण को साथ में लेकर जाता है और यदि गुण में खण्डता होती है, तो वह साथ में नहीं ले जाया जा सकता। यदि दृष्टि और चारित्र दोनों पूर्ण हो जाएं तो उसी भव में मुक्ति मिल जाए। किन्तु, यदि दृष्टि क्षायक हो और चारित्र अपूर्ण रह जाए तो तीन भव के भीतर ही मुक्ति हो जाती है। यहां से छठे गुणस्थान में देह-त्याग होने पर भी देव-लोक में छठा गुणस्थान नहीं रहता-इसका कारण यह है कि उसका चारित्र खण्डित है; पुरुषार्थ में भंग हुआ है और सत्ता में अप्रत्याख्यानावर्णादि कर्म विद्यमान हैं। जब वह देव से मनुष्य होगा तब उसे चारित्र का पुरुषार्थ नए सिरे से करना होगा। और जब वह उग्र पुरुषार्थ के द्वारा कर्मों का सत्ता में से क्षय करेगा तभी उसे मुक्ति-प्राप्ति होगी।

दृष्टि का विषय तो एक-रूप अखण्ड है, इसलिये दृष्टि भी एक-रूप रहती है। उसमें खण्ड नहीं होता। चारित्रकी स्थिरता में क्रम होता है। उसमें दृष्टि का कोई दोष नहीं है। पर्याय का सम्बंध वर्तमान पुरुषार्थ के साथ ही होता है। वर्तमान-पर्याय में पूर्व पर्यायका अभाव होता है। इसलिए पूर्व के दोषका कोई कारण वर्तमान पर्याय में नहीं है। देव-लोक में जाने वाले मुनि के असंयत भाव होता है इसका कारण उस अवस्था की वर्तमान योग्यता ही है और उसमें पुरुषार्थ का दोष है। वहां न तो कोई कर्म का कारण है और न दृष्टि का दोष।

(३)

प्रश्न—यदि पूर्वकी पर्याय वर्तमान का कुछ भी न कर सकती हो तो अमुक स्थान से आया हुआ जीव अमुक दशा प्राप्त नहीं कर सकेगा-यह क्यों? जैसे यह नियम है कि पंचम नर्क से निकल कर, मनुष्य होकर उसी भव से कोई जीव मोक्ष नहीं जा सकता-यह कैसे होता है?

उत्तर—जो जीव मोक्ष नहीं जा सकता, उसमें उस जीवकी वर्तमान अशक्ति ही कारण है। पहले उस जीवने उग्र बल-पूर्वक विपरीत वीर्य किया है, और वह विपरीतता स्वयं वर्तमान पर्याय में भी चालू रखी है। इसलिये उसके वर्तमान वीर्यकी मन्दता विद्यमान् है। वीर्यकी मन्दता को वर्तमान्-वर्तमान स्वयं लंबाये जाता है। पूर्व पर्याय विकार नहीं कराती। यदि वर्तमान विकारी कार्य (पर्याय) को स्वयं करे तो पूर्व की विकारी पर्याय को व्यवहार से कारण कहा जायगा। किन्तु यह बात नहीं है कि

पूर्व की विकारी पर्याय कारण है, इसलिए वर्तमान कार्य भी विकारी ही होना चाहिए। यदि वर्तमान कार्य हो, तो पूर्व को कारण कहा जायगा। परिणमन तो वर्तमान एक समय-मात्र के लिये ही होता है, इसलिये बंधन भी एक ही समय के लिये है। शास्त्रों में जो तेतीस सागरोपम इत्यादि स्थिति के कर्मों की बात कही गई है, वह केवल यह ज्ञान कराने के लिए है कि "यदि जीव ऐसे ही विपरीत भावों को बनाए रखेगा तो ऐसा ही परिणमन होता रहेगा।" उसका हेतु यह बताने का है कि जीव का वर्तमान पुरुषार्थ कितना है। वह यह नहीं बताता है कि कर्म का बल अधिक है। वास्तव में तो पर्याय स्वयं व्यवहार है। फिर भी यदि पर्याय में निश्चय कारण और व्यवहार कारण का विचार किया जायगा तो वर्तमान समय में उस अवस्था का उपादान (पुरुषार्थ) निश्चय कारण और पूर्व की पर्याय का व्यय वर्तमान पर्याय का व्यवहार कारण है।

(४)

प्रश्न:—एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ नहीं कर सकता—यह बात द्रव्य-दृष्टि से है या पर्याय-दृष्टि से?

उत्तर:—यह बात पर्याय-दृष्टि से है द्रव्य-गुण तो नित्य है। उसमें कुछ भी करणीय नहीं होता। करने योग्य तो पर्याय में है। जब एक द्रव्य की अवस्था होती है, तब अनुकूल निमित्त ही उपस्थित होता है, किन्तु अपनी पर्याय के रूप में तो वस्तु स्वयं ही परिणमन करती है। इसलिये अपनी पर्याय का कर्त्ता द्रव्य स्वयं ही है। अन्य उपस्थित पदार्थों ने इस द्रव्य की अवस्था में कुछ भी नहीं किया, क्यों कि प्रत्येक द्रव्य भिन्न भिन्न है। आत्मा क्या है और वह स्वयं क्या कर सकता है—यह अपने स्वाधीन ज्ञान से नहीं जाना और परावलम्वी ज्ञान से मात्र परपदार्थ को जाना, वहां पर विपरीत मान्यता के कारण जीव ने पर में कर्तृत्व मान लिया है। इन्द्रिय-ज्ञान पराधीन है। वह मात्र पर-वस्तु की वर्तमान स्थूल पर्याय को जानता है। निज में जो विकल्प होते हैं—उन्हें वह नहीं जानता। तथा अपने विकल्प-रहित द्रव्य-गुण को भी वह नहीं जानता। यदि वह यथार्थ ज्ञान के द्वारा अपने द्रव्य-गुण और पर्याय को जाने तो अपनी अवस्था का कर्तृत्व माने और पर के कर्तृत्व को छोड़ दे। यदि वह अपनी अवस्था के लिये परपदार्थ की ओर न देखकर अपने द्रव्य की ओर देखे अर्थात् द्रव्य-दृष्टि करे तो धर्म हो। इन्द्रिय-ज्ञान न तो विकार को देख सकता है और न विकार रहित स्वभावको ही। इन्द्रिय ज्ञान के द्वारा यह नहीं जाना जा सकता कि आत्मा क्या करता है। उस से मात्र जड़की क्रिया दिखाई देती है। यदि आत्मा के अवलम्बन के द्वारा स्वाधीनज्ञान करके आत्माकी क्रिया क्या है, यह जाने तो वह जड़की क्रियाका कर्तृत्व नहीं मानेगा। इस प्रकार यथार्थ ज्ञान के द्वारा अपने स्वभाव की दृढ़ता होगी, पर के कर्तृत्वका अभिमान दूर होगा और सच्चा सुख प्रकट होगा।

(५)

प्रश्न—अग्निको स्पर्श करने से दग्ध हो जाते हैं,—यह जान लेने के बाद कोई अग्निस्पर्श का भाव नहीं करता तो फिर सम्यक् दृष्टि रागको बुरा जान कर भी राग क्यों होते हैं?

उत्तर—यह ज्ञात होने पर कि यह वस्तु मुझे हानि करेगी—उ[illegible] युक्त हुए विना कभी कभी रहा [illegible] जाता। जैसे कोई बहुत समय [illegible] विमार है, उसे यह मालूम है [illegible] यह मिठाई मेरे लिये कुपथ्य [illegible] हानिकारक है; वैद्यने भी उसे ख[illegible] से मना किया है, फिर भी वह क[illegible] कभी रसकी आसक्ति के कारण उ[illegible] खा लेता है। खाते समय भी [illegible] यह जानता है कि यह मिठाई मु[illegible] हानि पहुंचाएगी, फिर भी वह खा[illegible] है—इसी प्रकार ज्ञानी भी रा[illegible] को अपना स्वरूप नहीं मानते [illegible] उनकी दृष्टि में यथार्थ मान्यत[illegible] होने पर भी चारित्र की अस्थिरता [illegible] उनके अल्प-बंध का कार्य हो जात[illegible] है। ज्ञानी के अभिप्राय में राग क[illegible] कर्तृत्व नहीं होता, इसलिये "कार्य हो जाता है" यह कहा गया है। किन्तु 'कर्ता है'—यह नहीं कहा, क्यों कि उसकी उसमें रुचि नहीं है—उसे दूर करने की ही भावना है। चारित्र की अस्थिरता में ज्ञानी के राग होता है, किन्तु वह उससे लाभ नहीं मानता, प्रत्युत हानि ही मानता है। उस राग से स्वरूप की आंशिक निर्मलता नष्ट होती है। यदि वह नष्ट न होती हो तो केवलज्ञान हो जाय। इसप्रकार ज्ञानी के राग होने पर भी उसका अभिप्राय भिन्न है।

(६)

प्रश्न:—जब सम्यक्दर्शन (सच्ची श्रद्धा) होता है तब चेतना का दर्शन उपयोग होता है या ज्ञान-उपयोग?

उत्तरः-सम्यक् श्रद्धा के समय अपनी ओर का ज्ञान-उपयोग होता है। जिस समय सम्यक्दर्शन प्रगट होता है, उस समय दर्शनोपयोग नहीं होता। किन्तु निज की ओर का जो ज्ञान-उपयोग होता है, वह दर्शनोपयोग-पूर्वक होता है। सम्यक् श्रद्धा के समय अपनी ओर उन्मुख हुए ज्ञान को इन्द्रिय का अवलम्बन नहीं होता। वहां पर बुद्धिपूर्वक विकल्प नहीं होते। वह केवल-ज्ञान का अंश है। मतिज्ञानने निज का विषय किया है, इसलिए वह केवलज्ञान का अंश है। मतिज्ञान अपने विषय को अभेद-रूप में ग्रहण करता है। यद्यपि सम्यक् दर्शन के समय ज्ञान मन के अवलम्बन से मुक्त है-अर्थात् वहां बुद्धि पूर्वक विकल्प नहीं है। किन्तु अबुद्धिपूर्वक सूक्ष्म विकल्प विद्यमान है। यदि सर्वथा मन का अवलम्बन छूट जाय तो केवलज्ञान हो जाय। सम्यक् दर्शन होने पर तत्काल ही केवलज्ञान नहीं हो जाता। बीच में गुणस्थान-भेद आता ही है।

जीवद्रव्य में श्रद्धा-ज्ञानादि अनन्त गुण हैं। उनमें कथंचित् गुण-भेद है। यदि गुण-भेद नहीं होता तो जब श्रद्धा निर्मल हुई थी, तभी केवल ज्ञान हो जाता, किन्तु ऐसा नहीं होता। बीच में साधकदशा तो आती ही है। सम्यक्-श्रद्धा होने के बाद किसीको एक समय में ही केवलज्ञान नहीं हो जाता, क्योंकि द्रव्य के प्रत्येक गुण कथंचित् पृथक हैं। वस्तु की अपेक्षा से गुण-अभेद हैं। इसलिए सम्यक्-श्रद्धा के समय दृष्टि में गुण भेद का विकल्प छूट गया है, किन्तु उसी समय ज्ञानमें अबुद्धि-पूर्वक सूक्ष्म गुण-भेद का विकल्प विद्यमान है। (अबुद्धि-पूर्वक विकल्प का अर्थ है—ज्ञान का मन के साथ सूक्ष्म संयोग।) यदि वस्तु में गुण सर्वथा अभेदरूप ही हो तो एक गुण के निर्मल होने पर सभी गुण पूर्ण निर्मल हो जाना चाहिए—अर्थात् श्रद्धा के साथ ही ज्ञान की भी पूर्णता हो जानी चाहिए। किन्तु श्रद्धा और ज्ञान की पूर्णता में अन्तर होता ही है, क्योंकि गुण भेद है। और क्यों कि, गुण भेद है, इसलिये गुणस्थान-भेद भी होता ही है। और द्रव्य-दृष्टि से वस्तु में गुण अभेद हैं। इसलिये एक गुणकी निर्मलता प्रगट होने पर समस्त गुणों की निर्मलता अंशतः प्रगट होती ही है।

(७)

प्रश्नः-ग्यारहवें गुणस्थान में कषाय-भाव नहीं है, फिर भी सत्ता में मोहिनी कर्म का सद्भाव क्यों है?

उत्तरः-ग्यारहवें गुणस्थान में भी वीर्य की मंदता है। सातवें गुणस्थान से श्रेणी चढ़ते समय वीर्य जितने अप्रतिहत बलपूर्वक उठना चाहिये था उससे कम बलपूर्वक उठा है। यदि श्रेणी चढ़ते समय अप्रतिहत पुरुषार्थ के द्वारा सत्ता में से ही कषायका क्षय करते आये होते तो सीधा केवलज्ञान प्राप्ति करते; किन्तु श्रेणी चढ़ते समय मन्द पुरुषार्थ के कारण कषाय का उपशम किया किन्तु उसे सत्ता में से नष्ट नहीं किया, इस लिये ग्यारहवें गुणस्थान से पुरुषार्थ पीछे हट जाता है। तात्पर्य यह है कि वहांपर मन्द पुरुषार्थ हैं इसलिये सत्ता में मोहनीय कर्म विद्यमान है। यदि वह सम्पूर्ण पुरुषार्थ को जागृत करे तो चारों घातिया कर्मों का सर्वथा क्षय करके केवलज्ञान को प्राप्त कर ले। ग्यारहवें गुणस्थानका अन्तिम समय का वीर्य केवलज्ञान के वीर्य की अपेक्षा अनन्तवां भाग कम है। यदि उपादानकी अपनी अवस्थामें पुरुषार्थ कम न हो तो सामने निमित्त हो कैसे सकता है? इसलिये उपादान के पुरुषार्थ की कचाई के कारण सत्ता में कर्म का अस्तित्व रहता है।

ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थान के बीच यह अन्तर है कि ग्यारहवें की अपेक्षा बारहवें का वीर्य तीव्र है। मोहका उदय किसी में भी नहीं है। किन्तु ग्यारहवें में सत्ता में मोहका सद्भाव है और बारहवें में मोहका क्षय है। उपशम श्रेणी के चढ़ते समय जीव मन्द पुरुषार्थ पूर्वक चला है इसलिये वह ग्यारहवें से पुनः नीचे गिरता है। और फिर वह सातवें गुणस्थान में आकर तत्पश्चात् ही क्षपक श्रेणी माड़ सकता है।

(८)

प्रश्न—श्रद्धा और चारित्र दोनों गुण भिन्न हैं, फिर भी उन्हें रोकने में एक मात्र मोहकर्म को ही निमित्त क्यों माना है? श्रद्धाको रोकने में दर्शनमोह और चारित्रको रोकने में चारित्रमोह निमित्त है; किन्तु इन दोनों को एक मोहनीय कर्म क्यों माना गया है?

उत्तर—दोनों के कार्यों की कथंचित् समानता है इसलिये दोनों को एक ही कर्म में मान लिया गया है। मोहनीय कर्मका एक मात्र कार्य है-स्वरूप से बहिर्मुख होने में निमित्त रूप होना। यह व्याख्या दर्शनमोह और चारित्रमोह दोनों पर लागु होती है। फिर भी दर्शन और चारित्र दोनों गुण भिन्न हैं, इसलिये उन्हें

रोकने वाली दो भिन्न प्रकृतियों का होना भी स्वाभाविक है। तात्पर्य यह है कि दर्शनमोह और चारित्रमोह दोनों मोहकर्म के भेद हैं। मूलतः मोहकर्म का कार्य एक मात्र वहिर्मुखी प्रवृत्ति कराना ही है। और उस वहिर्मुखी प्रवृत्ति के दो पहलू हैं–दर्शन और चारित्र मोहनीयका सद्भाव वहिर्मुख और उसका अभाव सो अन्तर्मुख है।

(९)

प्रश्नः–दृष्टि पूर्ण हो और चारित्र अपूर्ण रहे; क्या ऐसा भी हो सकता है ?

उत्तरः–गुणभेद की अपेक्षा से चतुर्थ गुणस्थान से दृष्टि पूर्ण हुई है किन्तु चारित्र पूर्ण नहीं हुआ। और अभेद की दृष्टि से–समस्त गुण अभेद है इस अपेक्षा से–एक गुणकी पूर्णता होने पर समस्त गुणों की पूर्णता होनी चाहिये। चौथे गुणस्थान में चारित्र इत्यादि गुण सम्पूर्णतया खिल नहीं सके हैं, इसलिये दृष्टि में भी कथंचित् अपूर्णता है। फिर भी चौथे गुणस्थान में दृष्टिने जो विषय किया है वह विषय परिपूर्ण है। उस श्रद्धा के विषय के आधार से ही– चारित्र की पूर्णता होती है। मैं चारित्र करूं इस प्रकार का विकल्प भी कषाय है, इसलिये वह चारित्र में बाधक है। सर्वगुणों से अभेद द्रव्य का लक्ष करना अर्थात् अभेद स्वभाव में दृष्टि का बल लगाना सम्यक्‌चारित्र का कारण है।

मुक्तिका–मार्ग

मुक्तिका–मार्ग सद्गुरुदेव श्री कानजी स्वामी द्वारा सत्तास्वरूप ग्रंथ पर किये गये कुछ प्रवचनों का सार हैं। मुक्ति का मार्ग पाकर आप आत्म विभोर हो जायेंगे। यदि आपकी स्वाध्याय शालामें न हो तो आज ही मंगा लीजिये।

इस के विना कैसे रहा जा सकता ?

[शेष पृष्ट ५० से आगे]

स्व–सत्ता के सन्मुख हुआ व्यक्ति स्वरूपको पहचानता है और पर सत्ता में गया हुआ स्वरूपको भूल जाता है। आचार्यदेव कहते हैं कि पंचमकाल में जीव क्रियाकांड में फस गये हैं, हमें इस ग्रंथ के रचने का विकल्प उठा है तो जगत क्यों नहीं समझेगा ? अवश्य समझेगा। समयसार के संबंध में क्या कहें इसे तो जिसे समझा है वही जानता है। यह सच्चा जिन-शासन है। आचार्यदेवने अद्भुत करुणा बरसाई है। यह समयसार किसी निमित्त–उपादान के बलिष्ट योग से रचा गया है। आचार्यदेव कहते हैं कि हम अपने स्व स्वभाव के बल से कह रहे हैं तब फिर हमारा निमित्त हीं ऐसा है कि भव्य जीव यथार्थ तत्त्वको अवश्य प्राप्त करेंगे। कैसा ज्ञान यथार्थताको प्राप्त करेगा ? अपने निज रस से आकृष्ट होकर, अज्ञान में जो राग रस के आकुलता का वेदन था उस वेदनको तोड़कर अपने ज्ञान और आनंद रस से आकृष्ट होकर प्रगट होता है। ऐसा प्रभु, शांत, मीठे और मधुर रस से भरपुर है। सम्यग्दर्शन के प्रगट होने पर पुण्य पाप के आकुलता वाले भावोंको अंशतः नाश करता हुआ और अपने में एकाग्र होता हुआ निज रसको पाता है, इसका नाम है सम्यग्दर्शन–इसका नाम है सम्यक्त्व। शेष सब अपने माने हुये परिकरकी बाते हैं।

व्यवहार का अर्थ है पराश्रित दृष्टि, उस से आत्माको भिन्न बताया है। पराश्रित दृष्टि से कभी भी पुरुषार्थ प्राप्त नहीं होता। इस प्रकार विभाग करके आत्माको पृथक् बताया है। कभी भी व्यवहार से परमार्थ प्राप्त नहीं होता, इस प्रकार का विभाग बता दिया गया है, तब फिर इसे जान कर ऐसा कौन पुरुष होगा जिसे भेदज्ञान न हो ? अवश्य होगा। आचार्यदेवने पंचमकाल के प्राणियों की पात्रताको देखकर शास्त्र लिखे हैं। पंचमकाल के पात्र जीव जड़ और चैतन्य का विभाग करके अवश्य स्वरूपको पायेंगे। वे एकावतारी होंगे। यह तो प्रथम से प्रथम सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की बात हैं, जो धर्मकी मूल नींव हैं और मोक्ष का बीज है। जो वीतराग हो गये हैं उनकी यह बात नहीं है यह तो चौथी भूमिकाकी बात है।

जो शरीर मन और वाणीकी क्रिया है वह मैं नहीं हूं और जो संसार के बहाने से होनेवाली वृत्तियां एवं धर्म के बहाने से होनेवाली वृत्तियां और परकी ओर से होनेवाली वृत्तियां हैं वे भी मैं नहीं हूं। मैं तो एक चैतन्य मूर्ति अखंड ज्ञानस्वरूप हूं। इस प्रकार यहां भिन्नत्वकी प्रतीति दर्शाई गई है। यहां किसी दीर्घ संसारी की बात नहीं है। यहां पर तो उसकी बात है जिसे आत्म प्रतीति हो चुकी है ओर जो एक दो भव में मोक्ष जानेवाला है। जिसने आत्मा के अनंत पुरुषार्थको नहीं देखा उसे अनंत संसार का चक्कर लगाना है।

यदि कोई कहे कि कर्म मुझे बाधा देते हैं, काल बाधक है और जड़ अवगुण कराते हैं तो समझना चाहिये कि ऐसी मान्यता वाले पाखंडदृष्टि अनंत संसारी हैं, उनकी यहां पर चर्चा नहीं है।

★

क्रमबद्ध पर्याय का स्पष्टीकरण

जो भी कार्य होता है वह कर्ता के आश्रित होता और कर्ता उस कर्म के आश्रित होता है, कर्ता कार्य पर अवलंबित होता है, ऐसा नहीं होता कि कार्य कहीं हो और कर्ता कहीं रह जाय। जड़ की अवस्था के आश्रित जड़ और आत्माकी अवस्था के आश्रित आत्मा होता है। यह नहीं हो सकता कि कर्ता अलग रह जाय और अवस्था अलग बनी रहे। कर्ता और कार्य चैतन्य के चैतन्य में और जड़ के जड़ में स्वतंत्र हैं। कोई पर द्रव्य किसी पर द्रव्य की अवस्था को बदलने में समर्थ नहीं हैं।

जीव अपने क्रमबद्ध परिणामों में से उत्पन्न होकर के भी जीव ही है, अजीव नहीं। भगवान आत्मा में क्रमबद्ध एक समय के बाद दूसरे समय की पर्याय और दूसरे समय के बाद तीसरे समय की पर्याय क्रमशः उत्पन्न होती है। एक समयमें त्रिकाल की समस्त पर्यायें नहीं आजाती। आत्मा अनादि अनंत है, उसमें अनादिकाल की जितनी अवस्थायें होती हैं वे सब एक के बाद एक होती हैं, वस्तु की क्रमबद्धता नहीं छूटती। आत्मा में ज्ञानादि अनंत गुण हैं, उसमें एक गुणकी एक समयमें एक ही अवस्था होती है। अनंतगुणो की मिलाकर एक समय में अनंत अवस्थाऐं होती हैं। ज्ञान, दर्शन, चारित्र अस्तित्व, वस्तुत्व इत्यादि अनंतगुण आत्मा में हैं। प्रत्येक गुण प्रति समय बदलता रहता है, यह नहीं हो सकता कि गुण न बदले; इसलिये प्रत्येक गुण समय समय पर क्रमबद्ध बदलता रहता है किन्तु गुणों की तीनों काल की सभी अवस्थाऐं एक साथ नहीं आजाती।

वस्तु अनंतगुणों का पिंड है, वस्तु में जो अवस्था होती है वह एक के बाद दूसरी क्रमशः है, क्रमबद्ध होती है, क्रमशः होती है।

आत्मा में जो अवस्था होती है उसमें आत्मा स्वयं क्रमशः परिणमित होता हुआ भी स्वयं ही है, दूसरी कोई वस्तु परिणमित नहीं होती। आत्मा कर्ता है और उसकी अवस्था उसका कार्य है। वह कार्य आत्मा में क्रमशः होता है, पास का दूसरा आदमी कर ही क्या सकता है। यदि एक दूसरे की अवस्था को करने लगे तो वस्तु पराधीन होजाय। यदि पास में श्री तीर्थंकर खड़े हों तो वे भी क्या कर सकते हैं। अपनी रुचि अपने द्वारा यदि स्वभाव में आ जाय तो स्वभाव की क्रमबद्ध अवस्था होती है, और अपनी रुचि यदि पर में होगई तो विकार की क्रमबद्ध अवस्था होती है इसमें दूसरा क्या कर सकता है।

स्वयं अपनी अवस्था से उत्पन्न होता हुआ स्वयं ही है दूसरा कोई नहीं है। कर्म कारण हो और आत्मा कार्य हो सो बात नहीं है किन्तु स्वयं ही अपना कारण और स्वयं ही अपना कार्य है।

जड़ में भी क्रमबद्ध पर्याय होती है। जैसे मिट्टी में से घड़ा बनने की जो पर्याय होती है वह क्रमबद्ध होती है, उसमें कुम्हार कुछ नहीं कर सकता, इसलिये अजीव का कर्ता जीव नहीं है किन्तु अजीव अपनी अवस्था से एक के बाद दूसरा उत्पन्न होता हुआ अजीव ही है।

जिसे ऐसी प्रतीति होगई है कि अपनी अवस्था क्रमशः होती है उसके यह भाव दूर होजाता है कि पर मेरा कुछ कर देता है। उसकी पराधीनता की ऐसी दृष्टि दूर होजाती है कि अनंत जीव और अनंत जड़ मेरा कुछ कर सकते हैं। यह अत्यंत सूक्ष्म बात है, यह कर्ता कर्म का महान् सिद्धांत है।

वस्तु में पर्याय एक के बाद दूसरी क्रमशः होती है उसका कर्ता अन्य कोई नहीं स्वयं ही है। बंध के समय मुक्ति नहीं होती और मुक्ति के समय बंध नहीं होता। वे पर्यायें एक के बाद दूसरी होती हैं किन्तु दोनों एक साथ नहीं होती। वस्तु तो निश्चित एकरूप है, उसमें एक के बाद दूसरी का क्रम नहीं बनता, इसलिये वस्तु अक्रम है और पर्याय क्रमरूप है।

केवलज्ञान की पर्याय पहले आजाय और सम्यग्दर्शन की पर्याय बाद में आजाय, ऐसी उल्टी सीधी पर्याय प्रगट नहीं होती किन्तु सम्यग्दर्शन पहले होता है और केवलज्ञान उसके बाद ही होता है, इसप्रकार क्रमशः पर्याय प्रगट होती है, वस्तु का स्वभाव ही ऐसा है।

आत्मधर्म के संयुक्तांक (१०-११-१२) में प्रगट हुये क्रमबद्ध पर्याय शीर्षक लेखका

विशेष स्पष्टीकरण

: : (श्री समयसारकी गाथा ३०८ से ३११ तक के श्री कानजी स्वामी के प्रवचन से) : :

पुरुषार्थ के स्वीकार किये बिना और पुरुषार्थ का प्रारंभ किये बिना मोक्षमार्गकी ओर की क्रमबद्ध पर्याय नहीं होती और मोक्ष की भी क्रमबद्ध पर्याय नहीं होती।

जिसके ज्ञान में पुरुषार्थ का स्वीकार नहीं है वह पुरुषार्थ को अपने आप प्रारंभ नहीं करता और इसीलिये इसे बिना पुरुषार्थ के सम्यग्दर्शन नहीं होता और केवलज्ञान भी नहीं होता। जो पुरुषार्थ को स्वीकार नहीं करता, उसके निर्मल क्रमबद्ध पर्याय नहीं होती किन्तु विकारी क्रमबद्ध पर्याय हुआ करेगी।

जो अवस्था जिस वस्तु में से होती है उसवस्तु पर दृष्टि रखने से मुक्ति होती है। परद्रव्य मेरी अवस्था को कर देगा, ऐसी दृष्टि टूट जाने से वस्तु पर दृष्टि रखने से राग नहीं होता। वस्तु की क्रमबद्ध अवस्था होती है, ऐसी दृष्टि होनेपर स्वयं ज्ञाता दृष्टा होजाता है। और ज्ञातादृष्टा के बल से अस्थिरता छूटकर स्थिर होकर अल्पकाल में मुक्ति होजाती है, इसमें अनंत पुरुषार्थ है।

पुरुषार्थ के द्वारा स्वरूप दृष्टि करने से और उस दृष्टि के द्वारा स्वरूप में रमण करने से चैतन्य में शुद्ध क्रमबद्ध पर्याय होती है। वह शुद्ध क्रमबद्ध पर्याय बिना प्रयत्न के नहीं होती।

अंतर्मुहूर्त में केवल ज्ञान प्राप्त हो जाता है, उसमें भी चैतन्य के वीर्य की उग्रता कारण है। परंतु अंतर्मुहूर्त में भी समस्त पर्यायें क्रमशः ही होती है। कोई भी पर्याय उल्टी सीधी नहीं होती। पहले होने वाली पर्याय पीछे हो और पीछे होने वाली पर्याय पहले हो, ऐसा नहीं हो सकता। जैसे पहले केवलज्ञान होजाय और बाद में वीतरागता हो, यह नहीं बन सकता। परंतु जो पर्याय जैसी होना होती है वैसी ही होती है और फिर समस्त पर्यायें एक साथ भी नहीं होती। सम्यक्-दर्शन की पर्याय और केवलज्ञान की पर्याय के बीच अंतर्मुहूर्त का अंतर होताही है परंतु अंतर्मुहूर्त में जो केवलज्ञान हुआ, वह किसीने कर नहीं दिया और यह बात भी नहीं है कि स्वतः काल लब्धि के पाक से वह होगया है किन्तु वह चैतन्य के उग्र पुरुषार्थ का कार्य है।

चैतन्य के एक क्षण के पुरुषार्थ की उग्रता में पांचों समवाय आजाते हैं। (१) वस्तुपर जो यथार्थ दृष्टि हुई वह पुरुषार्थ के द्वारा ही है एकतो वह पुरुषार्थ। (२) उस पुरुषार्थ के द्वारा जो स्वभाव था वह पर्याय प्रगट हुई वह स्वभाव। (३) जिस समय पुरुषार्थ के जोर से पर्याय प्रगट हुई वह स्वकाल अर्थात् वह काल। (४) पुरुषार्थ के द्वारा जो पर्याय होना थी वह होगई वह नियत। (५) स्वभाव पर्याय के प्रगट होते समय जो कर्मका अभाव हुआ वह कर्म। इनमें से चार समवाय अस्तिरूप में अपने में आ जाते हैं और अंतिम जो कर्मका अभाव है वह नास्ति परिणमन के रूपमें अपने में आजाता है; इसमें सभी सिद्धांतों का समावेश हो जाता है।

वस्तु की पर्याय के प्रगट होने में पांच कारण होते हैं, उन सबमें पुरुषार्थ मुख्य है। जैसी वीर्य की उग्रता या मंदता होती है उसी के अनुसार कार्य होता है।

जो पुरुषार्थ करता है उसे अन्य चारों कारण भी मिल जाते हैं। जो पुरुषार्थ को स्वीकार नहीं करता उसे एक भी कारण लागू नहीं होता।

पहले सम्यग्दर्शन के होने में अनंत पुरुषार्थ है, सम्यग्दर्शन के होते ही मानों अनंत संसार कट गया। जहां सम्यग्दर्शन हुआ वहां अनंत पराक्रम प्रगट हो गया। जो द्रव्यदृष्टि है वह सम्यग्दृष्टि है, वस्तुदृष्टि के बल से अवश्य वीतराग हो जायगा, अवश्य केवलज्ञान प्राप्त कर लेगा। वस्तुदृष्टि के बल से प्रयत्न के द्वारा स्थिर होता है और उसके बाद वीतराग होता है।

वस्तुकी पर्याय का आधार द्रव्य है, उसमें पर का आधार नहीं है। जहां ऐसी दृष्टि होगई वहां जहां से पर्याय होती है वहां देखना होता है। पर के द्वारा मेरी पर्याय होती है इस प्रकार के राग का विकल्प दूर हो जाता है, वीतरागदृष्टि होजाती है। अनंत पर्यायों का पिंड परिपूर्ण द्रव्य मौजूद है उस पर दृष्टि जाते ही विकार की दृष्टि दूर होजाती है। पराश्रय दृष्टि के दूर होते ही भीतर जो क्रमबद्ध पर्याय से परिपूर्ण द्रव्य है उसपर दृष्टि जमाते ही पुरुषार्थ के द्वारा क्रमबद्ध पर्याय प्रगट

होजाती है। उग्रवीर्य अथवा मंदवीर्य के कारण से जिस समय जो पर्याय हुई उसका वह सुकाल है। अन्य कोई काल चैतन्य को नहीं रोकता। कहा जा सकता है कि कोई उग्रपुरुषार्थ करता है और कोई मंद पुरुषार्थ करता है इसका क्या कारण है? उसका कारण चैतन्य का अपना कारण है। उग्रअथवा मंद पुरुषार्थ के लिये स्वयं परिणमित हुआ है। पुरुषार्थ को उग्र अथवा मंद करने के लिये चैतन्य स्वयं स्वतंत्र है, मुझमें न तो कर्म कारण है न पर कारण है और न काल ही कारण है। अकारण पारिणामिक द्रव्य के लिये किसी का भी कारण लागू नहीं होता। कर्म तो निमित्त मात्र है स्वयं अकारण पारिणामिक द्रव्य है, उसमें किसी का कारण काम नहीं लगता। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को नहीं रोकता। यदि रोके तो द्रव्य पराधीन होजाय।

द्रव्य में अनंतगुण हैं और उसकी जो अनंत पर्याय है वह प्रति समय क्रमबद्ध होती है, उस द्रव्य स्वभाव की श्रद्धा पुरुषार्थ के द्वारा होती है। वैसी श्रद्धा और ज्ञान के होने पर पुरुषार्थ स्वभाव की ओर झुका और पराश्रय दूर होगया। कर्म का, काल का, गुरु का, देव का, और पुस्तक का आश्रय दृष्टि में से छूट गया और मेरी अवस्था मुझमें मेरे कारण से होती है यह प्रतीति होगई। आत्मा में पर्याय एक के बाद दूसरी निजमें से होती है, ऐसी प्रतीति होने पर परद्रव्य का आश्रय दूर हुआ और वही पुरुषार्थ हुआ, उस पुरुषार्थ के द्वारा जो स्वभाव प्रगट हुआ, वह स्वभाव इत्यादि पांचों समवाय एक पुरुषार्थ के करने पर आजाते हैं।

अपने द्रव्यमें सभी अवस्थायें क्रमशः होती हैं, उल्टी सीधी नहीं होती इसप्रकार की प्रतीति होने पर मित्र और शत्रु का पराश्रय दूर होजाता है। वस्तु पर दृष्टि जाते ही अनंत पराक्रम विकसित होता है। जिसकी द्रव्य पर दृष्टि है वह वस्तु में और पर्याय में कोई भेद नहीं देखता। वस्तु और वस्तु की पर्याय के बीच भेद का कोई विकल्प नहीं रहता। वस्तु पर दृष्टि जाने पर मुक्ति कब होगी, ऐसी आकुलता या खेद का विकल्प दूर होजाता है। विकल्प के दूर होजाने पर द्रव्य और पर्याय के बीच वह कोई भेद नहीं देखता, उसमें ज्ञाता दृष्टा का अनंत पराक्रम आ जाता है। वह ज्ञाता दृष्टा के बलसे स्वरूपमें स्थिर होकर मुक्ति की पर्यायको प्राप्त करेगा।

मोक्षकी पर्याय और मोक्षके मार्गमें पराश्रयता नहीं है। मुझमें जो अवस्था होती है वह क्रमशः होती है इस प्रकार की पराश्रय दृष्टि दूर हुई और स्वाश्रयदृष्टि आई वह अनंत पुरुषार्थ हुआ। वस्तु के ऊपर दृष्टि जाने पर मोक्ष और मोक्षमार्ग की पर्यायमें भेद अथवा विकल्प नहीं रहता, इसमें अनंत पराक्रम है।

भगवान आत्मा में अनंतगुण भरे हुये हैं, उसमें प्रत्येक समयमें अवस्था क्रमशः, क्रमवार, क्रमबद्ध होती है, उस अवस्थाको शरीर अथवा पर इत्यादि कोई नहीं करता, ऐसी स्वाश्रयदृष्टि हुई और पराधीनदृष्टि दूर हुई कि अनंत पुरुषार्थ आगया। द्रव्य पर दृष्टि जाते ही आकुलता का विकल्प टूट जाता है और ज्ञाता दृष्टा के तेज से स्थिर होकर मोक्ष पर्याय को पाता है। द्रव्य पर दृष्टि है अर्थात् उसके बल से मुक्ति की पर्याय झट प्राप्त होजाती है आकुलता का विकल्प टूटते ही झट मुक्ति की पर्याय मिल जाती है वह एक दो भवमें अवश्य मुक्ति प्राप्त करेगा।

अज्ञानी के विपरीत दृष्टि है वहां भी उसकी पर्याय क्रमशः होती है। जो इस बात को समझ लेता है उसके विपरीतता नहीं रहती। जहां यथार्थ समझ प्राप्त हुई वहां इसने यह किया और उसने वह किया इत्यादि दूसरे का दोष ढूंढ निकालना मिट जाता है। वस्तु की ओर देखने से ज्ञात होगा कि वस्तु में रागद्वेष नहीं है किन्तु जो नया नया राग द्वेष होता है वह अपने विपरीत पुरुषार्थ के द्वारा होता है, उसमें दूसरेका कोई दोष नहीं है। जीव की क्रमबद्ध पर्याय की प्रतीति होने पर जड़ की भी क्रमबद्ध पर्याय की प्रतीति हो जाती है।

अब जड़की क्रमबद्ध पर्याय कही जाती है

शरीरमें जब रोग आना होता है तब आता है, शरीरमें जब जब रोग आता है वह उसकी क्रमबद्ध अवस्था के अनुसार ही आता है, उसे बदलने के लिये कोइ समर्थ नही है।

मकान जिस ढंग से बनना होता है उसी ढंग से बनता जाता है। एक मंजिल के बाद दूसरी मंजिल और उसके बाद तीसरी मंजिल जैसे क्रमसर होनेवाली है वैसे ही बनती है और उसके बाद उसमें यदि संग मर मर बिछनेवाला होता है तो वह बिछता है और यदि कांच लगने का होता है तो वह लगता है। उसकी अवस्था जैसी होनी होती है वैसी क्रमशः होती है।

दूध में क्रमशः खटाश आने का अवसर था, तब वह उसके कारण से होती है। कोई उसमें खटाश कर नहीं देता। छाछ इत्यादि के कारण खटाई होगई सो

बात नहीं है किन्तु उससमय दूध में दही की अवस्था क्रमशः होनी थी इसलिये उसे वैसा निमित्त मिल जाता है। प्रत्येक परमाणु स्वतंत्र कार्य कर रहा है। एक परमाणु को दूसरा परमाणु परिणमन नहीं करा सकता, इसप्रकार यहां स्वतंत्रता की घोषणा की गई है।

उपादान दृष्टि यथार्थ दृष्टि है, एक वस्तु स्वतंत्र है, उसमें दूसरा क्या कर सकता है, मिट्टी से घड़ा बनता है उसमें क्रमपूर्वक मिट्टी में से पर्याय आती है। क्रमपूर्वक जब घड़े की पर्याय होने का समय आता है तब कुम्हार के होने पर भी मिट्टी में से जो क्रमबद्ध पर्याय होती है वह उसकी मिट्टीके अपने कारण से होती है, कुंभकार के कारण नहीं।

प्रश्न—कोई कहता है कि यदि कुम्हार उपस्थित न हो तो?

उत्तर—घड़ा न बनना हो और मिट्टी का पिंड ही रहना हो तो वह भी क्रमशः ही है, उस क्रमको तोड़ने के लिये अज्ञानी, ज्ञानी अथवा तीर्थंकर कोई भी समर्थ नहीं है।

जब कोई आकस्मिक दुर्घटना होती है तब लोग यह विचार करते हैं कि यह घटना कैसे होगई? किन्तु सच बात तो यह है कि कुछ भी आकस्मिक तो होता ही नहीं है, वह अपनी क्रमबद्ध अवस्था के नियमानुसार ही होता है। जो इसप्रकार वस्तु के नियम को समझता है उसे वीतराग दृष्टि हुये विना नहीं रह सकती। जो वीतराग स्वभाव को समझ लेता है उसे वीतरागता का कार्य आये विना नहीं रहता।

मैं पर का कुछ नहीं कर सकता और पर मेरा कुछ नहीं कर सकता। सभी आत्मा की और जड़ की एक के बाद दूसरी क्रमशः अवस्था होती है, इसमें मैं क्या करूं? इसके समझते ही तत्काल शांति होती है। यहां तो यह कहना है कि पर के ऊपर का झुकाव छोड़ दे; क्योंकि जिसकी दृष्टि जहां होती है वहीं उसकी ओर की क्रमबद्ध पर्याय होती है। दूसरे का कर्तृत्व छोड़ने पर अनंत पुरुषार्थ आजाता है।

—अनेकांत धर्म का स्वरूप—

इस लेख (जिसका प्रथम अनुवाद अेक गुजराती भाईने किया था) गत वर्ष के चौथे अंकमें छप गया है किंतु उसकी भाषा–शैली इत्यादि ठीक नहीं बनपाई थी इसलिये उसका ठीक अनुवाद यहां दिया जाता है, पुनर्मुद्रण के लिये कृपालु ग्राहक क्षमा करें। —प्रकाशक

---

* अनेकांत धर्म का स्वरूप *

पूज्य श्री कानजी स्वामी का व्याख्यान

—*— शार्दूल विक्रीडित —*—

सर्वद्रव्यमयं प्रपद्य पुरुषं दुर्वासना वासितः,
स्वद्रव्य भ्रमतः पशुः किल पर द्रव्येषु विश्राम्यति।
स्याद्वादी तु समस्त वस्तुषु परद्रव्यात्मना नास्तितां,
जानन्निर्मल शुद्धबोध महिमा स्वद्रव्यमेवाश्रयेत्॥२५३॥

प्रत्येक वस्तु अपनी अपेक्षा से है और पर की अपेक्षा से नहीं है, यही अनेकांत है। आत्मा पर स्वरूप से नहीं है, और पर आत्मा के स्वरूप से नहीं है। दोनों वस्तुएँ अनादि अनंत पृथक् हैं। एक वस्तु को दूसरी वस्तु के आश्रित मानना ही संसार का कारण है तथा पृथक् वस्तु को पृथक् मानकर आत्मा में एकाग्र होना सो मोक्ष का कारण है। प्रत्येक वस्तु और उसके गुण पर्याय अपनी अपेक्षा से है और पर से अभाव स्वरूप हैं। पर का परत्व दृष्टि से अस्तित्व है और आत्मा की दृष्टि से अभाव है, इस प्रकार आत्मा आत्मा की दृष्टि से है, परकी दृष्टि से नहीं। जिस रूपमें स्वयं नहीं है उस रूपमें अपने को माने तो वह एकांतवादी है। आचार्यदेवने इस कलश में एकांतवादी को पशु अर्थात् ढोर कहा है; वे चौरासी में चक्कर लगाते हैं।

अनेकांत के इन चौदह बोलों में जैन दर्शन का रहस्य निहित है। वस्तु का अस्ति–नास्ति स्वतंत्र स्वभाव है। प्रत्येक वस्तु अपनी अपेक्षा से है, पर की अपेक्षा से नास्तिरूप है। जो एक वस्तु में दूसरी वस्तु को किसी रूपमें सहायक मानता है वह एकांतवादी है अर्थात् जैनदर्शन का घातक है।

कुनय की वासना से वासित हुआ एकांत वादी अज्ञानी मानता है कि 'शरीरादिक ठीक रहे, रुपये पैसे की अनुकूलता हो, कुटुम्बादि अनुकूल हो तो धर्म हो' जिसने ऐसा मान लिया उसने आत्मा के धर्म को पर के आधीन माना है। अर्थात् आत्मा को और पर वस्तु को एक माना है यहां आचार्यदेव ने उसे पशु कहा है।

आत्मा पर की अपेक्षा से नास्तिरूप है और पर आत्मा की अपेक्षा से नास्तिरूप है, इस प्रकार अनेकांत को न मानकर जो परवस्तु में अपने आत्मा के अस्तित्व को मानता है–आत्मा के स्वभाव को पर के आश्रित मानता है और पर द्रव्य में निजत्व के भ्रम से परद्रव्यों

में लक्ष्य करके उलझ जाता है। ऐसा स्वपर की खिचड़ी बनानेवाला जीव एकांत वादी पशु है, यही बात इस कलशमें कही गई है।

जो यह मानता है कि एक द्रव्य को दूसरे द्रव्य से सहायता मिलती है वह समस्त द्रव्यों में एकत्व को मानता है। जो पर वस्तु से अपने में कोई भी गुण या दोष मानता है वह मूढ़ है। पर वस्तु चाहे जैसी हो किन्तु वह मुझे लाभ या अलाभ करने में समर्थ नहीं है। जिसे ऐसी प्रतीति नहीं है और जो पर वस्तु की अनुकूलता से अपने को लाभ मानकर पर में फस गया है वह मूढ़ पशु के समान है यही आचार्यदेव ने कहा है।

पर वस्तु आत्मा के आधीन नहीं है और आत्मा पर वस्तु के आधीन नहीं है इसलिये पर वस्तु से आत्मा को कोई भी हानि लाभ नहीं है। मेरा स्वभाव मुझमें मेरे द्वारा ही है जिसे ऐसी श्रद्धा नहीं बैठती वह पर वस्तु में आत्मा के धर्म को मानकर—अपना स्वभाव पराश्रित है यों मानकर पर द्रव्य में निजत्व मानता है वह एकांतवादी है। अनेकांतवादी ज्ञानी जानता है कि—मेरे स्वभाव में पर नहीं है और पर वस्तु में मैं नहीं हूं, ऐसी स्थिति में जिस वस्तु का अभाव है वह 'अभाव वस्तु' किसी को लाभ या हानि नहीं कर सकती। यदि 'अभाव वस्तु' से भी किसी को कुछ होने लगे तो 'खरगोश का सींग लगने से अमुक आदमी मर गया' यह बात भी माननी होगी।

मेरे आत्मा में कर्म नहीं हैं और कर्म में मैं नहीं हूं। शरीर में आत्मा नहीं है और आत्मा में शरीर नहीं है, दोनों वस्तुऐं भिन्न हैं, दोनों का एक दूसरे में अभाव है। यों जानने वाला अनेकांतवादी सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा समस्त वस्तु की अपेक्षा से अपना अभाव मानता है और अपनी अपेक्षा से परका अभाव मानता है। इसलिये वह परवस्तु से कोई लाभ हानि नहीं मानता, किन्तु प्रत्येक वस्तु का एक दूसरे में नास्तित्व है; इसलिये मेरा स्वभाव मुझ से है, स्वभाव की शुद्ध श्रद्धा ज्ञान और चारित्र भी मुझ से ही है। जो यह मानता है और जिसका शुद्धज्ञान महिमा निर्मल है, ऐसे स्वद्रव्य का ही आश्रय करता है। प्रत्येक द्रव्य अनादि अनंत पृथक् रहकर सब अपनी अपनी अवस्था में कार्य कर रहे हैं कोई किसी के लिये सहायक नहीं होता, यह जानने वाला धर्मात्मा पर द्रव्य का आश्रय क्यों लेगा?

भावार्थः—मैं पर रूप से नहीं हूं निजरूप ही हूं यह न मानने वाला पशु समान एकांतवादी आत्मा है। समस्त परद्रव्य रूपमें मानता है, उसे अपने भिन्न स्वभाव की खबर नहीं है। भिन्नत्व की श्रद्धा, भिन्नत्व का ज्ञान और भिन्नत्व की स्थिरता के बिना पृथक् (मुक्त) नहीं हुआ जा सकता। जो वस्तु मुझमें है ही नहीं वह मेरे लिये क्या कर सकती है, मुझमें अभावरूप वस्तु कोई भी कार्य मेरेमें कर ही नहीं सकती और आत्मा परमें अभावरूप है इसलिये वह परमें कुछ भी नहीं कर सकता। और पर वस्तु आत्मा का कुछ नहीं कर सकती। कर्म आत्मा से पर वस्तु हैं इसलिये वह आत्मा को हैरान नहीं कर सकते।

यह अनेकांत जैनदर्शन की जड़ है। यह सिद्धांत अनादिकाल से जगत के (संसारी जीव के) ध्यान में नहीं आया। आत्मा में परका अभाव है और परमें आत्मा का अभाव है। प्रत्येक वस्तु स्वसे अस्ति और परसे नास्ति रूप है, इसे न माननेवाला एकांतवादी है, उसे परसे पृथक् स्वरूप की खबर नहीं है।

स्व अपेक्षा से है और पर अपेक्षा से नहीं है यह कहने पर दूसरी वस्तु की भी सिद्धि हो जाती है। यदि सब मिलकर एक ही वस्तु हो तो एक में विकार न हो क्योंकि स्वभाव में विकार नहीं है। यदि अकेली वस्तु में विकार हो तो विकार स्वभाव होजाय, इसलिये विकार के समय दूसरी वस्तु की उपस्थिति होती है उसका लक्ष्य करके आत्मा स्वयं निजमें विकार करता है। प्रत्येक वस्तुएँ हैं किन्तु सब अपनी अपेक्षा से ही हैं। कोई वस्तु परापेक्षा से नहीं है। एक वस्तु को 'स्व अपेक्षा से है' यह कहते ही 'पर अपेक्षा से नहीं है' इस प्रकार अनेकांत स्वयमेव प्रकाशित करता है। वस्तु स्व अपेक्षा से है यह कहते ही उसमें पर का अभाव आ जाता है। जिसका स्व में अभाव है वह वस्तु स्व को लाभ या अलाभ नहीं कर सकती; शरीर की किसी भी चेष्टा से आत्मा को लाभ या हानि नहीं हो सकती। क्योंकि आत्मा की अपेक्षा से शरीर आत्मा में अभाव वस्तु है, इसी प्रकार आत्मा की इच्छा से शरीर की अवस्था नहीं होती; क्योंकि शरीर में इच्छा का अभाव है। जिसे इस अनेकांत की खबर नहीं है उसे आचार्य देवने पशु कहा है।

आत्मा शरीर का कुछ भी करने की इच्छा भले करे किन्तु उस इच्छा का शरीर में अभाव है इसलिये जो इच्छा शरीर में अभावरूप है वह शरीर का क्या कर सकती है। इच्छा राग है, उसका आत्मा की अवस्था में सद्भाव है किन्तु शरीर में तो राग का अभाव है और जो अभाव है वह क्या कर सकता है? उसी प्रकार इच्छा में शरीर का, कर्म का अभाव है, इसलिये शरीर अथवा कर्म इच्छा में क्या कर सकते हैं? अर्थात् शरीर या कर्म इच्छा नहीं कराते, इच्छा में कर्म की नास्ति है, तब कर्म इच्छा के लिये क्या कर सकते हैं? कर्म निमित्त है और निमित्त का इच्छा में अभाव है इसलिये कर्म के कारण से इच्छा नहीं है।

पर का इच्छा में अभाव है और इच्छा का पर में अभाव है। इच्छा आत्मा की विकारी क्षणिक अवस्था है उसमें कर्म का अभाव है तब कर्म इस में क्या कर सकता है? इस प्रकार अनेकांतको जानने वाला ज्ञानी सर्व पर से अपना नास्तित्व मानकर स्व द्रव्य में रहता है।

अब पर द्रव्य के विषयको छोड़कर भीतर आइये। अब रही इच्छा सो इच्छा आत्मा में होनेवाली विकारी क्षणिक अवस्था है, उस क्षणिकता के बराबर आत्मा नही है। त्रैकालिक स्वभावकी अपेक्षा में क्षणिक इच्छा का अभाव है और इच्छा में त्रैकालिक स्वभाव का अभाव है। इस प्रकार न तो स्वभाव में इच्छा है और न इच्छा में स्वभाव ही। जो क्षणिक इच्छा होती है उसे अपनी मानना ही संसार है। वस्तु दृष्टि से विकारका अभाव है इसलिये वस्तु दृष्टि में संसार नहीं है। मात्र 'इच्छा मेरी' ऐसी दृष्टिकी विपरीत मान्यता में संसार है।

प्रत्येक वस्तु अपनी अपेक्षा से है और परकी अपेक्षा से नहीं है। यदि वस्तु परकी अपेक्षा से भी अस्तिरूप हो तो दो वस्तुएँ एक हो जांय किन्तु दोनों वस्तुएँ भिन्न हैं इसलिये एक की दूसरे में नास्ति है। देव गुरु और शास्त्र भी पर हैं उनका मुझमें अभाव है, वह अभाव वस्तु के आधार से (देव गुरु शास्त्र के आधार से) मेरा धर्म नहीं है। मेरा स्वभाव मेरे रूपमें है और मेरे धर्म का संबंध मेरे ही साथ है। इस प्रकार पर से भिन्न अपने स्वभाव के आश्रित ही धर्म है।

पहले यह निश्चय कर कि तुझे धर्म करना है या नहीं? यदि धर्म करना है तो 'पर के आधीन मेरा धर्म नहीं है' ऐसी श्रद्धा के द्वारा पराश्रय को दूर हटा। पर से जो जो अपने में होता हुआ माना है उस मान्यता को सच्ची प्रतीति के द्वारा समाप्त कर डाल। 'मेरा स्वभाव मुझमें है, वह कभी परमें नहीं गया' ऐसी श्रद्धा करके स्वभाव में ही स्थिर हो यही धर्म है।

जगत की अपेक्षा से आत्मा असत् है, आत्मा की अपेक्षा से जगत् असत है, किन्तु आत्मा की अपेक्षा से आत्मा और जगत् की अपेक्षा से जगत दोनों ही सत् हैं। इस प्रकार अपने स्वरूप को पर से असत् और स्व से सत् जानकर ज्ञानी स्वद्रव्य में विश्राम करता है, तब अपने स्वरूप को पर रूपमें मानने वाले अज्ञानी को कहीं भी विश्राम स्थान नहीं है।

इसप्रकार कलश २५३ में पर द्रव्य से असत् रूप का भंग कहा है।

अब कलश २५४ में स्वक्षेत्र से अस्तित्व का भंग कहते हैं:—

— शार्दूल विक्रीडित :—

भिन्न क्षेत्रनिषण्ण बोध्य नियत व्यापार निष्ठः सदा
सीदत्येव बहिः पतंतमभितः पश्यन् पुमांसं पशुः
स्वक्षेत्रास्तितया निरुद्धरभसः स्याद्वादवेदी पुन-
स्तिष्ठत्यात्म निखात बोध्यनियत व्यापारशक्तिर्भवन्॥

प्रत्येक वस्तु अनेकांतात्मक है फिर भी एकांतवादी वस्तु के एक ही पहलूको मानकर दूसरे पहलूको नहीं देखता। वह एक अपेक्षाको पकड़कर उतनी ही वस्तुको मानता है, वह वस्तुस्वरूप से अज्ञात है। एक कथा है कि जिनने कभी हाथी नहीं देखा था ऐसे चार जन्मांध यह निश्चय करने बैठे कि हाथी कैसा होता है। उनमें से एक के हाथ में हाथीकी पूंछ आई, वह उस पूंछको ही हाथी मानकर बोला कि 'हाथी रस्से के समान है'। दूसरे के हाथमें हाथी का पैर आया, उसने उसीको हाथी मानकर कहा कि 'हाथी खंभे के समान है'। तीसरे के हाथ में हाथी का कान आया वह उसीको हाथी मानकर बोला कि 'हाथी सूपा के समान है' चौथे के हाथ में हाथी की सूंड आई, वह उसी को हाथी मानकर बोलाकि 'हाथी मूसल जैसा है।' इसप्रकार हाथी के स्वरूप से अजान वे चारों अंधे हाथी के एक एक अंग को ही सारा हाथी मान बैठे। इसीप्रकार आत्म-स्वरूप से अजान अज्ञानी जीव एक अपेक्षा को ही सारी वस्तु का स्वरूप मान बैठता है। जैसे वस्तु परापेक्षा से

नास्तिरूप है यह कहते पर वह अपनी अपेक्षा से ही नास्तिरूप मान बैठता है। और स्व अपेक्षा से है यह कहने पर परापेक्षा भी है यह मान बैठता है। पर की स्व अपेक्षा से नास्ति है यह कहनेपर परकी सर्वथा नास्ति मान बैठता है अथवा एक वस्तु उस अपेक्षा से है यह कहने पर अपने में भी पर की अस्ति मान बैठता है। इसप्रकार वह एक अपेक्षा को पकड़कर उसीप्रकार सारी वस्तु के स्वरूप को मान बैठता है। वह वस्तु के यथार्थ स्वरूप से अजान है, एकांतवादी है, आचार्यने उसे इस कलश में पशु कहा है।

आत्मा सदा अपने असंख्य प्रदेश से ही है। सर्वथा एकांतवादी पर क्षेत्रमें रहने वाले ज्ञेय पदार्थोंका आत्मा मात्र ज्ञाता है फिर भी 'यह पर क्षेत्र मेरा है' इसप्रकार पर क्षेत्रों को स्व क्षेत्र मानकर अपना नाश करता है। शरीरादि पर ज्ञेयों के रूपमें अपने को मानकर अज्ञानी पर लक्ष्य में प्रवृत्ति करता है, अपने ज्ञान का स्व पर प्रकाशक स्वभाव होने से ज्ञान में पर वस्तु ज्ञात होती है वहां यह मानकर कि 'मेरा अस्तित्व मानों पर में गया है' पर द्रव्य की ओर के लक्ष्य में पड़कर अपना नाश करता है किन्तु आत्मा में पर वस्तु का आकार निहित नहीं है और न आत्मा का आकार परमें निहित है। आत्मा तो सदा स्व क्षेत्रमें ही है, अज्ञानीको उसकी खबर नहीं है।

पहले २५३ वें कलशमें द्रव्यकी बात थी और इसमें क्षेत्रकी बात है। पर क्षेत्र के आकारको जानने का आत्मा का स्वभाव है। ज्ञान में पर क्षेत्र ज्ञात होता है उस पर क्षेत्रको अपना मानकर पर-गत रहता हुआ भी अपने को पररूप मानकर एकांतवादी आत्मस्वरूप का नाश करता है।

आत्मा नित्य असंख्य प्रदेशी है, उसके एक एक प्रदेश में अनंत गुण हैं। उसका क्षेत्र अपने में ही है। भाई! तेरा क्षेत्र तुझमें ही है, तेरा क्षेत्र तेरे असंख्य प्रदेशाकार है, इस प्रकार पृथक् न मानकर जो पर क्षेत्रमें एकत्व मानता है उसे आचार्य भगवानने इस कलशमें एकांतवादी पशु कहा है।

स्याद्वाद को जाननेवाला ज्ञानी स्व क्षेत्र से अपना अस्तित्व जानता है इसलिये पर क्षेत्रमें अपने पन की मान्यता नहीं है। इतना पर की ओर का वेग तो रुक ही गया है। स्व क्षेत्रमें असंख्य प्रदेशों का पिंड हूं, इसप्रकार मानता हुआ ज्ञानी स्वक्षेत्रमें रहता हुआ भी आत्मामें ही आकाररूप प्राप्त पर ज्ञेयों के साथ एकत्वको नहीं मानता। किन्तु यह जानकर कि मेरे ज्ञानमें ही परको जाननेकी शक्ति है, स्वद्रव्यमें ही रहता है। परवस्तु मेरे ज्ञानमें ज्ञेय है जो पर वस्तु है सो मैं नहीं हूं किन्तु मेरा जो ज्ञान है मैं वही हूं। इसप्रकार अपने ज्ञान का निश्चय व्यापाररूप शक्तिवान होकर निजद्रव्य में स्थिर होकर अपने को जीवित रखता है, स्वरूप में ही रहता है।

वीतराग होने से पूर्व शुभराग आता है और शुभराग के निमित्त देव इत्यादि भी होते हैं किंतु वे राग अथवा राग के निमित्त मेरे नहीं हैं। मैं पर क्षेत्र से भिन्न हूं, मेरा धर्म मेरे क्षेत्रमें ही है, इसप्रकार नहीं मानने वाले अज्ञानी जीव स्वभावको पररूप मानकर अपना नाश करते हैं और ऐसा जानने वाले ज्ञानी पररूप में न मानकर निज रूप में ही अपने को स्थिर करके नष्ट नहीं होने देते।

प्रभु! तेरा क्षेत्र तेरे ही पास है, पर क्षेत्र तुझ से भिन्न है, परक्षेत्रको जानने का तेरा स्वभाव है, किन्तु कोई पर तुझमें आ नहीं जाता तथा तेरा क्षेत्र किसी पर वस्तु में नहीं जाता। आत्मा आत्मा के ही क्षेत्र में है, अज्ञानी परक्षेत्र में अपना अस्तित्व मानकर अपना नाश करते हैं ज्ञानी स्व क्षेत्रमें परकी नास्ति मानकर स्वमें स्थिर रहते हैं। इस प्रकार अनेकांत उस वस्तुका स्वरूप है जो ऐसे तत्त्व के स्वरूपको नहीं समझता उसे निगोद में जाना होगा और जो इसे समझ लेगा वह त्रिलोकीनाथ सिद्ध भगवान् होगा। मुख्य गति सिद्ध है या निगोद है, शुद्ध निश्चयगति सिद्ध है और अशुद्ध निश्चयगति निगोद है। बीचकी चार गतियां व्यवहार हैं, उनका काल अल्प है।

—: शार्दूल विक्रीडित :—

स्वक्षेत्र स्थितये पृथग्विध परक्षेत्र स्थितार्थोज्झनात्,
तुच्छीभूय पशुः प्रणश्यति चिदाकारान् सहार्थैर्वमन्।
स्याद्वादी तु वसन् स्वधामनि परक्षेत्रे विदन्नास्तितां,
त्यक्तार्थोऽपि न तुच्छतामनुभवत्याकारकर्षी परान् ॥२५५॥

ज्ञान का स्वभाव जानना है इसलिये जहां परवस्तु ज्ञात होती है वहां अज्ञानी 'मानों पर वस्तु ज्ञान में घुस गई हो' इस प्रकार के भ्रम से यह मानता है कि ज्ञान में जो पर वस्तु का आकार ज्ञात होता है उसे निकाल दूं अर्थात् ज्ञान की अवस्था को निकाल दूं तो अकेला ज्ञान रह जायेगा और इस प्रकार वह तुच्छ होकर नाश को प्राप्त होता है। अज्ञानी यह मानता है कि ज्ञान में घर, स्त्री, पुत्र आदि याद आते हैं इसलिये मुझे राग हुये विना नहीं रहता; किन्तु यह बात बिल्कुल गलत है। घर को जानना राग का कारण नहीं है किन्तु घर की ओर का जो ममत्व भाव है वह

हुआ यह जानता है कि ज्ञेय पदार्थ का नाश होने से स्वयं नष्ट नहीं होता। जो आत्मा के ज्ञान की अवस्था को पराश्रित मानता है वह आत्मा को हीनातिहीन पराधीन वस्तु मानता है। मेरी अवस्था क्षण क्षण में मेरे द्वारा होती हैं, उसमें पर की अवस्था नहीं है, पर की अवस्था में मेरी अवस्था नहीं है; इसे नहीं जानने वाला एकांतवादी ज्ञेय पदार्थ के नाश से ज्ञान का भी नाश मानता है। और अनेकांतवादी ज्ञानी स्व काल अर्थात् अपनी अवस्था से अपना अस्तित्व मानता हुआ अपने में ही स्थिर रहता है ॥२५६॥

अब पर की अवस्था से आत्मा असत् है यह कहते हैं:-

—: शार्दूल विक्रीडित :—

अर्थालंबनकाल एव कलयन् ज्ञानस्य सत्त्वं बहि—
ज्ञेयालंबन लालसेन मनसा भ्राम्यन पशुर्नश्यति ।
नास्तित्वं परकालतोऽस्यकलयन् स्याद्वादवेदी पुन—
स्तिष्ठत्यात्मनिखात नित्य सहज ज्ञानैकपुंजी भवन् ॥२५७॥

दूसरे को देखने वाला किन्तु अपने को न देखने वाला एकांतवादी तभी तक ज्ञान का अस्तित्व मानता है जब तक ज्ञानमें परवस्तु मालूम होती है और ज्ञेय ठीक रहेंगे तो मैं ठीक रहूंगा इस प्रकार ज्ञानको ज्ञेय के आधीन मानता है किन्तु परवस्तु से मैं असत् हूं, परवस्तु मुझ से असत् है ऐसा वह नहीं जानता।

प्रत्येक तत्त्व है। 'है' के कहते ही वह पर रूपमें नहीं है जो पर रूप से स्वयं नहीं हैं वह पर के ऊपर लक्ष्य जाने से ही कहता है कि—'भाई तू अपनी अपेक्षा से है, पर से तू नहीं है, तू अपने को समझ, अपने स्वरूपको जान' किन्तु इस प्रकार 'मेरी अवस्था मुझ से है पर से नहीं' यों न मानकर यह मानता है कि पर ज्ञेय बने रहें तो मेरा ज्ञान ताजा रहे किसी लिये वह पर विषय में एकाग्र होता है। विषय का अर्थ क्या है? शरीरादि जड़ वस्तु हैं—रूपी है। आत्मा चैतन्य अरूपी है वह रूपी वस्तु का उपभोग नहीं करता किन्तु उस ओर लक्ष्य करके रागमें एकाग्र होता हैं, वही विषय है। आत्मा अरूपी चैतन्य स्वरूप सर्व पर से भिन्न तत्त्व है। पर वस्तु मेरे ज्ञान के सम्मुख हो तो मैं एकसा बना रहूं यह मानने वाला अपने पृथक् ज्ञान स्वभाव को नहीं मानता। ज्ञान क्या करें? लक्ष्य करे, यदि इच्छा हो तो उस इच्छा को भी ज्ञानने तो जान लिया। जहां जानने में राग करके रुक गया वहां मान बैठा कि मैं ने विषय को भोगा है; किन्तु उस समय वह ज्ञान के लक्ष्य में आया है और उसकी इच्छा हुई है, वही विषय है। बाहरकी वस्तु उसके कारण आती जाती है, वह आत्मा के आधीन नहीं है। जब आत्मा अपने स्वरूप को भूला तब पर को रखने की इच्छा हुई और उस इच्छा की प्रवृत्ति में फस गया, इसी को विषय कहते हैं। अज्ञानी उसमें सुख मानता है वह अपने स्वाधीन सुख स्वभाव को नहीं मानता बस यही संसार है।

शरीरादि ठीक हों तो मैं ठीक रहूं अर्थात् इसका अर्थ यह हुआ कि मुझ में तो सुख है ही नहीं मैं तो लूला, लंगडा, पराधीन अकिंचित्कर हूँ। यदि शरीर लंगडा होता है तो उसे दो लकडियों का सहारा चाहिये; किन्तु जो मान्यता में लंगडा होता है, उसके तो अनंत पर वस्तुरूप लकडियों के सहारे का पार नहीं है। अहा! मैं कौन हूं? आत्मा क्या वस्तु है? स्व क्या है? और पर क्या है? इसकी जिसे प्रतीति नहीं होती उसके जन्म मरण का अंत कहां है? संपूर्ण स्वाधीन तत्त्व को पराधीन मान बैठे हैं, इसके दो छोर कहीं नहीं मिलते। तेरे ज्ञान तत्त्व को ज्ञेय की लालसा नहीं हो सकती। परवस्तु की अवस्था बनी रहेगी तो मैं बना रहूंगा, नहीं तो मेरी अवस्था समाप्त हो जायगी, इसप्रकार जो पर की लालसा रखते हैं वे स्वतंत्र आत्मतत्त्व को किंचित् मात्र भी ठीक नहीं मानते। ऐसा मूढ आत्मा बाहरकी वस्तु ठीक रहे तो मैं ठीक रहूं इस प्रकार बाह्य वस्तु का अपने को संरक्षक मानता है, लेकिन बाहर की वस्तु उसके बाप की तो है नहीं जो उसके रखाये रह सके। पदार्थ का संयोग तो अनंतबार आया और चला गया। अनंतबार महान् राजा हुआ और अनंतबार भिखारी भी हुआ। किसी भी परवस्तुका परिणमन आत्मा के आधीन नहीं है। शरीर भी आयुको लेकर उसकी स्थिति के अनुसार टिकता है। आत्मा शरीरको नहीं रख सकता। किसी भी प्रकार स्त्री, पुत्र, पैसा इत्यादि की समानता रहे तो मेरी भी समानता रहे, यों मानकर अज्ञानी जीव बाह्य वस्तु की अवस्थाकी व्यवस्था को समान रखने में चित्तको भ्रमित बनाये रखता है और अपने लक्ष्य को भूल जाता है। मेरी अवस्था मुझ से होती है, मेरा और पर का कोई संबंध नहीं है, इस प्रकार नहीं मानने वाला आत्माकी हिंसा करता है।

प्रश्न—जब कि किसी जीवको मारा नहीं हो तो हिंसा किसी की हुई?

उत्तर—पर जीव मरे या न मरे उसके साथ-हिंसा-अहिंसा का संबंध तीन कालमें भी नहीं है। किन्तु परवस्तुकी अवस्था इस प्रकार रहे तो ठीक और इस प्रकार रहे तो अठीक; यों जिसने माना उसने पर वस्तुका परिणमन अपने आधीन माना, यही अनंत हिंसा है। परवस्तु की जो प्रतिकूल अवस्था है उसे यदि दूर कर दूं तो ठीक रहे, यह तो मानता है किन्तु

मैं अपने रागको दूर कर दूं तो ठीक रहे इस प्रकार अपने तत्त्वको पृथक् नहीं मानता। बस ! इसी में हिंसा आगई।

पर काल यानि पर की अवस्था से मैं नास्ति रूप हूं और स्व काल से-स्व पर्याय से अस्तिरूप हूं इसलिये पर के बदल जाने पर मैं नहीं बदल जाता, यह जानता हुआ धर्मात्मा अपने आत्मा में दृढ़ता से रहने वाले नित्य सहज ज्ञान के एक पुंज रूप में प्रवर्तमान होता हुआ स्थिर रहता हैं-नष्ट नहीं होता।

मेरा स्वभाव अविनाशी एकरूप शुद्ध ज्ञायक है पर की अवस्था भले बदल जाय किन्तु फिर भी मैं एक नित्य रूप हूं, पर वस्तु में मेरा अहंभाव नहीं है। ऐसी श्रद्धा की प्रतीति में पर वस्तु के प्रति राग द्वेष न होना ही स्थिरता है। पर से भिन्न आत्मा की श्रद्धा का होना सो सम्यग्दर्शन है और उससे विपरीत श्रद्धा तथा विपरीत प्रवृत्ति का होना सो संसार है। यथार्थ श्रद्धा और यथार्थ चारित्र का होना सो मोक्ष है। जो मात्र पर को देखता है और स्व को नहीं देखता वह पर के अस्तित्व में अपने अस्तित्व को मानने वाला एकांतवादी मिथ्या दृष्टि है।

सांसारिक व्यापार में लोग सारे व्यापारको 'इक हत्था' करना चाहते हैं। वे चाहते हैं कि सारे बम्बई शहरकी चांदी खरीदकर इक हत्थी करलें और फिर उसे मन चाहे भावमें बेचेंगे किन्तु बाहर से चांदी का आना या न आना तो पुण्य के आधीन है, उसमें आत्मा का वस नहीं है, फिर भी मैं कर सकता हूं यह मानकर संसार में परिभ्रमण करने का 'इक हत्था' व्यापार करता है।

पर वस्तुमें थोडा परिवर्तन होने पर पुकार उठता है कि-'हाय ! हाय !! अब मेरा क्या होगा ?' और इसप्रकार पर वस्तु को मूल्यवान बनाकर अपने को बिल्कुल नाचीज मान बैठा है। लेकिन, तू मंहगा है या सस्ता ? तुझमें कोई तत्त्व है या मात्र पोला है ? तू गुण युक्त वस्तु है या गुण हीन ? अरे भाई ! तुझमें अनंत शक्ति हैं, किन्तु तू तो कोरा बम्पुलिस का जमादार बन गया है। समझ ! तू स्वतंत्र तत्व है, शांति स्वरूप है, ज्ञान स्वरूप है, तू ऐसा नहीं है कि तुझे दूसरे की सहायता की आवश्यकता हो।

जब घरकी गागरका पानी समाप्त हो जाता है तब तालाब घर नहीं आता, किन्तु गागर को लेकर तालाब पर पानी भरने जाना होता है। इसीप्रकार जिसे आत्माकी गरज हो, सत्को समझने का उत्साह हो, और जिज्ञासा जागृत हो वह सत्को ढूंढ़कर सुनने को जाय। जो सत्को समजना चाहता है उसे सत् न मिले यह नहीं हो सकता, किन्तु बेचारा आत्मा की प्रतीति के बिना इस जगतकी धूमधाममें और स्पर्द्धामें मर गया। उसमें से मुक्त हो कर यदि सत्को समझना चाहे तो सत्के निमित्त भी मिल ही जायेंगे. जैसे पर्वतीय जंगलोमें अनेक प्रकारकी वनस्पतियां पैदा होती हैं, वे अपनी आयुको लेकर आती हैं इसलिये उन्हें बढ़ना है और इसीलिये उन्हें बाह्य वर्षाका निमित्त मिले बिना नहीं रहता। इस प्रकार जो सत् समजने के लीये तैयार हुआ उसे सतका निमित्त मिले विना नहि रहता; किन्तु इस समय तो कमाई ही कमाई की पड़ी है। गरीबोंको कमाना है और अमीरोंको भी कमाना है। कमाईमें से फुरसत मिले तब आत्मा को समजने की चिंता हो न ? पैसेमें शांति है कहां ? तेरी शांति किसी बाह्य वस्तुमें नहीं किन्तु तेरे भीतर ही विद्यमान है। तेरे स्वभाव की शांति के लिये परकी आवश्यकता नहीं है। अज्ञानी यह सोचा करता है कि यदि परवस्तु अनुकूल हो तो मुझे शांति मिले किन्तु सच बात यह है कि ऐसी मान्यता ही शांति नहीं होने देती। ज्ञानी के भी निम्नदशामें अस्थिरता होती है किन्तु वह जानता है कि यह अस्थिरता मेरे स्वभावमें नहीं है तथा परवस्तु के कारण अस्थिरता नहीं है, मात्र वर्तमान अवस्था की भूमिका के अनुसार पुरुषार्थ की अशक्ति को लेकर अस्थिरता आ जाती है।

परवस्तु चाहे जिसप्रकार परिणमन करे किन्तु मैं उससे पृथक् ही हूं, तब फिर वह मेरी क्या हानि कर सकती है ? इस प्रकार ज्ञानी सहज ज्ञानस्वरूप में अपने को स्थिर रखता है। अज्ञानी क्या करता है ? अज्ञानी भी किसी पर का किंचित् मात्र भी कुछ नहीं कर सकता, वह मात्र जानता है और जानने में विपरीत मान्यता के घोड़े दौड़ाता रहता है। शरीर निर्बल होता जाता है और नाड़ी की गति धीमी होजाती है तब अज्ञानी कहता है कि 'मेरा जीव नीचे उतरा जा रहा है' किन्तु यह तो अभी क्या है ? शरीर के पृथक् होनेपर देह दृष्टि वाले को शरीर शांति कैसे रहेगी ? शरीर पर दृष्टि होने से वह शरीर के मंद होजाने पर जानता है कि आत्मा ही मंद पड गया, इसलिये वह कहता है कि 'मेरा जीव नीचे नीचे उतरा चला जा रहा है' किन्तु जीव नीचे कहां उतरेगा ? आत्मा तो शरीर प्रमाण ३॥ हाथ का अमूर्तिक तत्त्व अलग ही विद्यमान है। पर वस्तु भले ही बदल जाय किन्तु उससे कहीं मैं मंद नहीं पड़ सकता यदि इसप्रकार जाने और श्रद्धा करे तो यह स्थिति उत्पन्न हो सकती है कि एक ओर शरीर मंद पड़ रहा है और दूसरी ओर आत्मा का आनंद बढ़ता जा रहा है किन्तु अंतिम अवसर पर दृढता तो तब रह सकती है जब जीवके भीतर पहले से ही श्रद्धा और ज्ञान विद्यमान हो। प्रतीति के बिना दृढता

राग का कारण है इसलिये घर इत्यादि का ज्ञान भले हो; किन्तु ' यह घर मेरा है ' ऐसी मान्यता को भूल जाना है। तू ज्ञान को कैसे भूलेगा।

भाई! जानना तो तेरा स्वभाव है, उसमें पर वस्तु सहज ज्ञात होती हैं। पर वस्तु को भूल नहीं जाना है किन्तु ' पर मेरे हैं ' इस मान्यताको निकाल दे। परका ज्ञान रागद्वेषका कारण नहीं है किन्तु पर मेरे हैं यह मान्यता ही रागद्वेषका कारण है, उस मान्यताको ही बदलना है। उस की जगह अज्ञानी पर वस्तुको जानने रूप अपने ज्ञान की अवस्थाको निकाल देना चाहता है, किन्तु वह निकलेगा किसे? भाई ज्ञान तो तेरा स्वभाव है, क्षण क्षण में उसकी अवस्था बदलती रहती है और उस ज्ञानकी अवस्था का स्वभाव ही ऐसा है कि जहां पर पदार्थ ज्ञात होता है वहां अज्ञानी मानता है कि मैं परवस्तु के ज्ञानको ही भूल जाऊं अर्थात् अपने ज्ञानको ही निकाल दूं इस प्रकार ज्ञेय पदार्थ से मेरे ज्ञानकी अवस्था भिन्न है, यह न मानकर अज्ञानी जीव ज्ञानकी अवस्थाको छोड़ना चाहता है तब अनेकांत-धर्मको जाननेवाला ज्ञानी जानता है कि पर पदार्थको जानते हुये भी मेरे ज्ञानकी अवस्था उस से भिन्न है, मेरे ज्ञान में ज्ञेय पदार्थ घुस नहीं जाते इस प्रकार पर से नास्तित्वको जानता हुआ परवस्तु से अपने को खींचकर स्व क्षेत्रमें रहता हुआ रागद्वेष को छोड़कर स्व क्षेत्रमें ही ज्ञानको एकाग्र करता है।

पर क्षेत्र ज्ञात होता है सो वह तो मेरे ज्ञान स्वरूपकी सामर्थ्य है जानना सो मेरा स्वरूप है पर क्षेत्र मेरा स्वरूप नहीं है यह जानता हुआ ज्ञानी ज्ञानमें पर पदार्थ ज्ञात हों फिर भी ज्ञानको तुच्छ नहीं मानता किन्तु ज्ञानकी सामर्थ्य मानता है और फिर ज्ञानीको यह निश्चय है कि मेरे ज्ञानका स्वभाव तो एक समयकी एक पर्याय में तीनकाल और तीनलोक को जानना है, ज्ञान का स्वरूप ही जानना है, जानने के कारण से राग नहीं है किन्तु 'मैं परमें हूं' अथवा 'पर मुझ में है' इस प्रकारकी मान्यता ही रागद्वेष का कारण है। अज्ञानी स्व-पर की खिचड़ी बनाकर रागद्वेष किया करता है।

पर क्षेत्रगत ज्ञेय पदार्थों के आकार की ज्ञानकी अवस्था होती है किन्तु 'यदि उस अवस्थाको मैं अपनी मानूंगा तो स्वक्षेत्र में ही रहने की जगह मैं परक्षेत्र में चला जाऊंगा' इस प्रकार मानकर अनेकांतको नहीं जानने वाला अज्ञानी पर वस्तु के साथ ही साथ अपने ज्ञानकी अवस्थाको छोड़ देता है और इस प्रकार स्वयं चैतन्य के आकारों-ज्ञानकी अवस्था से रहित तुच्छ होकर नष्ट हो जाता है और स्याद्वाद का ज्ञाता-ज्ञानी पर क्षेत्रमें ज्ञानकी नास्तिको जानता हुआ ज्ञेय पदार्थों को छोड़कर भी अपने ज्ञानकी अवस्थाको नहीं छोड़ता, इसलिये वह तुच्छ नहीं होता; किन्तु अपने क्षेत्रमें ही स्थित रहता है। वह जानता है कि परको जानना मेरा स्वभाव है, मैं पर में नहीं हूं और परको जानने रूप अपने ज्ञानकी अवस्था से मैं भिन्न नहीं हूं जो अवस्था है सो वह मेरा ज्ञान ही है यह जानकर वह स्वभाव में ही स्थिर रहता है इस प्रकार जानकर स्वभाव में स्थिर होना ही धर्म है ॥२५५॥

—: शार्दूल विक्रीडित :—

पूर्वालंबित बोध्य नाश समये ज्ञानस्य नाशं विदन्
सीदत्येव न किंचनापि कलयन्नत्यंततुच्छः पशुः।
अस्तित्वं निज कालतोऽस्य कलयन् स्याद्वाद वेदी पुनः
पूर्णस्तिष्टति बाह्य वस्तुषु मुहुर्भूत्वा विनश्यत्स्वपि ॥२५६॥

यहां अनेकांतकी बात चल रही है। आत्मा देह से भिन्नतत्व है। देह और आत्मा एक नहीं किन्तु भिन्न वस्तु हैं, आत्मा से देह मन वाणी कर्म तथा पर आत्मा त्रिकाल भिन्न है। प्रत्येक आत्मा का तत्व भिन्न है, जड़ भी भिन्न वस्तु है प्रत्येक वस्तु भिन्न है और भिन्न वस्तु की शक्ति भी भिन्न ही है और प्रत्येक की अवस्था भी भिन्न भिन्न है। आत्मा की अवस्था आत्मा में होती है, शरीर की अवस्था शरीर में होती है। देह और आत्मा एक क्षेत्र में होने पर भी दोनों की अवस्था निज निज से भिन्न होती है, इसे नहीं जानने वाला एकांतवादी-अज्ञानी अपने ज्ञान को देह के आधार से मानता है। अर्थात् जबतक देह रहेगी तबतक मैं रहूंगा और देह के नाश होने पर मैं भी उसके साथ नष्ट हो जाऊंगा, इसप्रकार ज्ञेय पदार्थ से भिन्न ऐसे अपने ज्ञान के अस्तित्व को नहीं जानता हुआ अत्यंत तुच्छ होकर नष्ट होजाता है; किंतु ज्ञेयकी अवस्थाओं के नाश होने पर ज्ञान की अवस्थायें नष्ट नहीं होती। आत्मा देह से भिन्न वस्तु है उसमें ज्ञान दर्शन अस्तित्व इत्यादि गुण हैं उनकी समय समय पर अवस्थायें होती रहती हैं। शरीर जड़ रजकणों से निर्मित है रजकण भी वस्तु है, रजकण के रूप में स्थिर रहकर भी उसकी अवस्थायें बदलती रहती हैं।

आत्मा चैतन्य ज्ञान मूर्ति है, शरीर जड़ है। उसमें उसकी अवस्था समय समय पर बदलती रहती है, वह ज्ञानमें मालूम होती है। यहां पर आत्म स्वभाव से अजान अज्ञानी जीव ज्ञेयकी अवस्था के बदलनेपर मानता है कि मानों मैं बदल गया। शरीर अशक्त होजाय, कृश होजाय तो वहां यह मान बैठता है कि मैं-आत्मा कृश होगया और शरीर-इन्द्रिय

बल के बढ़ने पर समझता है कि मेरी शक्ति बढ़ गई। इसप्रकार मानने वाला अज्ञानी आत्मतत्त्व के शरीर से भिन्न नहीं मानता, इसलिये वह वस्तु की हत्या करता है। पर की अवस्था बदलनेपर मानों सारा आत्मा ही बदल गया, इसप्रकार मानकर जो अपने पृथक् अस्तित्वको नहीं मानता वह वस्तुकी हत्या करता है। जहां इंद्रियां शिथिल हो जाती हैं, शरीर मंद पड जाता है वहां अपने को ही शिथिल और मंद मान लेनेवाला यह नहीं मानता कि शरीर से आत्माकी स्वतंत्र शक्ति भिन्न है। जो यह मानता है कि शरीरादि के ठीक रहने पर मैं ठीक रह सकता हूं वह ज्ञानकी स्वाधीन अवस्था का नाश करता है।

आत्मा स्वाभाविक त्रिकाल स्वतंत्र वस्तु है उसमें श्रद्धा ज्ञान अस्तित्व इत्यादि अनंत गुण हैं। उस गुणकी अवस्था समय २ पर उसमें होती है, फिर भी मेरी अवस्था पर से होती है, ज्ञेय के आधार से मेरे ज्ञानकी अवस्था होती है यों मानने वाला अपने आत्माको पराधीन मानता है। त्रिकाल स्वाधीन तत्त्वको परधीन मानना ही अनंत संसारकी जड़ है। पहले जाने हुये ज्ञेय पदार्थ का बाद के काल में नाश होने पर उसी के साथ मानों मेरा ज्ञान भी नष्ट हो जाता हो, यों मानने वाला अपने ज्ञानकी पृथक् सत्ता या पृथक् अस्तित्वको नहीं मानता। वस्तुकी अवस्था समय २ पर बदलती है, यह अपने ज्ञान में मालूम होने पर 'इस के बदलने से मानों मैं भी बदल रहा हूं' इस प्रकार मानने वाला अपने ज्ञानकी स्वतंत्र अवस्थाको नहीं मानता। मुझमें तो कोई शक्ति ही नहीं है, मेरी जाननें की शक्ति परवस्तुको लेकर थी, इस प्रकार वह ज्ञानकी स्वतंत्र शक्तिको नहीं मानता। अर्थात् अपनी पृथक् सत्ताको स्वीकार नहीं करता। शरीर में जवानी हो या वृद्धा-वस्था हो किन्तु मेरा ज्ञान तो उस से भिन्न ही है, इसे न मानने वाला एकांतवादी पशु है, यह आचार्य भगवान ने कहा है।

भाई! तेरा तत्त्व पर से भिन्न है, यह प्रतीति हुये बिना तू क्या करेगा? कदाचित् पूर्व पुण्योदय से वर्तमान बाह्य सामग्री मिली हो तो वह तेरे वर्तमान समान का फल नहीं है किन्तु पूर्व पुण्य के जलने से यह सामग्री मिली है। यह सामग्री जड है, तुझ से भिन्न है, वह तेरे रखाये रहने वाली नहीं है, क्षण भरमें छूमंतर हो जायगी, क्यों कि वह तत्त्व स्वतंत्र है और तू स्वतंत्र है। तेरी अवस्था उसके कारण नहीं है और न उसकी अवस्था तेरे कारण से है।

आत्मा स्वतंत्र तत्त्व है। स्वतंत्र वस्तु की अवस्था परको लेकर होती है यह मानने वाला एकांतवादी अपनी स्वाधीनता की हत्या करता है। स्याद्वाद का ज्ञाता अनेकांतवादी जानता है कि आत्मा में समय समय पर ज्ञान की जो अवस्था होती है वह मेरे कारण होती है। आंखें कमजोर होजाय, इन्द्रियां शिथिल होजांय, शरीर अशक्त होजाय तो भी मेरा ज्ञान अशक्त नहीं होता। मेरी अवस्था से मेरा अस्तित्व है, पर की अवस्था मुझ से पृथक् है, इस प्रकार स्व काल से अपने अस्तित्व को जानता हुआ ज्ञानी ज्ञेय वस्तु की अवस्था के नाश से अपना नाश नहीं मानता, किन्तु स्वयं स्व से पूर्ण रहता है। मेरी अवस्था मुझ से है ज्ञेय की अवस्था भले चाहे जैसी हो किन्तु उससे मेरी अवस्था नहीं बदलती, बाहर की वस्तु बदलने पर भी मेरा ज्ञान तो पूर्ण ही रहता है।

यह मानने वाले पागल हैं कि, समय के बदलने पर बुद्धि बदल जाती है। यह त्रिकाल में भी नहीं हो सकता कि समय के अनुसार धर्म बदल जाय। यह दुनियां कीं गप्पें हैं। रुपया पैसा इत्यादि के चले जाने पर लोग कहते हैं कि "हाय! हाय!! हमारा सब चला गया, 'हमारे जब था तब सब कुछ था' लेकिन तेरा क्या था? पैसा तो धूल है, वह तेरे थे ही कब? उसमें संसारकी रुचि है, इसलिये धूल के ढेर को भी याद कर करके रोता है, किन्तु तीर्थंकर भगवान को याद नहीं करता कि— 'भरत क्षेत्रमें भी तीर्थंकर भगवान विहार करते थे और धर्म मार्ग प्रवर्त रहा था, अहो वह धर्मकाल था।'

अनेकांत में चौदह पूर्वका रहस्य है। इंद्रियों के पुष्ट होने से शरीर के मोटे होने से और धन वृद्धि से आत्मा का श्रद्धान और ज्ञान नहीं बढ़ता। अपने स्वरूप को किसी भी प्रकार के दोष से युक्त न मानकर मेरा स्वरूप निर्दोष वीतराग सिद्ध समान है, इसप्रकार की श्रद्धा करके स्थिर हो तो आत्मा स्वयं सुदृढ़ होता है। अर्थात् शरीरादि के शिथिल होने पर ज्ञान की उग्रता रहती है। त्रिकाल में भी मेरा पर के साथ कोई संबंध नहीं है। परवस्तु मुझसे भिन्न है, उस पर के बदलने पर मैं नहीं बदल जाता, मैं तो ज्ञाता हूं अखंड हूं। जानने में यदि पर अनुकूल हो तो राग और पर प्रतिकूल हो तो द्वेष हो, ऐसा मेरा स्वरूप नहीं है। गुड़ की मिठास कभी भी गुड़ से अलग नहीं होती है, उसीप्रकार मेरा ज्ञान मुझ से भिन्न नहीं है, वास्तव में स्वरूप तो ऐसा ही है किन्तु अज्ञानी दूसरी ही बात मान बैठा है। जो यह मानता है कि वस्तु के बदलने पर मैं भी बदल जाता हूं वह दो वस्तुओं को एक मानता है, उसे आत्मा की श्रद्धा या ज्ञान नहीं है।

पर का नाश हो जाय फिर भी मेरी अवस्था मुझ से ही है, यह जानने वाला अपने अस्तित्व को अपने से ही जानता

चैतन्य स्वभाव खिल उठता है अर्थात् विकसित होजाता है। जब वह चैतन्य ज्योतिरूप सुमंगल विकसित होता है तबफिर वह कभी भी निश्चयतः अस्त नहीं होता, ऐसे सादि अनंत मंगल प्रभात को (केवलज्ञानको) 'सुमंगल' प्रभात कहते हैं।

अनंत ज्ञान का प्रगट होना अर्थात् जिसका प्रकाश अनंत है ऐसे केवलज्ञान का प्रगट होना सो यही सुप्रभात है।

किस की करेगा ? पहले पहचान की हो तो वह अंत में आ उपस्थित हो। देहादि पर वस्तु की चाहे जो अवस्था हो किन्तु मेरा स्वभाव तो मुझ में ही है, यह जानने वाला धर्मात्मा पर से अपने नास्तित्व को जानता हुआ अपना नाश नहीं होने देता। वह आत्मा में दृढता से विद्यमान नित्य सहज ज्ञान के एक पुंजरूप में रहता हुआ निजरूप में स्थिर बना रहता है।

प्रभु! तू अपने गुणों से परिपूर्ण विद्यमान है तुझे अपने स्वभावकी खबर नहीं है इसलिये तू अपने गुणों को परापेक्षित मानकर अनादिकाल से परिभ्रमण कर रहा है; किन्तु तेरा धर्म तुझमें है, तेरा स्वभाव तुझसे है, पर में तेरी नास्ति है, तेरा धर्म परावलंबित नहीं है। इस प्रकार न मानकर जो मूढ़ अज्ञानी एकांतवादी जीव परवस्तु से अथवा पुण्य से या राग से धर्म की आशा रखता है वह भिखारी है उसे अनेकांत की खबर नहीं है। ★

कहते हैं 'भगवान ने जीवन पाया' क्योंकि सिद्धदशा ही जीवन है।

१२–सम्यग्दर्शन और सम्यक्ज्ञान की प्राप्ति के लिये वंदना

जैसे प्रभात का प्रकाश होने पर रात्रि के अंधकार का संपूर्ण नाश होता है। और निद्रित प्राणियों के निद्रा का त्याग होने से दोनों आंखें खुल जाती हैं उसी प्रकार ज्ञानावरणी और दर्शनावरणी कर्मों को–कर्मरूपी मोह निद्रा को दूर कर के जो ज्ञानी–महात्मा पुरुष सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान रूपी दो चक्षुओं को खोलकर स्वभाव में जागृत हुये हैं ऐसे मुनीश्वरों—ज्ञानी महात्माओं को उस पद की प्राप्ति के लिये नमस्कार हो। जबतक उस पद की प्राप्ति न हो तबतक पुनः पुनः अनंतबार नमस्कार हो।

१३–श्री आनंदघन जी अपने ही आत्मा को वंदन करके धन्य होते हुये कहते हैं कि—

अहो अहो हुं मुजने कहु, नमो मुज नमो मुज रे।
अमित फल दान दातार नी, जेथी भेट थई तूजरे।
अहो अहो....।

अर्थ–अहो अहो मैं निज को कहूं नमो निज नमो निज रे।
अमित फलदान दातार की जिससे भेट हुई तुझको रे॥
अहो अहो....।

(अमित–अमर्याद–बेहद)

१४–श्रीमद् राजचंद्र अपनी वंदना करते हुये कहते है कि–जहां अविषम रूपमें आत्मध्यान वर्तमान हैं ऐसे श्री 'राजचंद्र' के प्रति वारंवार नमस्कार हो। मैं अपने आत्मा को क्या कहूं? मेरे आत्मा को तो बस नमस्कार हो, विनय हो वंदन हो।

इसप्रकार जिन्हें अपने आत्मा की प्रतीति हुई है ऐसे महापुरुषों को अपने ही आत्मा का माहात्म्य प्रतीत होता है।

१५–श्री आनंदघनजी अपने आत्मा को संबोधते हुये, पुरुषार्थ को जाग्रत करने के लिये जिनेश्वर के प्रति करार करते हैं कि:—

धर्म जिनेश्वर गाऊं रंगशुं भंग म पड़शो हो प्रीत जिनेश्वर,
बीजो मन मंदिर आणुं नहीं ए अम कुलवट रीत
हो जिनेश्वर.......धर्म...

हे चैतन्य तू अपनी प्रतीति के साथ जाग्रत हुआ है–उठा है तू उसमें अन्य का आदर क्यों आने देगा।

१६–अनेकांतवाद–मैं अपने स्वरूप में पूर्ण हूं ऐसी श्रद्धा और पर का मुझ में कुछ नहीं है उसका नाम अस्ति–नास्ति है और यही है अनेकांतवाद।

१७–श्री अमृतचंद्राचार्य कहते हैं कि–चैतन्यस्वरूप के अवलंबनसे जिसने स्वरूप की यथार्थ श्रद्धा की है, जिसका संपूर्ण जाज्वल्यमान तेज है, जो स्वतः संपूर्ण प्रकाशमान है ऐसा जो केवलज्ञान है उसका उदय हो! उदय हो!!

मेरे स्वभाव का प्रकाश जिसका नित्य उदय रहता है ऐसी केवलज्ञान ज्योति, अनंत स्वचतुष्टय मेरे स्वरूप में सादि–अनंत स्फुरायमान रहो–प्रकाशमान रहो। ★

बल के बढ़ने पर समझता है कि मेरी शक्ति बढ़ गई। इसप्रकार मानने वाला अज्ञानी आत्मतत्त्व के शरीर से भिन्न नहीं मानता, इसलिये वह वस्तु की हत्या करता है। पर की अवस्था बदलनेपर मानों सारा आत्मा ही बदल गया, इसप्रकार मानकर जो अपने पृथक् अस्तित्वको नहीं मानता वह वस्तुकी हत्या करता है। जहां इंद्रियां शिथिल हो जाती हैं, शरीर मंद पड जाता है वहां अपने को ही शिथिल और मंद मान लेनेवाला यह नहीं मानता कि शरीर से आत्माकी स्वतंत्र शक्ति भिन्न है। जो यह मानता है कि शरीरादि के ठीक रहने पर मैं ठीक रह सकता हूं वह ज्ञानकी स्वाधीन अवस्था का नाश करता है।

आत्मा स्वाभाविक त्रिकाल स्वतंत्र वस्तु है उसमें श्रद्धा ज्ञान अस्तित्व इत्यादि अनंत गुण हैं। उस गुणकी अवस्था समय २ पर उसमें होती है, फिर भी मेरी अवस्था परसे होती है, ज्ञेय के आधार से मेरे ज्ञानकी अवस्था होती है यों मानने वाला अपने आत्माको पराधीन मानता है। त्रिकाल स्वाधीन तत्त्वको परधीन मानना ही अनंत संसारकी जड़ है। पहले जाने हुये ज्ञेय पदार्थ का बाद के काल में नाश होने पर उसी के साथ मानों मेरा ज्ञान भी नष्ट हो जाता हो, यों मानने वाला अपने ज्ञानकी पृथक् सत्ता या पृथक् अस्तित्वको नहीं मानता। वस्तुकी अवस्था समय २ पर बदलती है, यह अपने ज्ञान में मालूम होने पर 'इस के बदलने से मानों मैं भी बदल रहा हूं' इस प्रकार मानने वाला अपने ज्ञानकी स्वतंत्र अवस्थाको नहीं मानता। मुझमें तो कोई शक्ति ही नहीं है, मेरी जानने की शक्ति परवस्तुको लेकर थी, इस प्रकार वह ज्ञानकी स्वतंत्र शक्तिको नहीं मानता। अर्थात् अपनी प्र... सत्ताको स्वीकार नहीं करता। शरीर में जवानी हो ...

हो किन्तु मेरा ज्ञान तो उस से भिन्न ...

... पशु है, यह ...

अपनी स्वाधीनता की हत्या करता है। स्याद्वाद का ज्ञाता अनेकांतवादी जानता है कि आत्मा में समय समय पर ज्ञान की जो अवस्था होती है वह मेरे कारण होती है। आंखें कमजोर होजाय, इन्द्रियां शिथिल होजांय, शरीर अशक्त होजाय तो भी मेरा ज्ञान अशक्त नहीं होता। मेरी अवस्था से मेरा अस्तित्व है, पर की अवस्था मुझ से पृथक् है, इस प्रकार स्व काल से

... रत्न ... नहीं ...

... वस्तु की अवस्था ... वाला एकांतवादी

... द्वेष हो, ऐसा मेरा स्वरूप नहीं है। गुड़ का मिठास कभी भी गुड़ से अलग नहीं होती है, उसीप्रकार मेरा ज्ञान मुझ से भिन्न नहीं है, वास्तव में स्वरूप तो ऐसा ही है किन्तु अज्ञानी दूसरी ही बात मान बैठा है। जो यह मानता है कि वस्तु के बदलने पर मैं भी बदल जाता हूं वह दो वस्तुओं को एक मानता है, उसे आत्मा की श्रद्धा या ज्ञान नहीं है।

पर का नाश हो जाय फिर भी मेरी अवस्था मुझ से ही है, यह जानने वाला अपने अस्तित्व को अपने से ही जानता

चैतन्य स्वभाव खिल उठता है अर्थात् विकसित होजाता है। जब वह चैतन्य ज्योतिरूप सुमंगल विकसित होता है तबफिर वह कभी भी निश्चयतः अस्त नहीं होता, ऐसे सादि अनंत मंगल प्रभात को (केवलज्ञान को) 'सुमंगल' प्रभात कहते हैं।

अनंत ज्ञान का प्रगट होना अर्थात् जिसका प्रकाश अनंत है ऐसे केवलज्ञान का प्रगट होना सो यही सुप्रभात है।

१०—श्री पद्मनंदि आचार्य सुप्रभात का वर्णन करते हुये कहते हैं कि जैसे रात्रि का अंत होने पर अंधकार का नाश होजाता है और प्रभात का प्रकाश प्रगट होता है, उसी प्रकार आत्मा में रागद्वेष मोहरूपी अनादिकालीन अंधकार का चैतन्य स्वभाव के द्वारा अंत होजाता है। मैं चैतन्य मूर्ति पूर्ण प्रकाशमान स्व पर प्रकाशक ज्ञान ज्योति हूं, ऐसी श्रद्धा के बल से एकाग्रता में बढ़ते बढ़ते अंतमें पूर्ण केवल ज्ञानरूपी प्रभात उदित होता है। उस केवलज्ञान के तेजस्वी प्रकाश में अज्ञानरूपी कोई भी अंधकार अथवा कर्म का आवरण एक क्षण भर भी नहीं रह सकता—वह नष्ट ही हो जाता है।

(पद्मनंदिपंचविंशतिका पृष्ट ४४२)

११—उपरोक्त सुप्रभात की प्राप्ति के लिये वंदना:—

अनंतवीर्य के विघ्नरूप वीर्यावरण कर्म का नाश करने से जिसके अनंतवीर्य प्रगट हुआ है और चारित्र मोहनीय आदि आवरणों का नाश करने से जिसके अनंत दर्शन, अनंतज्ञान और अनंत आनंद रूप आंखें खुलगई हैं अर्थात जो कर्म के आवरणों को भेदकर—नाश करके केवलज्ञान रूपी सुप्रभात के संपूर्ण प्रकाश को प्राप्त हुये हैं उन भगवंतों को उस प्रकाश की प्राप्ति के लिये नमस्कार करता हूं। सुप्रभात के सुप्रकाश की प्राप्ति के लिये (जहां तक वैसी दशा प्राप्त नहीं होती वहां तक) बारंबार नमस्कार करता हूं।

वीर भगवान की मुक्ति (सिद्धपद की प्राप्ति) और गौतम स्वामी को केवलज्ञान एक ही समय में हुआ था। जगत् कहता है 'भगवान ने निर्वाण पाया' तब ज्ञानी कहते हैं 'भगवान ने जीवन पाया' क्योंकि सिद्धदशा ही जीवन है।

१२—सम्यग्दर्शन और सम्यक्ज्ञान की प्राप्ति के लिये वंदना

जैसे प्रभात का प्रकाश होने पर रात्रि के अंधकार का संपूर्ण नाश होता है। और निद्रित प्राणियों के निद्रा का त्याग होने से दोनों आंखें खुल जाती हैं उसी प्रकार ज्ञानावरणी और दर्शनावरणी कर्मों को—कर्मरूपी मोह निद्रा को दूर कर के जो ज्ञानी—महात्मा पुरुष सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान रूपी दो चक्षुओं को खोलकर स्वभाव में जागृत हुये हैं ऐसे मुनीश्वरों—ज्ञानी महात्माओं को उस पद की प्राप्ति के लिये नमस्कार हो। जबतक उस पद की प्राप्ति न हो तबतक पुनः पुनः अनंतबार नमस्कार हो।

१३—श्री आनंदघन जी अपने ही आत्मा को वंदन करके धन्य होते हुये कहते हैं कि—

अहो अहो हुं मुजने कहु, नमो मुज नमो मुज रे।
अमित फल दान दातार नी, जेथी भेट थई तूजरे।
अहो अहो...।

अर्थ—अहो अहो मैं निज को कहूं नमो निज नमो निज रे।
अमित फलदान दातार की जिससे भेट हुई तुझको रे॥
अहो अहो....।

(अमित—अमर्याद—वेहद)

१४—श्रीमद् राजचंद्र अपनी वंदना करते हुये कहते है कि—जहां अविषम रूपमें आत्मध्यान वर्तमान हैं ऐसे श्री 'राचचंद्र' के प्रति बारंबार नमस्कार हो। मैं अपने आत्मा को क्या कहूं? मेरे आत्मा को तो बस नमस्कार हो, विनय हो वंदन हो।

इसप्रकार जिन्हें अपने आत्मा की प्रतीति हुई है ऐसे महापुरुषों को अपने ही आत्मा का माहात्म्य प्रतीत होता है।

१५—श्री आनंदघनजी अपने आत्मा को संबोधते हुये, पुरुषार्थ को जाग्रत करने के लिये जिनेश्वर के प्रति करार करते हैं कि:—

धर्म जिनेश्वर गाऊं रंगशुं भंग म पड़शो हो प्रीत जिनेश्वर,
बीजो मन मंदिर आणुं नहीं अे अम कुलवट रीत
हो जिनेश्वर........धर्म...

हे चैतन्य तू अपनी प्रतीति के साथ जाग्रत हुआ है—उठा है तू उसमें अन्य का आदर क्यों आने देगा।

१६—अनेकांतवाद—मैं अपने स्वरूप में पूर्ण हूं ऐसी श्रद्धा और पर का मुझ में कुछ नहीं है उसका नाम अस्ति—नास्ति है और यही है अनेकांतवाद।

१७—श्री अमृतचंद्राचार्य कहते हैं कि—चैतन्यस्वरूप के अवलंबनसे जिसने स्वरूप की यथार्थ श्रद्धा की है, जिसका संपूर्ण जाज्वल्यमान तेज है, जो स्वतः संपूर्ण प्रकाशमान है ऐसा जो केवलज्ञान है उसका उदय हो! उदय हो!!

मेरे स्वभाव का प्रकाश जिसका नित्य उदय रहता है ऐसी केवलज्ञान ज्योति, अनंत स्वचतुष्टय मेरे स्वरूप में सादि—अनंत स्फुरायमान रहो—प्रकाशमान रहो। ★

ATMADHARMA With the permisson of the Baroda Govt. order No 30-24 date 31-10-44 Regd. No. B. 4875

सुप्रभात मांगलिक

पू. श्री कानजी स्वामी का मांगलिक प्रवचन

चित्पिंड चंडिम विलासि विकासहासः
शुद्ध प्रकाश भर निर्भर सुप्रभात।
आनंद सुस्थित सदा स्वलितैकरूप-
स्तस्यैव चायमुदयत्य चलार्चिरात्मा ॥
(समयसार कलश-२६८)

स्याद्वाददीपितलसन्महसि प्रकाशे
शुद्धस्वभावमहिमन्युदिते मयीति।
किं बंधमोक्षपथपातिभिरन्य भावै-
र्नित्योदयः परमयं स्फुरतु स्वभावः ॥
(समयसार कलश-२६९)

१-प्रभात तो बहुत उगते हैं किन्तु यह प्रभात (केवलज्ञान प्रकाश) उगता है जो कभी भी अस्त नहीं होता, ऐसी दशा का प्रगट होना ही सच्चा सुप्रभात है। केवलज्ञान का प्रकाश (उदय) ही आत्मा के लिये सुप्रभात का सादि-अनंत काल है।

२-आत्मामें अनंत ज्ञानादि स्वचतुष्टय की 'अस्ति' और रागद्वेष-मोह की 'नास्ति' स्याद्वाद है।

३-ज्ञान का स्वभाव सुख आनंद स्वरूप और जगत् के चाहे जैसे अनुकूल या प्रतिकूल प्रसंग में समाधान करना है। ज्ञान स्वभाव के जानने में कोई भी अनुकूल -प्रतिकूल नहीं हो सकता। ज्ञान से ज्ञान स्वभाव को जाननेपर रागद्वेष का नाश होता है, वही ज्ञान और ज्ञान की क्रिया है। ज्ञान स्वयं दुःख नहीं है। यदि ज्ञान स्वयं दुःखरूप हो तो दुःख को दूर करने का उपाय क्या होगा? ज्ञान भीतर हो और ज्ञानकी क्रिया बाहर हो सो बात नहीं है। आत्मा का ज्ञान और ज्ञान की क्रिया यह सब आत्मामें ही है।

४-अनंत दर्शन, अनंत ज्ञान, अनंतवीर्य और अनंत आनंद आत्मा के स्वचतुष्टय हैं।

(अ) अनंतदर्शन—सम्यक्दर्शन के फल में प्रगट होता है।

(ब) अनंतज्ञान-जिसने सत्समागम से आत्माकी सत्ताकी समझ की—उसका आश्रय किया, उसके फलमें प्रगट होता है, वह अनंत ज्ञान अर्थात् केवलज्ञान है।

(क) अनंत आनंद—जो आत्मा की यथार्थ श्रद्धा करके उसमें स्थिर रहता है (स्वभाव में एकाग्र होने रूप चारित्र) उसके फल में अनंतकाल तक रहने वाला अस्खलित और निराबाध अनंत आनंद प्रगट होता है।

(ड) अनंतवीर्य—सम्यक्श्रद्धा के बाद पुरुषार्थ के फलमें आत्मा की अपार शक्ति प्रगट होती है।

५-आत्मा की ज्योति (केवलज्ञान) अचल है। वह एक बार प्रगट होकर कभी भी नाश नहीं होती, इसलिये सादि-अनंत (प्रारंभ होकर अंत न होने वाली) कहलाती है, ऐसी केवलज्ञान ज्योति में स्वचतुष्टय का एकीकरण है।

६-आत्मा शुद्ध, उसके अनंत गुण शुद्ध और आत्मा के गुणों की जो अवस्था है वह भी शुद्ध है। उस त्रिकाल शुद्ध—पूर्ण शुद्ध को लक्ष्य में लेने वाला सम्यग्दर्शन है। निश्चय से प्रत्येक आत्मा द्रव्य, गुण, पर्याय से त्रिकाल एकरूप शुद्ध ही है।

७-जैसे आकाश, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और काल स्वतंत्र पदार्थ हैं और अपनी अवस्था स्वतंत्रतया रहकर बदलती है-शुद्ध ही रहती है तथा एक पृथक् परमाणु भी शुद्ध पदार्थ है और अपनी अवस्था को स्वतंत्रतया बदलने वाला है उसी प्रकार मैं—आत्मा भी शुद्ध और स्वतंत्रतया त्रिकाल स्थिर रहने वाला द्रव्य हूं और मैं ही अपनी अवस्था को स्वतंत्रतया शुद्ध रहकर बदलता सकता हूं। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु अपने गुण और पर्याय से शुद्ध एवं परिपूर्ण है। प्रत्येक आत्मा भी शुद्ध सिद्ध भगवान के समान परिपूर्ण है। इस प्रकार जो स्वभाव की स्वतंत्रता पर—शुद्धता पर दृष्टि रखकर पर भाव को दूर करता है उसके अनंतदर्शन—ज्ञानादि स्वचतुष्टय प्रगट होते हैं।

८-आज के (दीपोत्सवी के) मंगल प्रभात के संबंध में श्रीमद् राजचंद कहते हैं कि "रात्रि व्यतीत होगई, प्रभात होगया द्रव्य निद्रा से जागृत हुये, अब भाव निद्रा को दूर करने का प्रयत्न करो" मोह अंधकार को दूर करके संपूर्ण ज्ञान का प्रकाश फैलाओ।

९-आज के मांगलिक प्रभात के संबंध में श्री अमृतचंद्राचार्यजी कहते हैं कि-जैसे परमें विपरीतमान्यता से सुख का भरोसा किया है उसीप्रकार अपने में जो अनंतज्ञान दर्शन भरा हुआ है यदि उसकी श्रद्धा करे तो चैतन्य निरर्गल (जिसमें किसी प्रकार का मैल नहीं है-बाधा नहीं है, विघ्न नहीं है) विलसित-विकासरूप

(शेष पीछले पृष्ठ पर)

धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है।

वर्ष २ | अंक ६

: संपादक :
रामजी माणेकचंद दोशी
वकील

आश्विन २४७२

प्रभु कौन हो सकता है?

प्रभु! तू ज्ञान स्वरूप है, तू समझ सकता है, यही समझकर तुझे समझा रहे हैं। "मैं नहीं समझ सकूंगा" यह शल्य ही तुझे समझने में बाधक है। भगवंत! यह बात मन से निकाल दे कि मैं नहीं समझ सकता। ऐसी उत्तम मनुष्य देह और सत् के समझने का यह उत्तम सुयोग मिला, फिर भी सत् न समझा जाय यह कैसे हो सकता है। चैतन्य बल से भगवान आत्मा परिपूर्ण है। यदि वह बल स्वोन्मुख हो तो वीतराग हो जाय। अनंतानंत आत्मा स्वानुभव की प्रतीति करके मुक्त हो गये हैं। प्रत्येक आत्मा आत्म प्रतीति कर सकता है।

अनंत काल से संसार में जो परिभ्रमण कर रहा है, वह दूसरे की भूल से नहीं किन्तु अपनी भूल से कर रहा है। जो भगवान (सिद्ध) होगये हैं वे तो परिपूर्ण स्वरूप को प्राप्त वीतराग हैं। वे किसीपर कृपा या अकृपा नहीं करते। उनने तो केवल मार्ग दिखाया है। जो इस मार्ग पर चलता है उसका कल्याण होता है।

देह-मन-वाणी के साधन से त्रिकाल में भी धर्म नहीं हो सकता। यहां तो मोक्ष होने की बात है—जन्म मरण का अंत करने की बात है। स्वभाव को पहिचाने विना जन्म मरण का अंत कदापि नहीं हो सकता। इस बात को समझना भी कठिन होगया है। भगवान आत्मा स्वयं प्रभु है, किन्तु उसने अपने अंतरंग पथ को कभी भी प्रीतिपूर्वक नहीं सुना—समझा।

अंतर (चैतन्य) शक्ति की सामर्थ्य परिपूर्ण है, किन्तु अनादि कालसे ऊपर ही ऊपर दृष्टि रही है इसलिये उसे अपना परिपूर्ण स्वरूप प्रतिभासित नहीं होता।

आत्म प्रतीति के साथ आत्मा की स्थिरता में रहकर आगे बढ़ना सो मोक्षमार्ग है। उसे मोक्षमार्ग कहो, अमृतमार्ग कहो या स्वरूप मार्ग कहो। जो प्रभु हुये हैं वे बाह्य साधनों से नहीं, किन्तु अंतर स्वरूप की सामर्थ्य से हुये हैं। समस्त आत्मा शक्ति की अपेक्षा से प्रभु स्वरूप हैं जो अपनी प्रभुता को पहचान लेता है वह प्रभु होता है।

वार्षिक मूल्य तीन रुपया | शाश्वत सुखका मार्ग

दर्शक मासिक पत्र | एक अंक पाँच आना

सामान्य और विशेष ज्ञान

शंका—यह ज्ञान पहले नहीं था किन्तु निमित्त मिलने पर प्रगट हुआ है। यदि यह ज्ञान मुझमें ही होता तो मुझे पहले इसकी खबर क्यों नहीं हुई?

समाधान—ज्ञान तो तेरे पास ही है, वह उसी में से प्रगट होता है। पहले सामान्य शक्ति के रूपमें ज्ञान था, वही विशेष रूपमें (पर्याय रूपमें) प्रगट हुआ है।

जो सामान्य ज्ञान त्रिकाल शक्ति रूपमें है यदि उसे जीव माने तो मानना होगा कि अपनी सामान्य शक्तिकी ही यह विशेष पर्याय होती है किंतु यदि कोई सामान्य ज्ञानको ही न माने तो वह "मेरा यह विशेष ज्ञान पर में से आया है, गुरु के मिलने से यह ज्ञान हुआ है" इस प्रकार ज्ञानको पराश्रित मानेगा जो कि अयथार्थ है।

प्रत्येक द्रव्य में गुण का भंडार मौजूद है, उस में से ही पर्यायमें आता है। आत्मा में भी ज्ञान इत्यादि का महा भंडार भरा हुआ है और वह उस में से ही पर्याय में आता है। यह बात गलत है कि पढ़ने से ज्ञान हुआ है। ज्ञान जो शक्ति रूप है उस में से ही विशेष ज्ञान प्रगट हुआ है।

विशेष ज्ञान का अर्थ है ज्ञान की वर्तमान पर्याय, यह विशेष कहां से आगया? जो त्रिकाल सामान्य ज्ञान मौजूद है उसी में से आया है। जो भीतर के त्रैकालिक सामान्य ज्ञानकी प्रतीति करता है वह विशेष ज्ञानको पर का अवलंबन नहीं मानता और अपनी जो विशेष पर्याय है उसका अवलंबन भी न मानकर भीतर के त्रैकालिक ज्ञान का ही अवलंबन मानता है।

त्रैकालिक सामान्य तो समस्त विद्यमान है, उस की वर्तमान प्रगट पर्याय के अल्प होने पर भी त्रैकालिक सामान्य तो सारा परिपूर्ण ही है। जिसे इस त्रैकालिक सामान्यकी श्रद्धा नहीं है वह विशेष, निमित्त से आलंबन से आया हुआ मानता है।

यह तो वणिक् युक्ति सी मालूम होती है। जैसे व्यापारी कहता है कि भाई! घरमें पर्याप्त पूंजी नहीं है इसलिये दूसरे का मुंह ताकना पड़ता है। दूसरे से रुपया ले उसका व्याज भरे और फिर भी कितना आभारी रहना पड़ता है; किन्तु जिसके घरमें पर्याप्त पूंजी है वह दूसरे का मुंह नहीं ताकता—उस का आभारी नहीं बनता। इसी प्रकार अपने में ज्ञान रूपी पूंजी त्रिकाल परिपूर्ण है उस में से पर्याय आती है। जिसे अपने ज्ञान स्वभाव की खबर है वह पर निमित्तकी आशा नहीं करता। निमित्त के अभाव से ज्ञानकी कमी नहीं है किन्तु सामान्य शक्ति की ओर एकाग्रता न होने से कमी दिखाई देती है। यदि त्रिकाली शक्तिकी श्रद्धा करे तो उसमें से एकाग्र होकर पूर्ण ज्ञानको निकाले। ज्ञानकी अवस्था निमित्तको लेकर नहीं आई किन्तु जो त्रैकालिक शक्ति मौजूद है उसमें से आई है।

प्रश्नः—कुंजी के आने पर ताला खुलता है, उसी प्रकार निमित्त के मिलने पर ज्ञानकी पर्याय खिलती है क्या यह ठीक नहीं है?

उत्तरः—नहीं! ताला खुलने योग्य था तब कूची आई इस प्रकार इस बातकी एक गुत्थी है। उसी प्रकार (ताले कूचीकी तरह) निमित्त के द्वारा ज्ञान की पर्याय नहीं खिली किंतु भीतर त्रैकालिक सामर्थ्य मौजूद है उसमें से उस सामान्य का विशेष प्रगट हुआ है। ज्ञानकी पर्याय कहीं ऊपर से नहीं आ टपकी, किंतु भीतर जो त्रैकालिक शक्ति विद्यमान है, उसी के आधार से आई है। भीतर जो शक्ति विद्यमान है उसकी प्रतीति नहीं है इसलिये अज्ञानी यह मानता है कि बाह्य निमित्त से ज्ञानकी पर्याय आई है।

जैसे फूलझड़ीमें से फूल (अग्निकण) खिरते हैं वे फूलझड़ीमें ही सामर्थ्य रूप में विद्यमान थे और वे ही प्रगट होते हैं उसीप्रकार आत्मामें ऐसी सामर्थ्य भरी हुई है कि उसमें यदि एकाग्रता रूपी चिनगारी रखदी जाय तो निर्मल पर्याय के फूल चटाचट झरने लगें।

वर्तमान अवस्था में अपूर्ण होकर भी उस समय ज्ञान शक्ति में पूर्णरूपेण विद्यमान है। ★

धर्मप्रिय ग्राहकगण,

आप से यह प्रार्थना की जाती है कि आप आत्मधर्म के प्रसार के लिये आपकी पास जो प्रति आती है वह कम से कम पांच साधर्मी भाई-बहिनोंको स्वाध्याय के लिये दिजीये और एकाध नया ग्राहक बनाकर उनका नाम यहां पर भेजने की कृपा किजीये। —स्वाणी

आत्मधर्म

वर्ष २ : १८ : आश्विन
अंक ६ : : २४७२

किस का त्याग ?

प्रत्याख्यान (त्याग) की व्याख्या कही जाती है। लोग कहते हैं कि त्याग करो, त्याग करो किंतु त्याग का स्वरूप क्या है। त्याग कोई वस्तु है, कोई गुण है या किसी पदार्थ की अवस्था है। क्योंकि जो शब्द कहा जाता है वह किसी द्रव्यको किसी गुणको अथवा किसी पर्याय को अवलंबन करके होता है। त्याग किसी परवस्तु का त्याग है अथवा किसी रागद्वेष का त्याग है या स्वरूप में एकाग्र रहना सो त्याग है ?

आत्मा के मूल स्वभाव में ग्रहण-त्याग नहीं है। आत्माने पर का कुछ ग्रहण किया हो तब तो त्यागे न? इसलिये स्वरूपकी पहचान करके उसमें स्थिर रहना ही त्याग है और वह आत्माकी निर्मल पर्याय है। मकान, कुटुम्ब, लक्ष्मी इत्यादि कहीं आत्मा में घुस नहीं गये हैं तब फिर उनका त्याग कैसे हुआ। वे मकान आदि आत्मामें घुस नहीं गये किन्तु मान्यता में घुसे हुये हैं। यह मान रखा है कि 'शरीर, मकान, स्त्री, लक्ष्मी इत्यादि मेरे हैं' और यही अत्याग भाव है।

जो विपरीत मान रखा था उसमें प्रतीति हुई कि यह मैं नहीं हूं। मेरे स्वभाव का विस्तार वह विकार नहीं हो सकता। मैं एक आत्मा हूं और जानना देखना मेरा स्वभाव है। उसमें परके निमित्त से जो क्रोध, मान, माया और लोभ का विस्तार दिखाई देता है वह मेरे आत्मा के स्वभाव का विस्तार नहीं है। रागद्वेषको छोड़ना ही व्यवहार है। आत्मा के अखंड, शुद्ध, निर्मल स्वभाव में जितने अंशमें स्थिर हुआ जाता है उतने अंश में रागद्वेष सहज छूट जाता है, उसीको त्याग कहते हैं।

हिन्दुस्तान के लोग त्याग के नाम पर ठगाये गये हैं। बावा जोगी इत्यादि अनेक प्रकार के त्याग का ढोंग करके निकल पड़े हैं। उनके बाह्य त्यागको देख कर हिन्दुस्तान के लोग ठगाये जाते हैं। क्योंकि हिन्दुस्तान में इतनी आर्यता और त्याग का प्रेम है कि वे त्यागके नाम पर सदा ठगाये जाते हैं और वे त्यागकी सच्ची पहचान नहीं कर पाते। 卐

जन्म मरण कैसे टले ?

शरीरादि के रजकण में रजकणकी क्रिया स्वतंत्र होती है। संसारकी रुचि वाले जीवों के वैराग्य नहीं होता। इस मनुष्य भवको प्राप्त करके अशरीरी भावको प्रगट करके ऐसा भाव प्रगट नहीं किया कि मात्र एक भव रह जाय और यह नहीं जान पाया कि वीतरागदेव क्या कहते हैं तो फिर भवका अंत कैसे होगा ? विना समझे मनुष्य भव व्यर्थ जायगा। ऐसे भव तो कीडी मकोड़े के समान है। संसार में ऐसे तो अनेक जन्म लेते हैं और मरते हैं किन्तु यदि ऐसा भाव प्रगट करे कि भव नहीं रहे तो जीवनकी सफलता है। और यदि दुनिया के कहने के अनुसार चले तो आत्मा का धर्म होना अथवा जन्म मरण का दूर होना त्रिकाल में भी नहीं बन सकता।

यह कदापि नहीं हो सकता कि दुनिया अपना माने तो अपनी दुर्गति दूर हो जायगी अथवा दुनिया अपना न माने तो अपनी दुर्गति हो जायगी। जीवोंने अनादि काल से रुचिपूर्वक यह कभी सुना ही नहीं है कि आत्मा का स्वरूप क्या है ? रुचिपूर्वक सुने विना समझे कहां से। बहुत से जीवों को तो यह भी खबर नहीं है कि सच्चा देव किसे कहा जाय और सच्चा गुरु कौन है ?

यदि आत्माकी पहिचान किये विना कदाचित् कोई जीव सच्चे देव, सच्चे गुरु और सच्चे शास्त्रकी पहिचान कर ले तो भी वह व्यवहार सम्यग्दर्शन होगा जो कि पुण्यबंध है, धर्म नहीं। देव, गुरु, शास्त्र, शरीर मन वाणी, यह सब पर वस्तु हैं और उस ओर रुचिवान होने पर जो शुभाशुभ भाव होते हैं उनसे रहित मैं अकेला हूं, अखंड, शुद्ध, निर्विकल्प हूं। ऐसी श्रद्धा-ज्ञान हुये विना और इस प्रकारकी अंतर्शुद्धि किये विना कभी किसी का जन्म मरण दूर नहीं हुआ और कभी दूर होगा भी नहीं।

(प्रवचन-समयसार गाथा ३४)

सुवर्णपुरी के स्वाध्याय मंदिर में पूज्य श्री कानजी स्वामी के द्वारा सिखाई गई

जैनदर्शनकी बारहखड़ी
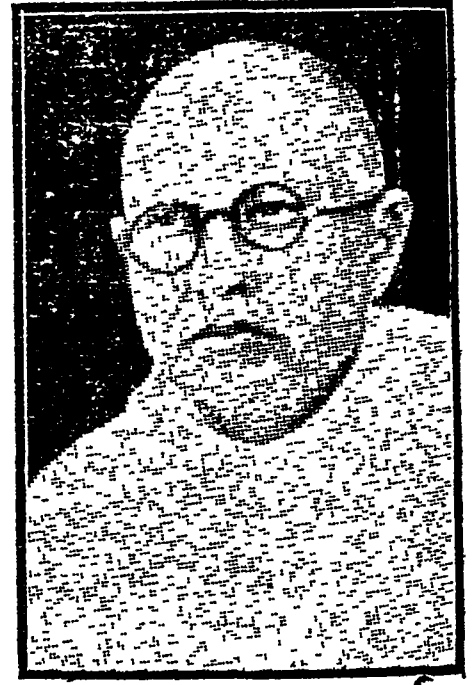
वीतराग का मार्ग-जैनदर्शन का रहस्य-वस्तु का स्वरूप अनेकांत हैं। वीतराग का मार्ग अर्थात् वस्तु का स्वरूप 'है' से प्रारंभ होता है। 'तू है' यह पहले निश्चित कर। कोई यह कहे कि मैं होऊंगा या नहीं, इसकी मुझे शंका है? तो उसके लिये कहते हैं कि भाई! मैं होऊंगा या नहीं ऐसी जो शंका हुई वह किसने की। जो होता है वह शंका करता है या जो नहीं भी होता वह भी शंका करता है। जो नहीं होता वह कुछ नहीं कर सकता इसलिये जो शंका हुई उसका करने वाला तू है। अर्थात् "मैं होऊंगा या नहीं" जहां ऐसी शंका हुई वहां तेरा अस्तित्व निश्चित हो गया। यदि तू नहीं होगा तो यह शंका किसनेकी। इसलिये 'तू है' यह सर्व प्रथम निश्चय कर। तत्पश्चात्......

'तू है' तो अपने से है-पर से नहीं, इस प्रकार मैं हूं इतना स्वीकार करने पर मैं पर से स्वतंत्र-भिन्न हूं, यह स्वतः आजाता है। आत्मा है यह कहने पर आत्मा दूसरे आत्मापन से नहीं है, और रजकणों की अपेक्षा से भी आत्मा नहीं है यह दोनों बातें आजाती हैं। यह 'अस्ति-नास्ति' जैनधर्मकी पहली बारहखड़ी है।

'आत्मा है' यह निश्चित करते ही उसके साथ त्रिकालता आगई। 'है' कहते ही दृढ़ निश्चय होगया कि उसकी न तो उत्पत्ति है और न नाश। अर्थात् जो है वह त्रिकाल है। इससे यह निश्चित होगया कि 'तू है, तू परसे नहीं है, और तू त्रिकाल है'।

जो वस्तु होती है उसमें स्वाश्रयसे विकार नहीं होता और वस्तु त्रिकाल रहती है उसकी अवस्था समयसमय पर वस्तु से स्वतः होती है। मात्र वस्तु में निजसे विकार नहीं होता, फिर भी अवस्था में विकार है, वह विकार पराश्रित है-किन्तु वह विकार परवस्तु ने नहीं कराया। आत्मा में 'अविकारी' गुण त्रिकाल है। अवस्थामें जो विकार है उसके पीछे अविकारी गुण त्रिकाल है। एक समय की अवस्था के लिये जो विकार है, उसमें सारा अविकारी गुण नहीं आगया अर्थात् विकारी दशामें अविकारी गुण की नास्ति है और उस गुणमें विकारी पर्याय नहीं आई है, अर्थात् गुणमें पर्याय की नास्ति है।

कई बार जीव विकल्प करता है कि "मुझे विकार नहीं चाहिये" यही बताता है कि विकार गुण नहीं किन्तु क्षणिक अवस्था है, इसलिये उसे दूर किया जा सकता है। विकार क्षणिक अवस्था है उसे दूर करने वाला समस्त निर्विकारी स्वभाव है। त्रिकाली गुणमें एक समय की अवस्था की नास्ति है और एक अवस्था में सारा स्वभाव नहीं आजाता। (नास्ति रूप है)

विकार अवस्था है, वह वर्तमान काल मात्र के लिये है, उसकी दूसरे समय की अवस्था में नास्ति है और विकार को दूर करने वाली अविकारी शक्ति (गुण) है जो स्थिर है। इस अविकारी शक्ति में विकार घुसा हुआ नहीं है, और न वस्तु का एक गुण दूसरे गुणमें प्रविष्ट हो सकता है इसलिये—

वस्तु स्वतंत्र है, वस्तु के अनंत गुण प्रत्येक स्वतंत्र हैं, वस्तु की एक पर्याय (विकारी होनेपर भी) स्वतंत्र है और क्षणिक पर्याय से त्रिकाल गुण स्वतंत्र है। द्रव्य अनंत गुणका पिंड है, इसलिये सारा द्रव्य एक गुण के बराबर नहीं है। अर्थात् एक गुणमें संपूर्ण द्रव्य की नास्ति है।

(१) समस्त द्रव्यमें एक गुण की नास्ति है। (क्योंकि द्रव्यमें एक ही गुण नहीं किन्तु अनंत गुण हैं)

(२) एकगुणमें समस्त द्रव्य की नास्ति है (क्योंकि यदि एक ही गुणमें

सारा द्रव्य आजाय तो दूसरे गुण का अभाव हो)

(३) एकगुणमें दूसरे गुणकी नास्ति है (क्योंकि यदि एक गुणमें दूसरे की अस्ति हो तो दो गुण एक हो जाय अर्थात् गुण का अभाव हो जाय)

(४) समस्त गुणमें एक पर्यायकी नास्ति है (क्योंकि यदि सारे गुणमें एक पर्याय आजाय तो विकार अवस्था के समय सारा गुण भी विकार रूप हो जाय तो फिर विकारको कौन टाले ?)

(५) एक पर्याय में सारे गुणकी नास्ति है (क्योंकि यदि एक ही पर्याय में सारा गुण परिणमित होजाता हो तो दूसरे समय में गुणका अभाव हो जाय और एक पर्याय बदलकर दूसरी पर्याय ही न हो)

(६) एक अवस्थाकी दूसरी अवस्थामें नास्ति है (क्योंकि यदि पहली अवस्थाकी दूसरी अवस्था में नास्ति न हो तो पहली अवस्था का विकार दूसरी अवस्थामें चला ही आये। अर्थात् कभी भी निर्विकारी अवस्था हो ही नहीं)

एक अवस्था का विकार दूसरे समय नष्ट हो जाता है जो विकार नष्ट हो जाता है वह दूसरी अवस्था का क्या कर सकता है, कुछ भी नहीं कर सकता है। जैसे खरगोश के सींग नहीं होते इसलिये वे किसीको नहीं लगते। इसी प्रकार एक अवस्था का दूसरे में अभाव है इसलिये वह दूसरी अवस्था में कुछ नहीं कर सकती। अर्थात् दूसरी अवस्था को विकारी किया जाय अथवा अविकारी किया जाय यह अपनी स्वतंत्रता पर निर्भर है। पहले समय का विकार दूसरे समयमें दूर हो ही जाता है, इसलिये विकार करना चाहिये या अविकार यह अपने पर ही निर्भर है। विकार करने में भी स्वाधीनता है (यदि स्वयं करे तो होता है) और विकार को दूर करने में भी स्वयं स्वाधीन है।

यह जैनधर्म की बारहखड़ी है। अनेकांत धर्म का स्वरूप बिल्कुल सरल रीत्या कहा जाता है। अहाहा! अनेकांत ! यह तो जगत् का स्वरूप है। अनेकांत की यह बिल्कुल सादी बात कही जाती है। मात्र इस एक अनेकांत को समझ ले तो स्वतंत्रता समझी जाय।

वर्तमान पर्याय का विकार दूसरी पर्याय में नहीं आता इसलिये दूसरी पर्याय कैसी करना चाहिये यह अपने द्रव्य के आधीन है। दूसरी पर्याय विकारी की जाय या निर्विकारी की जाय यह तेरे आधीन है।

बस ! यह है अनेकांत और यह है जैनदर्शनकी चाबी। द्रव्य, गुण और पर्याय त्रिकाल स्वतंत्र सिद्ध हो गये। धन्य ! जैनदर्शन।

सब से पहली बात यह है कि 'तू है या नहीं ?' कह कि हां, मैं हूं, ऐसा कहने पर वह परापेक्षा से नहीं है और उसका कर्ता कोई नहीं है, जो है उसका कर्ता कोई नहीं हो सकता, क्योंकि यदि उसका कोई कर्ता कहोगे तो यह सिद्ध होगा कि उस से पूर्व वह नहीं था, इसलिये जो 'है' उसका कर्ता कोई नहीं है और जो होता है उसकी वर्तमान-वर्तमान हालत भी होती ही है। इसलिये जैसे वस्तुका कोई कर्ता नहीं है उसी प्रकार वस्तुकी गुण-पर्याय का भी कोई कर्ता नहीं है। वस्तु-गुण और पर्याय सब स्वतंत्र है। तेरा, तेरे गुण का अथवा तेरी पर्याय का कर्ता निमित्तरूपमें भी कोई पर नहीं है।

एक 'है' में से अनेकांत के लागू होने पर द्रव्य, गुण, पर्याय का त्रिकाल स्वतंत्र सत् आखड़ा होता है।

अहा ! जैनदर्शन बिल्कुल सरल और सीधा है किन्तु उसे विपरीत रूपमें मानकर जटिल बना दिया है। (उसे विपरीत माना है इसी लिये वह जटिल मालूम होता है) 卐

वह नास्तिक है जैन नहीं

: : (पूज्य श्री कानजी स्वामी के समयसार प्रवचन कलश १ से) : :

जिसने वीतरागदेवकी सर्वज्ञता को माना है और उनकी जैसी सामर्थ्य है वैसी ही सामर्थ्य अपनी एक समयकी पर्याय में भी है इस प्रकार जिसने स्वीकार किया है, वह रागद्वेषको अपना नहीं मानता; क्योंकि सर्वज्ञ के रागद्वेष नहीं होता। संपूर्ण राग हीनता होने पर ही सर्वज्ञता हो सकती है, इसलिये जिसने सर्वज्ञत्वको अपना स्वरूप माना हो वह रागको अपना स्वरूप नहीं मानता। जो रागको अपना मानता है वह सर्वज्ञताको अपनी नहीं मानता (क्योंकि जहां राग है वहां सर्वज्ञता नहीं होती और जो अपने स्वरूपको सर्वज्ञ नहीं मानता वह अपने देव के स्वरूपको भी सर्वज्ञ नहीं मानता और जो अपने देव के स्वरूपको यथार्थ नहीं मानता वह नास्तिक है, जैन नहीं।

आत्मा का शुद्ध और अशुद्ध उपयोग

परम पूज्य श्री कानजी स्वामी का मोक्षमार्ग प्रकाशक पर

प्रवचन

"......क्योंकि यदि संसारमें भी सुख होता तो संसार से छूटने का उपाय क्यों किया जाता" इस पंक्ति का विवेचन चल रहा है।

प्रत्येक जीव क्षण क्षण में दुःख से मुक्त होने का उपाय कर रहा है। अच्छी खीर खाने में सुख माना होता है किंतु अमुक मात्रा में खीर खाने के बाद वह स्वयं इनकार कर देता है। यदि खीर के खाने में सुख होता तो कोई उस सुख से क्यों छूटना चाहेगा। इसीप्रकार सोने की बात है। कोई पांच, सात दस घंटे सोयगा उसके बाद उसे सोना अच्छा नहीं लगेगा। किसी को अपनी प्रशंसा सुनना अच्छा लगता हो किन्तु अमुक समय के बाद अपनी प्रशंसा सुनकर उसे भी वह नहीं रुचेगी क्योंकि उसमें कहीं भी वास्तविक सुख नहीं है। यदि किसी भी संसारी कर्म में सुख होता तो वहां से ज्ञान का उपयोग क्यों हटाया जाता। सुखसे कोई नहीं छूटना चाहता। संसार में सुख नहीं है, इसीलिये वहां से उपयोग को वापिस हटा लेता है। संसार के किसी भी कार्य में उपयोग अधिक समय तक नहीं टिक सकता और आत्मा में सुख तथा आनंद ही है इसलिये आत्मा में ज्ञान का उपयोग एकाग्र होता है, उसे कोई नहीं बदलना चाहता।

किसी भी परवस्तु पर लक्ष्य जाता है वहां उपेक्षा हो ही जाती है इसीलिये वह उपयोग को वहां से बदलकर पुनः दूसरी वस्तु में उपयोग को लगाता है और इस प्रकार दुःख से छूटना चाहता है। किन्तु उसे इस निश्चय की खबर नहीं है कि उपयोग कहां स्थिर करना चाहिये, और इसीलिये वह सच्चा उपाय नहीं करता।

पर वस्तुमें ज्ञान का उपयोग लगाता है और वहां भंग पड़ता है। मनके विचार भी बहुत उठते हैं वहां से उकताकर उपयोग को बदलकर दूसरे में उपयोग को जोड़ता है इससे सिद्ध होता है कि जीव मन के अवलंबन से छूटना चाहता है, किन्तु मन के अवलंबन से रहित स्व वस्तु की प्रतीति नहीं है इसलिये पुनः परवस्तु में उपयोग को लगाता है। अज्ञानी जीव को यह खबर नहीं है कि कहां उपयोग को स्थिर करके एकाग्र होना चाहिये जिससे उपयोग पुनः हटने न पाये और यदि कदाचित अस्थिरता मात्र के कारण कुछ हटे तो भी उसे बदलकर पुनः कहां लगाया जाय। जीव पर के उपयोग से छूटना तो चाहता है किन्तु पर के उपयोग से छूटकर कहां एकाग्र होना चाहिये इसकी उसे खबर नहीं है इसलिये वह संसार की ओर के उपयोग के व्यापार को बारंबार बदला करता है किन्तु यथार्थ वस्तु की प्रतीति के बिना वह परमें उपयोग को एकाग्र करता है।

दृष्टांत—देखो एडीशन फोनोग्राफकी शोध के लिये ३ दिन तक एकाग्र रहा और उसके बाद चौथे दिन वह अपने विचारों की एकाग्रता से पीछे हट गया। क्योंकि वह पर लक्ष्य से एकाग्र हुआ था। पर लक्ष्य में एकाग्र होने वाला कहां तक टिक सकता था? पर लक्ष्य को लेकर जो विचार उठते हैं वे सब कल्पना के घोड़े हैं आत्मा का स्वरूप नहीं है। आत्मा दुःख से छूटना चाहता है किन्तु उसे संसार संबंधी उपयोग से छूटकर निजमें उपयोगको एकाग्र करने की खबर नहीं है।

इस से यह सिद्धांत निर्धारित हुआ कि आत्मा अपने उपयोग के अतिरिक्त परमें कुछ भी नहीं कर सकता। या तो वह स्वकी ओर का शुद्धोपयोग करे अथवा परकी ओरका अशुद्धोपयोग करे। उपयोग के अतिरिक्त आत्मा दूसरा कुछ कर ही नहीं सकता। अज्ञानी पर पदार्थोंकी ओर का उपयोग बदलता है वहां उसकी मान्यतामें भी विपरीतता है। "यह पर पदार्थ अनिष्ट है" इस प्रकार सामनेकी वस्तुको खराब मानकर उस ओर से अज्ञानी जीव उपयोगको बदल लेता है।

अज्ञानी का भगवान पर जो शुभराग है वह भी "भगवान अच्छे हैं" इस प्रकार पर द्रव्यको इष्ट मानकर राग करता है। किंतु ज्ञानी पर पदार्थ को इष्ट मानकर न तो राग करते हैं और न पर द्रव्यको खराब मानकर द्वेष करते हैं। अपने पुरुषार्थकी अशक्ति से रागद्वेष हो जाता है, वे यह मानते हैं, और वे पुरुषार्थकी अशक्ति से होने वाले रागद्वेषको अपना स्वरूप नहीं मानते हैं। आत्मा के स्वरूप में राग नहीं है और पर वस्तु राग का कारण नहीं है, ऐसी दृष्टिमें राग है उसे भी वे दूर करना चाहते हैं। रागको दूर करते, करते

जो राग शेष रह गया है उसका कारण पर वस्तु की मान्यता नहीं है किन्तु ज्ञानी जानते हैं कि वह अपने पुरुषार्थ की अशक्ति है। अज्ञानी जीव अपने परिणाम को न देखकर पर वस्तु को भली बुरी मानता है और पर वस्तु के कारण राग द्वेष मानता है। इसप्रकार ज्ञानी और अज्ञानी के रागद्वेष में भी अंतर है।

भूल का मूल मिथ्यात्व ही है। न तो प्रवृत्ति के कारण भूल है, न कषाय के कारण भूल है और न प्रमाद अथवा योग के कारण भूल है किन्तु मिथ्या मान्यता के कारण ही भूल है।

सर्वप्रथम बंधन मिथ्यात्व ही है और सबसे पहले मिथ्यात्व ही छूटता है। मिथ्यात्व के छूटने के बाद ही प्रमाद कषाय और योग छूटता है। मिथ्यात्व के छूटने के पहले वे नहीं छूटते। इस मिथ्यात्वको छोड़ने के लिये आत्मस्वरूप की प्रतीति करना चाहिये।

मोक्षकी क्रिया

लेखक:-श्री रामजीभाई माणेकचंद दोशी

★

मोक्षकी क्रिया नामक - गुजराती - ग्रंथकी प्रस्तावना तथा समर्पण यहां दिया जा रहा है

स म र्प ण

पूज्य श्री कानजी स्वामीकी पवित्र सेवा में

★

आपने इस पामर पर परम उपकार किया है। आप वीतरागधर्म की महा प्रभावना कर रहे हैं। अनंत वीतरागियों के द्वारा प्रतिपादित मोक्षमार्ग क्या है? और उसे प्राप्त करने की वास्तविक क्रिया क्या है? यह आप इस भारतवर्ष में अपनी श्रुतगंगा के महाप्रवाह के द्वारा मुमुक्षु जीवोंको प्रत्यक्ष समझा रहे हैं। भगवान के द्वारा कही गई क्रियाको आप स्थापित कर रहे हैं। आप के पवित्र उपदेशको सुनकर अनेक जीवों पावन हुये हैं और हो रहे हैं। इसलिये 'मोक्षकी क्रिया' की यह लघु पुस्तक अत्यंत भक्ति भाव से आपको समर्पित करके आप के पवित्र कर कमलोंमें उपस्थित कर रहा हूं।

आपका
दासानुदास
रा म जी

॥ ॐ ॥

श्री सर्वज्ञ वीतरागाय नमः

श्री सद्गुरु देवाय नमः

प्रस्तावना

१—इस ग्रंथ को तैयार करने का हेतु बताने से पूर्व जैन-समाज की परिस्थिति जानना आवश्यक है, इसलिये सर्व प्रथम वह यहां कही जाती है।

सं. १९५२–५४ की परिस्थिति

२—श्रीमान् समीप समयवर्ती समयज्ञ श्रीमद् राजचंद्रजी ने कहा है कि—बहुत समय से जैनो में ऐसे अरक्षित कुए की तरह आवरण (काई) आगया है जिसके पानी का कभी उपयोग नहीं होता। कोई ज्ञानी पुरुष है नहीं। कितने ही समय से कोई ज्ञानी हुआ नहीं है अन्यथा उसमें इतने अधिक कदाग्रह नहीं होजाते।

(श्रीमद् राजचंद्र पृष्ट ५२९)

(१) आश्चर्य कारक भेद होगये हैं (२) खंडित है (३) संपूर्ण करने योग्य कार्य दुर्गम्य मालूम होता है। (४) उस प्रभाव में महत् अंतराय है (५) देश कालादिक अति प्रतिकूल है (६) वीतरागों का मत लोक के प्रतिकूल हो गया है (७) जो लोग रूढ़ि से उसे मानते हैं उनके लक्ष्यमें भी वह प्रतीत नहीं मालूम होता। अथवा वे अन्यमत को वीतराग का मत समझकर प्रवृत्ति किये जा रहे हैं (८) यथार्थ वीतराग के मत को समझने की योग्यता की उनमें बहुत बड़ी कमी है (९) दृष्टि राग का प्रबल राज्य वर्तमान है (१०) वेष आदिक व्यवहार में घोर विडम्बना करके मोक्षमार्ग में अंतराय कर बैठे हैं (११) तुच्छ पामर पुरुष विराधक वृत्ति धारण करके सबसे अग्रभाग में वर्तमान हैं (१२) किंचित् सत्य के प्रगट होने पर ऐसा मालूम होता है जैसे उन्हें प्राणघातक दुःख हो रहा हो।

(देखिये श्रीमद् राजचंद्र पृष्ठ ७०२)

३—श्री आत्मसिद्धि शास्त्रमें उनने कहा है कि—

वर्तमान इस कालमें मोक्षमार्ग बहु लोप।
आत्मार्थी के मनन को कहते यहां अगोप॥

४—इससे सिद्ध होता है कि (१) इस समय मोक्षमार्ग के जानने वालों का बहुलोप होगया है (२) जो लोग रूढ़ि से उसे मानते थे उन्हें वीतराग धर्म की प्रतीति नहीं थी (३) वे अन्यमत को वीतराग का मत समझ कर प्रवृत्ति करते थे।

तबसे लेकर अबतक की परिस्थिति

५—इस देश में उसके बाद अंग्रेजी शिक्षा का बहुत प्रचार हुआ और जीवन निर्वाह के साधन बहुत तंग होगये उन्हें प्राप्त करने के लिये लोग अपना बहुभाग उसीमें लगाने लगे इसलिये वीतरागी तत्त्वज्ञान से समाज का लक्ष्य विशेष दूर होने लगा और प्रवर्तमान धर्म की रूढ़ियों के प्रति शिक्षितलोगों के बहुभाग को अरुचि होने लगी।

६—जैनधर्म कोई गुट्ट नहीं है; फिर भी उसके अनुयायिओंने धर्म के नाम पर गुट्ट बना रखे हैं और उनके, समर्थन के लिये संप्रदायों की परिषदें होने लगी हैं। उन परिषदों-सभाओंने अपना लक्ष्य मुख्यतया (धार्मिकबनाने के बदले) समाज सुधार पर रखा है। लौकिक शिक्षा के लिये भी प्रचार और फंड किये गये किन्तु यह जानने की कभी किसीने चिंता नहीं की कि उस शिक्षा में वीतरागी विज्ञान विरुद्ध कितना क्या सिखाया जाता है? परिणाम स्वरूप धर्म पर से बाह्य श्रद्धा भी लगभग नष्ट होगई। उन परिषद-सभा संचालकों का श्रीमद्‌राजचंद्र के निम्न लिखित अमूल्य कथन पर भी लक्ष्य नहीं रहा।

गच्छ मतकी कल्पना है नहीं सद्‌व्यवहार।
भान नहिं निज रूप का निश्चय नहीं वह सार ॥१३३॥

७—शिक्षा प्रचार प्रस्तावों पर ठीक अमल नहीं होता इसलिये फरियाद बनी रही और समाज सुधार के अन्य प्रस्ताव मात्र कागज पर रह गये।

८—संवत् १९७४ में जब इस देशमें इनफ्ल्यूएंजा-बुखारकी महा बीमारी हुई थी तब समाज सेवा मंडल प्रारंभ हुये थे और सेवाकी ओर समाजकी प्रवृत्ति हुई थी। संवत् १९८७ से राष्ट्रीय आंदोलन ने समाज के हृदयमें प्रवेश किया, तब से युवक वर्ग राष्ट्रसेवा, देशसेवा समाजसेवा की ओर लग गया और वे लोग लौकिक कार्योंको धर्म के नाम से संबोधित करने लगे, वे उसे राष्ट्र धर्म, देशधर्म, समाज धर्म इत्यादि नाम देने लगे।

९—यह स्पष्ट है कि ऐसे आंदोलनों का प्रभाव उन पर हुये बिना नहीं रह सकता जो कुलधर्म से जैन हैं। जैनोंको जब यह भासित हुआ कि उस आंदोलन में अहिंसाको स्थान दिया गया है तो जैन समाज उस ओर प्रेरित हो गया। इसका परिणाम यह हुआ कि जैन समाज का कुछ भाग 'राष्ट्रधर्म' को ही वीतराग धर्म अथवा उसका एक भाग समझने लगा और अंततोगत्वा समाज वीतराग विज्ञान से विशेष दूर हो गया।

१०—इस आंदोलनको लेकर जैन युवक संघ स्थापित हुये। जिनका मुख्य कार्यक्रम समाज सुधार और समाज सेवा रहा है। इसप्रवृत्ति को धर्म का नाम देकर समर्थन करने के लिये पुस्तकें और अखबार प्रगट हुये। उनमें तीर्थंकर भगवान के चरित्रोंमें से उनके कार्यक्रम को समर्थन मिलता है और वही सच्चा जैनधर्म है इस आशय के लेख आने लगे।

११—समाज मुख्यतया तत्त्वज्ञान से रहित था और उसे प्रिय लगनेवाले कार्य जैनधर्म के अनुकूल हैं ऐसे लेख पढ़ने को मिले तथा स्वयं जैनधर्म के सच्चे अनुयायी हैं इस प्रकार की भ्रमरूप धारणा उनमें जमगई और वह दृढ़ होगई। जब उनकी परीक्षा ली जाती है और उनसे छह द्रव्य, पंचास्तिकाय और नौ तत्त्वों के नाम तथा सामायिक, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, तप, क्रिया इत्यादि का वास्तविक अर्थ पूछा जाता है तो उनके उत्तर में परिणाम केवल शून्य ही आता है। इसप्रकार जहां तत्त्वज्ञान की अज्ञान दशा होय वहां निश्चयनय और व्यवहारनय का वास्तविक अर्थकी खबर कहांसे हो सकती है यह सहज ही कल्पना की जा सकती है।

एक विचित्रता

१२—संसार संबंधी व्यवसायों में से जिसने जिस व्यवसाय का पक्का अभ्यास किया हो वही तत्संबंधी लेख अखबारों में लिखता है। आयुर्वेद पर कोई वकील लेख नहीं लिखता किन्तु लोगोंने धर्म का क्षेत्र ऐसा मान रखा है कि तत्त्वज्ञान से वंचित होने पर भी चाहे जो व्यक्ति धर्म विषय पर लेख लिख सकता है। और यदि वह लेखक समाज में कुछ प्रतिष्ठित हुआ तो उसका कथन आधारभूत माना जाता है और फिर यह भी माना जाता है कि ऐसी चर्चा से सत्यकी शोध हो सकती है।

यदि यह मान्यता सच हो तो इसका अर्थ यह हुआ कि धर्म संबंधी लेखों के लिये उस विषय के विशेष ज्ञान की आवश्यकता नहीं है और धर्म तो मानों बिल्कुल मुफ्ती ही है।

१३—यह तो हुई गृहस्थ समाजकी दशा। अब त्यागी समाजकी स्थितिको भी देखिये। कुछ संप्रदायोंमें त्यागियोंकी संख्या बढ़ाने की ओर विशेष ध्यान दिया जाने से शिकायतें होने लगी। युवक समाज औरत्यागी समाज तथा उसका समर्थन करने वाले गृहस्थ समाज के बीच संघर्ष होने लगा। त्यागियों के बीच वाह्याचरण को लेकर तीव्र क्लेशरूप मतभेद होने लगा। अखबारों में उस संबंध में बड़े ही जोर शोरकी चर्चा होने लगी। और परस्पर आक्षेप किये जाने लगे। परिणाम स्वरूप साधु समाज की सख्या में वृद्धि भले ही हुई हो किंतु फिर भी अनेक कारणों से वह समाज तत्त्वज्ञान से मुख्यतया वंचित रहा है। कुछ त्यागी समाज के अनुकूल विषयों को धर्म का स्वरूप मनवाते हैं और कुछ उपदेशक कहते हैं कि यह काल धर्म प्राप्त करने के लिये योग्य नहीं है फिर भी वे साधुओं की संख्या को बढ़ाते ही जाते हैं।

१४—इस प्रकार श्रीमद् राजचंद्रजी द्वारा कहे गये १२ मुद्दों में से ६-७-११-१२ नंबर के मुद्दे विशेषतया पुष्ट हुये हैं। इसे तटस्थ विचारक अवश्य स्वीकार करेगा।

तत्त्वज्ञानरसिक जन

१५—उपरोक्त कथन का यह अर्थ नहीं है कि तत्त्व ज्ञानरसिक जन कोई हैं ही नहीं। वीतराग का शासन पंचमकाल के अंत तक रहेगा। पंचमकाल २१००० वर्ष का है, उसमें से अभी २५०० ही वर्ष पूरे हुये हैं। इसलिये वीतरागी धर्म को समझने की रुचि वाले जीव होना ही चाहिये अतः इस संबंध में क्या क्या हुआ है इसे अब हम देखें।

१६—श्रीमद् राजचंद्रने गुजरात काठियावाड़ में जनसमाजको अध्यात्म समझाया और अध्यात्म के प्रचारार्थ 'श्री परम श्रुत प्रभावक मंडल' की स्थापना की। इस प्रकार जन समाज पर (मुख्यतया गुजरात और काठियावाड़ पर) उनका महान् उपकार प्रवर्तमान है।

१७—श्री परम श्रुत प्रभावक मंडलकी ओर से श्री कुंदकुंद आचार्य के बनाये हुये परमागम श्री समयसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय, श्री योगीन्द्र देव कृत श्री परमातमा प्रकाश, श्री उमास्वामी कृत तत्वार्थसूत्र, श्री अमृतचंद्र आचार्य कृत पुरुषार्थसिद्धि उपाय, श्री नेमिचंद्र सिद्धांत चक्रवर्ती कृत द्रव्य संग्रह, गोमट्टसार इत्यादि ग्रंथ हिंदी भाषामें प्रगट किये और श्रीमद् राजचंद्र गुजराती और हिंदी में प्रगट किया।

१८—कलकत्ता और दूसरे स्थानों से अर्थ-प्रकाशिका, समाधि शतक, सर्वार्थ सिद्धि, राजवार्तिक, रत्नकरण्ड श्रावकाचार, नियमसार और अष्टपाहुड, समयसार नाटक, मोक्षमार्ग प्रकाशक, जैनसिद्धांत प्रवेशिका, जैनसिद्धांत दर्पण आदि अनेक तत्त्व के ग्रंथ हिन्दी भाषा में प्रगट हुये हैं।

१९—गुजरात काठियावाड़ के जैनधर्म के भिन्नभिन्न फिरकों के संघों ने इन ग्रंथों को अपनी लाइब्रेरी के लिये खरीदे तथा गुजरात काठियावाड़ के अनेक जैनों ने भी उन्हें खरीदा। लोगों के हाथ में यह साहित्य आनेपर कुछ लोगों ने उसे पढ़ा जिससे उनके मनमें तात्त्विक प्रश्न उठने लगे और तटस्थ वृत्ति के लोग उसमें विशेष रस लेने लगे। इस प्रकार गुजरात काठियावाड़ में अध्यात्म रस के जो बीज श्रीमद् राजचद्र ने बोये थे वे उगते हुये दिखाई देने लगे।

एक पवित्र प्रसंग

२०—संवत् १९७२ में श्री वीर शासन के विशेष प्रचार का एक पवित्र प्रसंग अनेक मुमुक्षुओं के महान् पुण्योदय से बना। किसी धन्य घडी में पूज्य श्री कानजी स्वामी के हस्त कमल में श्रीमद् भगवत् कुंदकुंदाचार्य कृत श्री समयसार नामक महान ग्रंथ आया। समयसार को पढ़ते ही उनके हर्ष का पार न रहा। वे जिस की शोध में थे वह उन्हें मिल गया। (उनने श्वेतांबर आगमों और उनकी टीकाओं तथा अन्य ग्रंथों का अभ्यास पहले किया था) पूज्य श्री कानजी स्वामी ने अपने आंतरिक नयनों से समयसारजी में अमृत के छलकते हुये सरोवर देखे। एक के बाद दूसरी गाथा-टीकाको पढ़ते हुये मानों अंजलि भर भरकर अमृत घूंट पिये। ग्रंथाधिराज श्री समयसारजीने महाराज पर अनुपम अलौकिक उपकार किया और उनके आनंद का पार न रहा। महाराजश्री के अंतर जीवनमें परम पवित्र परिवर्तन हुआ। भूली हुई परिणतिने निज घरको देखा। उपयोग रूपी झरने का प्रवाह अमृतमय हो गया। जिनेश्वरदेव के सुनंदन गुरुवर्य की ज्ञान कला अब अपूर्व रीतया खिलने लगी।

अध्यात्म ज्ञानकी प्रभावना

२१—परम पूज्य श्री कानजी स्वामी का चातुर्मास सं. १९९० में राजकोट में हुआ। उस समय उनने श्री समयसारजी की प्रारंभ से ९९ गाथाओं तक का अर्थ अपनी मधुर और आबालवृद्ध के समझने योग्य सरल भाषामें समझाया। उसके अतिगहन आशयोंको प्रगट किया, तब से समाजकी अध्यात्म वृत्ति जागृत होने लगी।

२२—संवत् १९९० का चातुर्मास पूर्ण होने पर महाराज श्री जामनगर पधारे। वहां पर श्री समयसार का प्रवचन चालू रहा। इसप्रकार काठियावाड़ में अध्यात्म का प्रचार बढ़ता गया। जैनधर्म के तत्त्व के संबंध में उनकी मान्यता बदल चुकी थी इसलिये उनने संवत् १९९१ की चैत्रशुक्ला त्रयोदशी के पवित्र दिन को सोनगढ में स्थानकवासी संप्रदाय का त्याग किया। उनका मुख्य निवास सोनगढ़ में ही है। संवत् १९९५ में १० मास तक और संवत् १९९९ में लगभग ९ मास तक महाराज श्री राजकोट में रहे थे। वह समय तथा विहार का समय छोडकर शेष समय वे सोनगढ़ में ही रहकर अंतिम ११ वर्ष से काठियावाड में वीतराग के तत्त्वज्ञान की मूसलधार अमृतवर्षा कर रहे हैं जिसका लाभ अनेक मुमुक्षुजन ले रहे हैं।

इसग्रंथ की तैयारी

२३—बहुत से मुमुक्षु जीव आध्यात्मिक ज्ञान में रस लेने लगे। इसलिये धर्म की वास्तविक क्रिया क्या है, यह जानने के लिये उनकी आकांक्षा बढ़ने लगी। कई उपदेशक यह समझाया करते थे कि शरीर–जड़ की क्रिया से धर्म होता है, लोग जो सामायिक, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान तप, उपवास, दान, भक्ति, देवदर्शन, पूजा इत्यादि करते हैं वही भगवान के द्वारा कही गई क्रिया है और उसे करते करते धीरे धीरे धर्म होगा यों समझा रहे थे। साम्प्रदायिक मनोवृत्ति वाले जीवोंकी यह आदत होती है कि कुलधर्म के गुरु जो कुछ कहते हैं उसे वे ननु नच किये बिना मान लेते हैं, इसलिये वे ऐसी भ्रम पूर्ण मान्यताको पुष्ट किया करते हैं कि इस क्रिया से अपना उद्धार हो जायगा।

२४–कई उपदेशक तो यह कहते हैं कि हम वर्तमान में चलने वाली क्रिया के महा उपासक हैं हम उसके उपदेशक हैं, इस कालमें लोग धर्मको नहीं समझ सकते, इसलिये वे जिस प्रकार क्रियाऐं करते रहते हैं उसी प्रकार उन्हें करते रहना चाहिए। इस प्रकार वे मूढ़ता को पुष्ट करते हैं। यदि इस कालमें जीव धर्मको नहीं पाल सकते तो वे सच्चे उपदेशक कैसे माने जायंगे। यदि यह काल धर्म के योग्य नहीं है तो प्रतिदिन साधुओंकी संख्या बढ़ाने से क्या लाभ है? यदि इस कालमें जीवधर्मको नहीं पा सकते तो वे सच्ची साधु दीक्षा कैसे लेंगे और सच्चे साधु कैसे होंगे?

२५—ऐसी परिस्थिति में कई मुमुक्षु भाई कहने लगे कि वीतराग देव के द्वारा प्ररूपित क्रिया कौनसी है? इसके संबंध में एक पुस्तक लिखी जाय तो अच्छा हो। उनकी यह भावना उचित प्रतीत होने से पूज्य श्री कानजी स्वामी के मुख कमल से निकलने वाली वाणी से इस संबंध में मैं जो कुछ भी ग्रहण कर सका, उसे मैंने इस ग्रंथ में लिखा है। इसमें वीतराग विज्ञानता के अनुसार कथन करने की पूरी सावधानी रखी गई है।

२६—इस ग्रंथमें निम्न विषय लिये गये हैं (१) ज्ञान क्रियाभ्याम् मोक्षः (२) ज्ञप्ति क्रिया (३) करोति क्रिया (४) मोक्षको काटने वाली क्रिया (५) कुसामायिक क्रिया –सुसामायिक क्रिया (६) कुप्रतिक्रमण–सुप्रतिक्रमण (७) सच्चा प्रत्याख्यान (८) सच्चा तप (९) सच्चि गुप्ति-समिति, (१०) धर्मअनुप्रेक्षा, और परीषह जय का स्वरूप (११) भक्ति (१२) प्रशस्त दान, शील, तप भाव (१३) देह दमन, इंद्रिय निग्रह का सच्चा अर्थ (१४) मोक्षमार्ग में ज्ञान और क्रिया का कितने कितने दोकडे (१५) जीव प्रथम क्या करे (१६) निमित्त परद्रव्य का कुछ नहीं कर सकता (१७) निश्चय व्यवहार का स्वरूप (१८) जीव की अनादिसे चली आई भूल (१९) जीव के अनादि के सात व्यसन इत्यादि विषय लिये गये हैं।

पाठकों से प्रार्थना

२७—निम्नलिखित विषयोंपर विशेष लक्ष्य रखने की प्रार्थना है:—

(१) सम्यग्दर्शन से ही धर्म का प्रारंभ होता है।

(२) सम्यग्दर्शन को प्राप्त किये बिना किसी भी जीव को सच्चे व्रत, सामायिक, प्रतिक्रमण, तप, प्रत्याख्यान इत्यादि नहीं हो सकते। क्योंकि वह क्रिया पहले पांचमें गुणस्थान में शुभभावरूप होती है।

(३) शुभभाव ज्ञानी और अज्ञानी दोनों के होते हैं किन्तु अज्ञानी यह मानता है कि उससे धर्म होगा।

और ज्ञानी (हेय बुद्धि होने से) यह मानता है कि उससे कदापि धर्म नहीं होगा।

(४) इससे यह नहीं समझना चाहिये कि यहां पर शुभभाव करने का निषेध किया गया है किन्तु यह बताया गया है कि उसे न तो धर्म मानना चाहिये और न यह मानना चाहिये कि उससे क्रमशः धर्म होगा, क्योंकि अनंत वीतरागोंने उसे बंधका कारण कहा है।

(५) एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ नहीं कर सकता परिणमन नहीं करा सकता, प्रेरणा नहीं कर सकता, असर, मदद या उपकार नहीं कर सकता, हानि लाभ नहीं कर सकता, मार या जिला नहीं सकता, सुख-दुःख नहीं दे सकता। इस प्रकार प्रत्येक द्रव्य-गुण-पर्यायकी संपूर्ण स्वतंत्रता अनंत ज्ञानियोंने पुकार पुकार कर कही है।

(६) जिनमतमें ऐसी परिपाटी है कि पहले सम्यक्त्व हो, उसके बाद व्रत हो। सम्यक्त्व स्व-पर का श्रद्धान होने पर होता है और वह श्रद्धान द्रव्यानुयोग का अभ्यास करने पर होता है। इसलिये पहले द्रव्यानुयोग के अनुसार श्रद्धान करके सम्यग्दृष्टि होना चाहिये।

(७) पहले गुणस्थान में जिज्ञासु जीवों के शास्त्राभ्यास, पठन, मनन, ज्ञानी पुरुषों का धर्मोपदेश सुनना, निरंतर उनके समागम में रहना, देवदर्शन, पूजा, भक्ति, दान इत्यादि शुभभाव होते हैं किंतु पहले गुणस्थान में सच्चे व्रत, तप इत्यादि नहीं होते।

२८—ऊपरी दृष्टि से देखने वाले के निम्न लिखित दो शंकाओं का होना संभव है।—

(१) इस प्रकार का कथन सुनने अथवा पढ़ने से लोगोंको बहुत हानि होनेकी संभावना है।

(२) वर्तमान में लोग जो कुछ भी व्रत प्रत्याख्यान प्रतिक्रमणादि क्रिया करते हैं वह छोड़ देना चाहिये।

उसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है:—

यह कहना बहुत बड़ी भूल है कि सत्य से किसी भी जीव को हानि हो सकती है वह तो ऐसी ही बात होगी जैसे यह कहा जाय कि असत् कथन से लोगों को लाभ होता है। सत् के सुनने या पढने से जीवों को कदापि हानि नहीं हो सकती। मात्र यह जानना आवश्यक है कि व्रत प्रत्याख्यान करने वाले ज्ञानी हैं या अज्ञानी। यदि वे अज्ञानी हैं तो उनके सच्चे व्रतादि हो ही नहीं सकते, इसलिये उन्हें छोड़ने का प्रश्न ही नहीं है। यदि व्रत करने वाला ज्ञानी होगा तो यह मानना न्याय विरुद्ध है कि वह छद्मस्थ दशा में व्रतों को छोड़कर अशुभ में चला जायगा। हां, यह हो सकता है कि वह क्रमशः शुभभाव को दूर कर के शुद्ध को बढ़ाये। किन्तु वह तो लाभ का कारण है हानि का नहीं, इसलिये सत्य कथन से किसी को हानि नहीं हो सकती।

२९—इस प्रकार जीवों को सत्य का स्वरूप और मोक्ष प्राप्ति करने की वास्तविक क्रिया का स्वरूप बताने वाला यह ग्रंथ सबके लिये हित का ही कारण है।

३०—बहुत से जीव धर्म करना चाहते हैं और उसके लिये क्रिया करना चाहते हैं किन्तु उन्हें यह यथार्थ प्रतीति नहीं होती कि किस क्रिया के करने से धर्म होगा। इसलिये वे धर्म के नाम पर अधर्म का सेवन करते रहते हैं। इसलिये इस पुस्तक में बताया गया है कि धर्म की क्रिया क्या है? और उसका वास्तविक स्वरूप क्या है? अतः उसका सावधानी पूर्वक अभ्यास करने के लिये जिज्ञासु जीवों से खास निवेदन है। ★

एक स्पष्टीकरण

(आत्मधर्म अंक १२ पृष्ठ १८१ में "सर्वत्र ज्ञान ही प्रकाशमान है" शीर्षक लेख प्रगट हुआ था उसका विशेष स्पष्टीकरण) ★

ज्ञानाद्विना गुणाः सर्वे प्रोक्ता सल्लक्षणांकिताः।
सामान्याद्वा विशेषाद्वा सत्यं नाकारमात्रकाः ॥३९५॥

अन्वयार्थ—(ज्ञानाद्विना) ज्ञान के अतिरिक्त (सर्वे गुणाः) शेष सब गुण (सल्लक्षणांकिताः प्रोक्ताः) मात्र सत् रूप लक्षण से ही लक्षित होते हैं इसलिये (सामान्यात् वा विशेषात्वा) सामान्य अथवा विशेष दोनों अपेक्षा से (सत्यं आकार मात्रकाः न) वास्तव में अनाकार रूप ही होते हैं। अर्थात् अर्थ विकल्पात्मक नहीं होता।

भावार्थ—केवल ज्ञान गुण ही अर्थ विकल्पात्मक होता है इसलिये साकार कहलाता है और ज्ञान के अतिरिक्त शेष सब गुण अर्थ विकल्पात्मक नहीं होते इसलिये अनाकार कहलाते हैं। अतः वास्तवमें ज्ञान के अतिरिक्त शेष सब गुण सामान्य रूप से और विशेष रूप से केवल अनाकार रूप हैं।

ततो वक्तुमशक्यत्वात् निर्विकल्पस्य वस्तुनः।
तदुल्लेखं समालेख्यं ज्ञानद्वारा निरूप्यते ॥३९६॥

अन्वयार्थः—(ततः) इसलिये (निर्विकल्पस्य वस्तुनः वक्तुं अशक्यत्वात्) निर्विकल्प वस्तु का कथन अनिर्वचनीय होने से (ज्ञानद्वारा तदुल्लेखं समालेख्य) ज्ञान के द्वारा उन सामान्यात्मक गुणों का उल्लेख करके (निरूप्यते) उनका निरूपण किया जाता है।

भावार्थः—ज्ञान के अतिरिक्त शेष सब गुण अनाकार रूप होने से निर्विकल्प हैं और निर्विकल्प वस्तु का कथन नहीं हो सकता, इसलिये उन सामान्यात्मक गुणों का अविनाभावी ज्ञान की पर्यायों में उन गुणों का आरोप करके उनका ज्ञान के द्वारा उल्लेख किया जाता है। (पंचाध्यायी भाग-२ गाथा ३९५-३९६)

समदर्शीपन का अर्थ क्या है ?

(बहुत लोग सभी धर्मों को एक समान मानने और उनका समन्वय करने को समदर्शित्व कहते हैं, वह गलत है। इसलिये यहांपर उसकी सच्ची व्याख्या की जारही है)

श्रीमद् राजचंद्रजीने समदर्शित्व की व्याख्या करते हुये लिखा है कि:-

समदर्शिता का अर्थ है पदार्थ में इष्ट अनिष्ट बुद्धि का न होना, इच्छा का न होना, ममत्व का न होना। समदर्शिता चारित्रदशा की सूचक है। रागद्वेष रहित होना सो चारित्र दशा है। इष्ट अनिष्ट बुद्धि, ममत्व भावाभाव का होना सो रागद्वेष है। यह मुझे प्रिय है, यह अच्छी लगती है, यह मुझे अप्रिय है, यह अच्छी नहीं लगती है; इस प्रकार का भाव समदर्शी के नहीं होता।

समदर्शी बाह्य पदार्थ को और उसकी पर्यायों को उसी भाव से देखता है, जानता है और बतलाता है जिस भावसे वह पदार्थ और उस की पर्यायें प्रवर्तमान होती हैं किंतु उस पदार्थ अथवा उसकी पर्यायों के प्रति ममत्व अथवा इष्ट अनिष्ट भाव नहीं करता।

आत्मा का स्वाभाविक गुण देखना और जानना है इसलिये वह ज्ञेय पदार्थको ज्ञेयाकार देखता और जानता है किंतु जिस आत्मा के समदर्शिता प्रगट हुई है वह आत्मा उस पदार्थको देखते और जानते हुये भी उस में ममत्व बुद्धि, तादात्म्यभाव अथवा इष्ट अनिष्ट बुद्धि नहीं करता। विषम दृष्टि आत्मा पदार्थ के प्रति तादात्म्य वृत्ति होजाता है किन्तु समदृष्टि आत्मा नहीं होता।

कोई पदार्थ यदि काला हो तो समदर्शी उसे काला ही देखता, जानता और बतलाता है और यदि कोई श्वेत हो तो उसे वैसा देखता, जानता और बतलाता है। कोई सुगंधि हो तो उसे वैसा देखता जानता और बतलाता है और कोई दुर्गंधि हो तो उसे वैसा देखता जानता और बतलाता है। यदि कोई ऊंचा हो अथवा नीचा हो तो उसे वैसा देखता जानता और बतलाता है। सर्प को सर्प की प्रकृति के रूपमें देखता, जानता और बतलाता है। तेंदुए को तेंदुए की प्रकृति के रूप में देखता जानता और बतलाता है, इत्यादि प्रकार से वस्तु मात्र को वह जिस-रूप में या जिस भाव में होती है समदर्शी उसे उसी रूप में देखता जानता और बतलाता है। वह हेय (छोड़नेयोग्य) को हेय रूप देखता, जानता और बतलाता है तथा उपादेय ग्रहण करने योग्य को उपादेय रूपमें देखता, जानता और बतलाता है किंतु समदर्शी आत्मा उन सबमें अपनापन इष्ट अनिष्ट बुद्धि और रागद्वेष नहीं करता। सुगंध को देखकर प्रियता और दुर्गंध को देखकर अप्रियता नहीं करता। व्यवहारसे अच्छी मानी जाने वाली वस्तु को देखकर ऐसी इच्छा बुद्धि (राग, रति) नहीं करता कि यह वस्तु मुझे प्राप्त हो तो ठीक हो। व्यवहार से बुरी माने जानी वाली वस्तु को देखकर ऐसी अनिच्छा बुद्धि (द्वेष, अरति) नहीं करता कि यह वस्तु मेरे पास न हो तो ठीक हो। प्राप्त स्थिति—संयोग में अच्छा बुरा, अनुकूल-प्रतिकूल, इष्टानिष्टता, और आकुलता-व्याकुलता न करके उसमें समवृत्ति से अर्थात् अपने स्वभाव में राग द्वेष से रहित होकर रहना सो समदर्शिता है।

× × ×

समदर्शिता का अर्थ लौकिक भाव में समानभाव,-अभेदभाव, एकसी बुद्धि अथवा निर्विशेषता नहीं है अर्थात् कांच और हीरे को समान मानना अथवा सत् श्रुत और असत् श्रुत में समपना गिनना अथवा सद्धर्म और असद्धर्म में अभेद मानना अथवा सद्गुरु और असद्गुरु में एकसी बुद्धि रखना अथवा सच्चे देव और झूठे देव में निर्विशेषता दिखाना अर्थात् दोनों को एकसा मानना इत्यादि रूप जो समानवृत्ति है वह समदर्शिता नहीं है, यह तो आत्मा की मूढ़ता, विवेक शून्यता अथवा विवेक विकलता है।

समदर्शी सत् को सत् जानता है-बोधता है और असत् को असत् जानता है निषेध करता है। सत् श्रुत को सत् श्रुत जानता है, बोधता है, कु श्रुत को कु श्रुत जानता है निषेध करता है। सद्धर्म को सद्धर्म जानता है, बोधता है, असद्धर्म को असद्धर्म जानता है, निषेध करता है। सद्गुरु को सद्गुरु जानता है बोधता है, असद्गुरु को असद्गुरु जानता है, निषेध करता है। सच्चे देव को सच्चा देव जानता है, बोधता है; झूठे देव को झूठा देव जानता है

निषेध करता है इत्यादि जो जैसा हो उसे वैसा जाने देखे प्ररूपे उसमें रागद्वेष या इष्ट अनिष्ट बुद्धि न करे इस प्रकार समदर्शिता समझना जाहिये।

(श्रीमद् राजचंद्र ग्रथ भाग २)

इसके अतिरिक्त श्री आत्मसिद्धि पर प्रवचन करते हुये परम पूज्य श्री कानजी स्वामी ने 'समदर्शिता' की व्याख्या करते हुये कहा है कि:—

समदर्शिता का मतलब यह नहीं है कि खराब को खराब न कहे किन्तु सत्य असत्य का यथार्थ विवेक करे बुरे का निषेध करे, हित-अहित को बराबर जाने और जो जैसा है उसे वैसा कहे, इसी में समदर्शिता है। उसमें रागद्वेष नहीं है

(आत्मसिध्धि प्रवचन पुष्ठ ९४)

ज्ञानी निधड़क होकर सत्य प्ररूपणा करता है कि जगत् को नहीं रुचने से वह कोई विपरीत बात नहीं कहता। वह ज्ञानी को ज्ञानी और अज्ञानी को दोषवान् कहता है. वह किसी आत्माकी निंदा नहीं करता है किंतु जो जैसा है उसे वैसा कहता है। उसमें यदि किसी को विषाद होने की संभावना हो तो वह कदाचित् समय देख कर मौन रह जाता है किंतु असत्य मान्यता, कुतर्क, कुदेव, कुधर्म, कुशास्त्र को खराब कहकर निषेध करने में ज्ञानी का कोई दोष नहीं है।

कोई कहता है कि 'दृष्टि विष चला जानेपर सभी समान दीखता है' यह बात गलत है। ज्ञानी सत्य-असत्य, अमृत-विष, स्वभाव-परभाव अकषाय और कषाय को एकसा नहीं मानता किंतु जैसे को तैसा मानता है-कहता है। असत्य का निषेध करता है। कुज्ञानी (असमदर्शी) सत्यको नहीं पहचानने के कारण ज्ञान का, सत्य का निषेध करता है।

(आत्मसिद्धि प्रवचन पुष्ट ९५)

समदर्शिता ऐसी नहीं होती कि सत्य-असत्य, सार-असार और हिताहितको एकसा माने, एकसा जाने। मांस और रोटीकी अवस्थाको वह जैसी है उसे वैसी विवेक से जाने। स्त्री, पुरुष, माता, बहिन जिस प्रकार हैं उसी प्रकार उस अवस्था के रूपमें जाने किंतु अन्यथा न माने; विपरीत मान्यता वालेको विपरीत माने-जाने। इस प्रकार बलवान् विवेकवान समदर्शी धर्मात्मा होते हैं। × × अयथार्थ को अयथार्थ कहने में द्वेष नहीं है किंतु जो जैसा है उसे वैसा ही मानने में समदर्शिता अर्थात् समभाव है। किंतु रागद्वेष, मान, अपमानको समान मानना सो समभाव नहीं है।

[आत्मसिध्धि प्रवचन पुष्ट १२५]

जो जैसा है उसे वैसा जाने किंतु उसमें रागद्वेष न करे, यह समदर्शिता का लक्षण है। × × स्वभावमें रागद्वेष रहित होकर रहना सो समदर्शिता है।

(आत्मसिध्धि प्रवचन पुष्ट १२८)

स्वच्छंदी होकर अपनी मति कल्पना से सर्वज्ञ परमात्मा के न्याय की अल्पज्ञ जीव अन्य लौकिक धर्मों के साथ तुलना करते हैं। कहां सूर्य का तेज और कहां जुगनू का मंद प्रकाश ? इसका समन्वय करने वाले सूर्य के ढकने का प्रयत्न करते हैं, वे सब आत्म ज्ञान से अजान हैं। सत्य को सत्य और असत्य को असत्य मानना कहना अथवा उसका उपदेश देना सो इसमें दोष नहीं है। समदर्शी होकर भी अविरोध रूप में जो जैसा है उसे वैसा कह सकता है, इसी को सच्ची समदर्शिता समझना चाहिये।

(आत्मसिध्धि प्रवचन पृष्ठ १३२)

जैसी गति वैसी मति नहीं किंतु जैसी मति वैसी गति होती है

(पूज्य श्री कानजी स्वामी का समयसारजीकी गाथा ३४ पर प्रवचन)

एक मोक्ष अवस्था और दूसरी निगोद अवस्था इस प्रकार दो परस्पर विरोधी अवस्थायें हैं। मोक्षदशा सादि अनंत है और निगोदमें से भी अनंतानंत कालमें भी निकलना मुश्किल है, इसलिये यदि तत्त्वकी पहिचान न की गई तो निगोद से अनंतकाल में भी छूट होना मुश्किल होगा। यदि तत्त्वको समझले सो मोक्ष और न समझे तो निगोद है। अब बीचमें रह जाता है त्रस का काल, उसे निकाल दिया तो सीधा निगोद ही है और तत्त्वको समझने के बाद एक दो भव होते हैं उन्हें निकाल दिया तो सीधा सिद्ध ही है।

नरककी अपेक्षा निगोदमें अनंतगुणा दुःख है क्योंकि बाह्य संयोग दुःख का कारण नहीं है किन्तु ज्ञानकी मूढ़ता ही दुःख है। अग्निमें जल जाना दुःख नहीं है किन्तु वह प्रतिकूलता मुझे हो जाती है इस प्रकार मोह करना सो दुःख है। इसी प्रकार अनुकूलता में बाह्य साधन सुविधाओं के मिलने से सुख नहीं होता किन्तु मोह से यह कल्पना करता है कि उनसे मुझे सुख होता है। लेकिन वह सुख नहीं दुःख है।

वड़ा वंगला हो, कोई हिंडोले में झुल रहा हो और उसके मस्तक पर पंखे चल रहे हों तो वह उसे सुख जानता है मानों सारा सुख इसी में आ गया हो .किन्तु भाई ! सिर पर चार गति के पंखे चल रहे हैं। जैसे पंखा के चार पांखे होती हैं उसी प्रकार चार गतिकी चार पांखों वाला पंखा सिर पर घूम रहा है, इसलिये उसमें सुख मानना छोड़दे और आत्माकी पहिचान कर। नहीं तो सीधा निगोदमें जायगा जहां पर फिर पता लगना मुश्किल होगा।

एक अभिप्राय यह है कि पहले जो अनादिकाल से कर्म वंधे हुये हैं वे अब कैसे छूट सकते हैं ? किन्तु भाई ! वे कर्म तेरी भूल से वंधे हैं अपनी भूल के कारण ही तू भटकता फिरा। जो चौरासी के अवतार हुये हैं वे भी तेरी भूल के कारण हुये हैं इसलिये यदि तू अपनी भूलको दूर करेगा तो कर्म छूटजायंगे। संसार परिभ्रमण में कर्म तो निमित्त मात्र हैं। तूने अपनी अनादि कालीन भूलको कभी नहीं छोड़ा इसलिये तू परिभ्रमण कर रहा है। जिसे अपनी भूल का भान नहीं है वह मानता है कि मुझे वह कर्म चक्कर लगवा रहे हैं और कर्मोने मुझे पराधीन कर रखा है, स्वयं तो कर्मरूपी पत्थर से चिवका हुआ है और कहता है कर्म मुझे हैरान करते हैं। कर्म से कहता है कि तू अब खिसक जा किन्तु यह तो देख कि तू ही कर्म से चिवका हुआ है। वे कर्म तो खिस के ही पड़े हैं, तू अपनी विपरीत मान्यता से तो खिसक जा। कर्म वाधक हो ही नहीं सकते क्योंकि एक तत्त्व दूसरे तत्त्वको त्रिकाल में भी हानि पहुंचाने में समर्थ नहीं है।

अब भविष्य के अवयवकी बात कहते हैं। कई लोग कहा करते हैं कि 'न जाने कितने समय तक यह कर्म परिभ्रमण करायेंगे।' ऐसा कहने वाले पुरुषार्थहीन नपुंसक हैं। कहा जाता है कि 'कर्म मुझे करेंगे और कर्मोने मुझे परेशान कर डाला' अरे ! क्या कह रहा है ? जड़ तुझे परेशान करेंगे ? जड़ने तुझे परेशान कर डाला ? तनिक विचार तो कर, तेरी सत्ता में परसत्ता कभी प्रविष्ट हो सकती है कि जो तुझे हैरान करे और परेशान करे। अकेले कर्म ही हैं या तेरा भी कोई अस्तित्व है ? तुझ में कोई दम है या नहीं ? तेरी उपस्थिति है या मात्र कर्म ही हैं ? तू विपरीतता से खिसक जा और देख कि कर्म खिसके ही पडे हैं। इस शरीर के कारण जो कर्म के रजकण थे वे जब दूर हो जाते हैं तब शरीर भी अलग हो जाता है, जो अलग होने योग्य होता है वह सब अलग होता है। चिदानंद ज्ञान स्वरूप आत्मा अकेला है उससे शरीरादि तथा क्रोधादि समस्त पर अलग होने योग्य है, इसलिये वह अलग हो जाता है।

शरीरमें कोई रोग आता है तो वह किसी कर्म का कार्य होता है और रोग के दूर होने पर उसका कारण कर्म भी दूर हो जाता है। स्वयं रागद्वेष, काम, क्रोध न करे तो उसका कारण कर्म भी दूर हो जाता है और मात्र अकेला आत्मा रह जाता है।

कर्मका नाम तो शास्त्रमें से सुना और कहने लगा कि कर्म को लेकर गति मिलती है और जैसी गति होती है वैसी मति होती है इस प्रकार विपरीत समझ लिया, और 'जैसी मति वैसी गति होती है' यह कहने के बदले 'जैसी गति वैसी मति' इस प्रकार आत्म-प्रतीति के बिना विपरीत कहता है।

अज्ञानी, बालतप-अज्ञान कष्ट करता है उसमें यदि शुभभाव होता है तो पुण्य बांधता है किन्तु उसकी दृष्टि पर के ऊपर है इसलिये वह शुभ बदलकर अशुभ हो जायगा। क्योंकि पुण्य परिणाम के करते समय 'मैं ही पुण्य हूं' इस प्रकार का विपरीत अभिप्राय होता है इस लिये पुण्य के साथ दर्शनमोह भी बंधा है। उस विपरीत मान्यता के बलसे पुण्य की स्थिति को तोड़कर और अशुभभावों को बांधकर नरक निगोदमें चला जायगा।

ज्ञानी समजता है कि मैं इस रागद्वेषका उत्पादक नहीं हूं। अल्प शुभराग होता है परंतु उसका मैं उत्पादक नहीं हूं; किन्तु मैं अपने स्वभाव का उत्पादक हूं। इस प्रकार ज्ञानीकी दृष्टि शुद्धपर गई है इसलिये वह पुण्य की स्थिति को तोड़कर शुद्धमें चला जायगा।

भगवान आचार्यदेव कहते हैं कि जो जीव कर्म को ही आत्मा मानते हैं उन्हें यह खबर नहीं है कि कर्मों का नाश करके वीतरागता प्रगट करनेवाले हम ही हैं। इसलिये उन जीवों को संसारमें ही परिभ्रमण करना है।

सूचना

कृपालु ग्राहक,

कार्यालयकी साथ पत्र व्यवहार करते समय अपना ग्राहक नंबर अवश्य लिखें।

हम कहते हैं वैसा एकवार अभ्यास कर

[पूज्य श्री कानजी स्वामी का श्री समयसार कलश ३४ पर प्रवचन]

आचार्य देव कहते हैं कि हम तुझ से ही कहते हैं उसे तू समझ सकेगा, इसलिये हम तुझे समझा रहे हैं। तू आत्मा है, ज्ञान स्वरूप है, तुझमें समझ ने की शक्ति है, इसलिये तुझे समझाते हैं। लकड़ी को कोई नहीं समझाता क्यों कि वह जड़ है। तू भी जो कुछ काम वतलाता है वह उसी को वतलाता है जो समझ सकता है। लकड़ी को संबोधित करके कभी यह नहीं कहता कि पानी ला, क्योंकि लकड़ी में उस शब्द के भाव को समझने की शक्ति नहीं है, यह तू जानता है। इसलिये जो 'पानी ला' इस भाव को समझ सकता है उसी को तू पानी लाने के लिये कहता है।

दूसरी वात यह है कि तिजोरी की चावी विश्वस्त नौकर को सोंपी जाती है, किन्तु दो वर्ष के अपने वालक को नहीं सोंपी जाती—यद्यपि भविष्य में सब कुछ उसी लड़के को देना है किंतु वर्तमान में उसमें योग्यता नहीं है इसलिये उसे नहीं सौंपी जाती। जैसे तू लौकिक कार्यों में किसी की योग्यता का ज्ञान करके उसे योग्य कार्य सौंपता है इसीप्रकार यहां सर्वज्ञ देव ने अपने ज्ञान में तुझमें सिद्धत्व की योग्यता देखी है और उस योग्यता को देखकर ही तुझे ऐसा उपदेश दे रहे हैं। अनंतकाल से तेरे पर की ओर के विपरीत अभ्यास की खबर है, फिर भी हम कह रहे हैं कि तू रागादि और कर्म से आत्मा को भिन्न मान और उन सबसे भिन्न शुद्ध आत्मा की श्रद्धा कर। भाई! अपनी मान्यता के अनुसार तो तू अनंतानंत काल से करता आया है, फिर भी तेरा संसार अभी तक ज्यों का त्यों उपस्थित है। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि तेरी मान्यता गलत है, इसलिये उस मान्यता को छोड़कर अव एक वार जैसा हम कहते हैं उस प्रकार अभ्यास कर। मात्र छह महीना तक ही ऐसा करने से तुझे आत्म स्वरूप की प्राप्ति अवश्य होगी। ३४ वें कलश का यही आशय है।

आत्मा त्रैकालिक है। पुण्य पाप के जो भाव होते हैं वे वर्तमान एक क्षण मात्र के लिये होते हैं उस क्षणिक भावमें सारा आत्मा नहीं आ जाता। आत्मा त्रिकाल एकरूप रहता है और पुण्य पाप तो दूसरे ही क्षण में दूर हो जाते हैं। इसलिये जो दूर हो जाते हैं वे भाव तेरे स्वरूप के नहीं हैं, कर्म के हैं। इस प्रकार स्वरूप का वल वताने के लिये कहते हैं, इसलिये स्वभाव की श्रद्धा कर।

आत्मा का निःसंदेह निर्णय हो सकता है

(गाथा ३८ टीका प्रवचनमें से)

निर्णय करने का स्वभाव आत्मा का है। आत्मा में ज्ञान नामक त्रिकाल गुण है। उसका कार्य निर्णय करना है, निश्चय करने का गुण ही आत्मा से अभिन्न है, इसलिये जो जीव यह कहता है कि 'आत्मा का निर्णय नहीं हो सकता' वह आत्मा के निर्णय करने रूप ज्ञान गुण को ही नहीं मानता अर्थात् वह आत्मा को ही नहीं मानता अर्थात् आत्मा और गुण भिन्न नहीं है।

निर्णय करने रूप गुण तो आत्मा में त्रिकाल है। उसकी विकाररूप अवस्था होती है तव पर में 'यह मैं हूं' यों मानता है। यद्यपि यह मान्यता गलत है फिर भी वहां उसे निःशंक होकर मानता है जो पर में निःशंक होजाता है वह स्व में निःशंक क्यों न हो? निःशंक रूपमें निर्णय करने की शक्ति तो आत्मा में ही है। जो अवस्था के द्वारा परका अथवा अपनी अवस्था का निर्णय करता है और उसमें निःशंक होजाता है वह यदि उस अवस्था के द्वारा त्रैकालिक अखंड स्वभाव का निर्णय करे तो उसमें संदेह कैसे हो सकता है? स्व का निर्णय करने में संदेह नहीं हो सकता।

ज्ञानकी जो पर्याय परकी ओर अथवा क्षणिक पर्यायकी ओर लक्ष्य करके निःसंदेह होती है वह पर्याय यदि दीर्घ कालीन हो तो स्वकी ओर ढले अर्थात् यदि त्रैकालिक का लक्ष्य करे तो उसमें संदेह न हो क्योंकि अवस्था तो द्रव्यमें से ही द्रवित होती है और यह अवस्था स्वोन्मुख होने पर द्रव्य-पर्याय अभेद हुये तो फिर वहां द्रव्यकी श्रद्धामें संदेह कैसे हो सकता है?

द्रव्यमें से ज्ञानकी अवस्था आती है वह अवस्था क्षणिक है उस अवस्था के द्वारा 'जो शरीर है सो मैं हूं, जो राग है सो मैं हूं' इस प्रकार वर्तमान क्षणिक का निर्णय करता है, उसमें किंचित् मात्र भी शंका नहीं करता है। यदि वह अवस्था स्वभाव की ओर ढले तो स्वभाव परिपूर्ण है और उसके वल से श्रद्धा भी पूर्ण निःसंदेह हो जाती है।

वर्तमान अवस्था के द्वारा प्रस्तुत वर्तमान का लक्ष्य करता है और उस में निःसंदेह होता है। वह निःसंदेहत्व क्षणिक को लक्ष्य करके होता है इसलिये वह क्षणिक है किंतु यदि वर्तमान अवस्था जिसमें से आती है उस त्रैकालिक द्रव्य का लक्ष्य करे तो उसमें कदापि संदेह न रहे। यह निःसंदेह श्रद्धा प्रत्येक जीव अपनी ओर के पुरुषार्थ से कर सकता है। ★

भगवान आत्मा के शुद्ध स्वरूपकी यथार्थ प्रतीति हुये विना राग द्वेष का वास्तविक त्याग नहीं हो सकता

—पू. श्री कानजी स्वामीका प्रवचन—

तत्प्रति प्रीति चित्तेन येन वार्तापि श्रुताः।
निश्चितं स भवेद्भव्यो भावि निर्वाणभाजनम्॥
[पद्मनंदी पंचविंशति: अेकत्व अधिकार]

इस शरीरमें निवास करने वाले आत्मा के स्वरूपको यदि स्वभाव दृष्टि से देखा जाय तो त्रिकाल निर्मल और पवित्र है। क्षणिक अवस्थाकी दृष्टि से उसमें पुण्य पापकी वृत्ति दिखाई देती है, आत्मा वैसा नहीं है। एक तत्त्व में यदि दूसरे तत्त्व का निमित्त न लिया जाय तो उसमें विकार नहीं हो। भूल क्षणिक दृष्टि से और अनादि से हुई है। यदि भूल न हो तो परमानंद स्वरूप प्रगट हो और यदि वह भूल स्वरूप में हो तो दूर नहीं हो सकती। यदि प्रगट रूपमें अच्छा हो तो कोई अच्छा करना ही न चाहेगा और यदि अच्छाई त्रिकाल स्वभाव में न हो तो अच्छा करने का प्रश्न ही न रहे।

प्रत्येक प्राणी सुख चाहता है, इसलिये सिद्ध है कि उसे वर्तमान में प्रगट सुख नहीं है। सुख अपना स्वरूप है। यदि सुख की सत्ता स्वीकार न की जाय तो सुख की शोध ही न हो। जो नहीं होता उसमें कार्य करने के लिये कोई प्रयत्न नहीं करता। सुख का प्रयास करता है इस से सिद्ध है कि कहीं सुख का अस्तित्व मानता है। यदि सुख का अस्तित्व न हो तो कोई उसे शोधे ही नहीं, और यदि सुख प्रगट हो तो भी उसे कोई ढूंढे नहीं। सुख कहीं मान रखा है और उसके उपाय को भी स्वीकार किया है किंतु वह सुख कहां है और उसका उपाय क्या है? इसकी प्रतीति हुये विना यह जीव सुख के नाम पर दुःख का उपाय अनादिकाल से कर रहा है।

एक तत्त्वको दूसरेकी आवश्यकता होना सो पराधीनता है। नाशवान् वस्तु से अविनाशी का सुख मानने में भीतर भय बना रहता है कि इस वस्तु का संयोग हट जायगा तो मैं अकेला रह जाऊंगा अर्थात् मेरा सुख चला जायगा, ऐसी आकुलता रहती है।

आपतित प्रतिकूलता के समय मरण का दुःख सहन करके-देह को छोड़कर भी दुःख दूर करके सुख चाहता है। शरीरको छोड़कर भी सुख लेना चाहता है। इसमें यह गर्भित है कि शरीरादि पर के विना मैं अकेला सुख स्वरूप हूं। अव्यक्त रूप में भी ऐसी श्रद्धा विद्यमान है कि मैं विना शरीर के अकेला सुखरूप रह सकूंगा इसलिये शरीरको छोड़कर भी सुख लेना चाहता है। इसमें तीन बातें आगई-(१) सुख का अस्तित्व माना है(२) उपाय करता है (३) शरीरको छोड़कर (अकेला आत्मा रहकर) भी सुख चाहता है इसलिये अज्ञान रूपमें-अव्यक्तरूपमें भी यह मान रहा है कि-

'मैं अकेला रहकर भी सुख प्राप्त कर सकता हूं, अशरीरी अकेला रह सकूंगा, अकेले स्वभाव में सुख भरा हुआ है। राग और विकार रहित एकाकी स्वरूप में सुख है ऐसे निर्णय के विना सुख प्रगट नहीं होता। आत्मा में सुख है वह सुख स्वाधीन है, परके आधार से रहित है और वह प्रगट हो सकता है।

पर से निराले सहज आनंद स्वरूप आत्मा की प्रतीति नहीं की। अज्ञान भाव में पर के विना अकेला सुख प्राप्त कर सकता हूं इस प्रकार अव्यक्त रूप में मानता है किन्तु प्रतीत भाव में व्यक्तरूप में कभी नहीं माना और फिर चाहे जैसी अनीति करता हो तथापि बाह्य में अपने को अनीति वाला नहीं कहलवाता क्योंकि अप्रगटरूपमें भी वाणी में सत् का शरण लिये विना वह जी नहीं सकेगा। यदि कोई उसे 'अनीतिवान' कहता है तो फौरन कहता है कि क्या हम अनीतिवाले हैं। जगत् के प्राणी भी अनीति की शरणमें रहकर जीना नहीं चाहते और अव्यक्त रूप में सत्य की शरण के विना नहीं रह सकेंगे। जगत् में प्राणी झूठाई करते हैं किंतु वे बाह्यमें यह नहीं कह सकते कि हमें झूठाई पर निर्वाह करना है। वाणीमें सत्य की इतनी शर्म रखे बिना जगत् में चल नहीं सकता, इसका अर्थ यह हुआ कि चाहे जो हो किंतु सत्य की आड़ में रहना तो चाहता है।

किसीको अपने भावानुसार फल नहीं मिलता हो यह नहीं हो सकता। माया-दंभसे कोई भी अपने भाव के फल को नहीं बदल सकता।

पाप छुपाया न छुपे, छुपे तो महाभाग्य;
दाबी दुबी ना रहे, रुई लपेटी आग॥

'अनीति से पैसा प्राप्त नहीं करना है' यह निश्चय करने के बाद विना पैसे के आपतित कठिनाई को

'द्वेषरहित' सहन करना होगी। अनीति को छोड़नेपर अनीति के कारण मिलने वाली तथा कथित सुविधा नहीं मिलेगी तो भी समभाव रखना पड़ेगा। शरीर को छोड़-कर भी वह अनीति नहीं करेगा। जिसे अनीति नहीं करना है उसे शरीर के जाने पर भी उसपर द्वेष नहीं हो सकता किंतु अंतस्वरूप की शांति की प्रतीति हुये विना द्वेष अवश्यंभावी है, अर्थात् आत्माकी शांति की प्रतीति हुये विना नीति भी नहीं रह सकती।

आत्मा ज्ञाता दृष्टा स्वरूप है, ज्ञाता दृष्टा में परके करने का जो भाव है सो ममत्व है तव फिर अनीति के त्याग का ध्येय कहां रहा कि जिससे शरीर पर के रागद्वेष का त्याग करे। जिसे रागद्वेषको दूर करना है उसे राग-द्वेषको क्षणिक मानना होगा और उसे नाशवान मानना होगा। जिसे परकी अनीतिकी यथार्थ त्याग वृत्ति करना हो उसे पहले तो यह निर्णय करना होगा कि वह अनीति और रागद्वेष अपने त्रैकालिक स्वभाव में नहीं है। इस निर्णय के विना रागद्वेष दूर नहीं होगा।

भगवान आत्मा के शुद्ध स्वरूपकी प्रतीति हुये विना रागद्वेष का वास्तविक त्याग नहीं हो सकता और राग-द्वेप का त्याग हुये विना शरीरादि संयोग का त्याग नहीं हो सकता तथा अशरीरी स्वरूप प्रगट नहीं हो सकता।

प्रारंभ में कही गई गाथा का पहला शब्द 'तत्प्रति' है उसका अर्थ क्या है? जैसी प्रीति पर के ऊपर है वैसी प्रीति आत्मा के ऊपर होनी चाहिये। पुण्य पाप की प्रीतिको छोड़कर ऐसे (जैसा हमेशा कहा जाता है वैसे) निर्मल आत्माकी प्रीति करके एकवार भी जिसने आत्मस्वरूपकी वातको सुना है वह जीव अवश्य भावी मुक्ति का भाजन होता है। जीवने प्रसन्न चित्त से कभी यह वात नहीं सुनी, कान में तो अवश्य पड़ी है किंतु जहां तक परकी रुचि रहती है वहां तक आत्मा की रुचि नहीं होती और आत्मा की रुचि के विना यह शब्द यदि कान में पड़ते हैं तो वह सुना हुआ नहीं कहा जा सकता। यहांपर 'सुनी है' यह लिखा है, 'पढ़ी है' यह नहीं कहा, इसमें गहन न्याय है।

शरीर अपनी मर्यादा पर (आयु कर्म की स्थिति के अनुसार) छूटता है। अनंतवार शरीर छूटा है किंतु जिसे शरीर के छूटने में अरुचि होती है उसे शरीर को अनुकूल रखने का भाव होता है। शरीर के जाते हुये अरुचि किसे न होगी? इसका उत्तर यह हुआ कि जिसने यह जान लिया है कि अरुचि भी मेरा स्वरूप नहीं है उसे अरुचि नहीं होती। शरीर के छूटते हुये जिसे यह विचार आता है कि वरावर औपचोपचार नहीं हुआ इसलिये ऐसा हुआ है उसके मनमें यह है कि मुझे शरीरको टिकाना नहीं आया, ऐसी वृत्ति रखने वाले जीव का यह शरीर तो छूट ही जायगा किंतु उसे दूसरा शरीर भी अवश्य धारण करना होगा। (शरीर पर है) परको निभाने की शक्ति मुझमें है ऐसा भाव लेकर वह जहां जायगा वहां शरीर धारण किये विना नहीं रहेगा।

संसार के कार्यों में—वकील के काम में डाक्टर या डाक्टर के काम में वकील दखल नहीं देता किंतु धर्म के काम में सभी सयाने वन जाते हैं। अनंतकाल से अपूर्व धर्म की वात स्वयं कभी जानी नहीं है फिर भी जहां धर्मकी वात चल रही हो वहां फौरन अपना मत प्रगट कर देता है। अरे भाई! यदि तुझे धर्म की खवर है तो तुझसे पूछते हैं कि धर्म तो आत्मा का स्वभाव है और आत्मा का स्वभाव जन्म मरण से रहित है तव क्या तुझे जन्म मरण रहित स्वभाव का निश्चय हुआ है?

आत्मा के स्वभाव में उपेक्षा नहीं है। यदि शरीर के जाने पर भी वुरा न लगे तो कहा जा सकेगा कि शरीर को छोड़ दिया—उसकी चिंता नहीं की। अंतरंग में आत्म शांति को प्रतीति हो तभी शरीर को निर्ममत्व होकर छोड़ा जा सकता है। 'रागद्वेष को छोड़ता हूं' इस प्रकार का निश्चय करे किंतु रागद्वेष को छोड़कर उन्हें छोड़ने वाला त्रिकाल स्थायी कौन है? इसकी प्रतीति हुये विना रागद्वेष को नहीं छोड़ सकता।

यहां आत्मा की वात चल रही है। ऐसे अपूर्व स्वभाव की वात प्रीति पूर्वक सुनी हुई कव कहलायेगी? यदि अंतरंग में पुण्य की प्रीति न रखे तो। संसार के प्रति जो राग की प्रीति है उसे कम करके यदि आत्मा की वात को सुने तो प्रीति से सुना हुआ कहलायगा। किंतु यदि संसार के राग को कम किये विना सुने तो कहना होगा कि उसने आत्मा की वात को नहीं सुना किंतु रागकी वातको सुना है। मेरा तत्त्व (आत्मा का स्वरूप) पुण्य पापकी समस्त वृतियों को छोड़ने वाला है।

यहां पर 'प्रीति से सुनकर' यों कहा है, 'प्रीति से पढकर' यह नहीं कहा। यदि पढ़ने से मोक्ष होता हो तो पहले पन्नों (पोथी के पृष्ठों) का मोक्ष होना चाहिये। पृष्ठ तो जड हैं, जड में ज्ञान नहीं होता। जिसमें ज्ञान हो उसमें से ज्ञान आता है किंतु यदि न हो तो उसमें से नहीं आता है। यहां 'सुनकर' कहा है, इसमें निमित्त व्यक्त किया है। दीपक से दीपक प्रगट होता है उसी प्रकार जिसमें ज्ञान होता है उसी में से आता है, न्याय तो गहन है किन्तु संक्षेप में कहा जाता है।

जिसने कोई विकार रखने योग्य माना है उसे निर्विकार स्वरूपकी रुचि नहीं है। 'प्रीति से सुनी है' यह जो कहा है उसमें सुनने वालेमें जो परकी रुचि का त्याग है वह सुनने वाले का उपादान है और 'सुनकर' में ज्ञानी गुरु का निमित्त बताया है। उपादान-निमित्त कैसे होना चाहिये, इसका वर्णन 'प्रीति' से और 'सुनकर' में आगया है। शास्त्र में तो सब कुछ लिखा है किंतु उसे जानने वाला ही जानता है। अपढ़को तो सफेद कागज पर काले अक्षर मालूम होते हैं। वस्तु का जैसा स्वभाव है उस तरफ ज्ञान को—आत्मा को ले जाना सो न्याय है। अहाहा! ऐसा आत्मा! जिसे मैं प्रगट करना चाहता हूं वह तो मुझ में ही है और जिसे दूर करना चाहता हूं वह नाशवान-कृत्रिम है। इस प्रकार जिसे ऐसी प्रतीति हो जाती है कि आत्मा पर से भिन्न शुद्ध है वह समस्त रागद्वेष इत्यादि को छोडकर उसे (आत्मा की शुद्धता को) प्राप्त किये बिना नहीं रहता। ऐसा आत्मा जो जिस प्रकार कहा गया है उसे जिसने उसी प्रकार प्रीति पूर्वक सुनकर सत् के बीज बोये हैं वह भविष्य में सहज शांति अकृत्रिम सुखरूपी फल अवश्य पाता है और कृत्रिम रागद्वेष-अशांति नष्ट हो जाती है।

पर पदार्थ पर होनेवाली वृत्ति मेरी नहीं है और मैं अविकारी शुद्ध हूं जिसे ऐसी रुचि होगई है उसे फिर स्थिर होने का वायदा नहीं होता। प्रत्येक जीव रुचि वाली वस्तु को जल्दी से जल्दी प्राप्त करना चाहता है। जिसे उसकी रुचि हुई उसका उसे वायदा नहीं होता।

जानीते यः परं ब्रह्म कर्मणः पृथगेकताम्।
गतं तद्गत बोधात्मा तत्स्वरूपं सगच्छति ॥
(पद्मनंदी गाथा २४)

जितनी कर्मकी वृत्ति और उसका फल है, मेरा स्वरूप उससे पृथक् है, जिसने यह जान लिया है वह आत्मा बारंबार उसमें स्थिर होने का प्रयत्न करता है। अपनी वस्तु का एक अंश भी पराधीन रहे यह वह नहीं चाहता। यदि दरवाजेकी चौखट में उंगली कुचल जाय तो फौरन चिल्लाता है, उसी प्रकार जिसे स्वरूपकी ऐसी प्रीति है कि यदि 'मेरी वस्तु का एक अंश भी परमें दबे तो वह मुझे सह्य नहीं है' वह यह मानता है कि 'मेरी एक भी पर्याय रागद्वेष से दबे तो वह मुझे नहीं पुसाता' और जैसा निर्मल स्वरूप है वैसा स्वयं जानकर अपने में स्थिर होकर वह परम ब्रह्म स्वरूपको प्राप्त हो जाता है, मुक्ति और आत्मा के आनंदको वह प्राप्त कर लेता है। ★

वंदन करने योग्य (मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ. २७०-२७१)

दंसण मूलो धम्मो उवइट्ठं जिणवरेहिंसिस्साणं।
तं सो ऊण सकण्णे दंसणहीणो ण वंदिव्वो ॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन जिसका मूल है ऐसे जिनेन्द्र भगवान के द्वारा उपदिष्ट धर्मको सुनकर हे कर्ण सहित पुरुषो! सम्यक्त्व रहित जीवकी वंदना नहीं करना चाहिये। जो स्वयं कुगुरु और कुगुरु के श्रद्धान से युक्त है वह सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकता है तथा सम्यक्त्व के बिना अन्य धर्म भी नहीं हो सकता तब फिर वह धर्महीन वंदना के योग्य कैसे हो सकता है?

जे दंसणेसु भट्ठा, णाणे भट्ठा चरित्तभट्ठा य।
एदे भट्ठाविभट्ठा, सेसं पि जणं विणासंति ॥

अर्थः—जो दर्शन (श्रद्धान) से भ्रष्ट हैं, ज्ञान से भ्रष्ट हैं, और चारित्र से भ्रष्ट हैं वे जीव भ्रष्टातिभ्रष्ट हैं। जो जीव उनका उपदेश मानते हैं उन जीवों का भी वे नाश करते हैं-बुरा कर देते हैं।

जे दंसणेसु भट्ठा, पाए पाडंति दंसण धराणं।
ते हुंति लुल्लमूया, बोही पूण दुल्लहा तेसिं ॥

अर्थः—जो स्वयं तो सम्यक्त्व से भ्रष्ट हैं तथापि सम्यक्त्व धारियों से अपने पैर पुजवाना चाहते हैं, वे लूले, गूंगे अथवा स्थावर होंगे और उन्हें बोधकी प्राप्ति का होना महा दुर्लभ होगा।

जे वि पडंति च तेसिं, जाणंता लज्जगारव भएण।
तेसिं पि णत्थि बोही, पावं अणुमोयमाणाणं ॥

अर्थः—जो जानता हुआ भी लज्जा, गारव या भय से उसके पैर पूजते हैं उन्हें भी बोधि अर्थात् सम्यक्त्व नहीं होता। वे जीव कैसे हैं? मात्र पापकी अनुमोदना करते हैं। पापियों का सन्मानादि करने पर भी उस पाप की अनुमोदना का फल लगता है।

(नोट-यहां श्री कुंदकुंदाचार्यने दर्शन पाहुड में उपरोक्त दो, आठ, बारह और तेरहवीं गाथामें सम्यक्त्व-हीनको वंदन न करने की बात कही है, इसलिये वंदन करने वालेको सर्व प्रथम सम्यक्त्वी और मिथ्यात्वी की पहिचान होना आवश्यक है। क्योंकि बिना पहिचान के वंदन करने पर भी वंदन का यथार्थ फल उसे नहीं मिलता। यदि सच पुछा जाय तो बिना पहिचान-बिना परीक्षा के वंदन करना वंदन ही नहीं है यहां पर जो बंदनकी बात है सो धर्मबुद्धिपूर्वक वंदनकी समझना चाहिये। सम्यग्दर्शन ही पहला धर्म है। जिसमें यह धर्म नहीं है वह धर्मबुद्धिपूर्वक वंदन करने योग्य नहीं है।)

गुणार्थिकनय क्यों नहीं ?

पूज्य श्री कानजी स्वामी

शास्त्रों में अनेक स्थानों पर द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक नय की चर्चा आती है, किन्तु कहीं भी 'गुणार्थिकनय' का प्रयोग नहीं किया गया, इसका क्या कारण है ? इस संबंध में यहां कुछ कहा जाता है:—

कोई ऐसी तर्क करे कि:—

तर्क–१–द्रव्यार्थिकनय के कहने पर उसका विषय गुण और पर्यायार्थिक नय के कहने पर उसका विषय पर्याय होता है तथा यह दोनों मिलकर प्रमाण सो द्रव्य है। इस प्रकार मानने से गुणार्थिकनय का प्रयोग नहीं किया गया है। यदि कोई इस प्रकार से कहे तो वास्तव में ऐसी बात नहीं है।

तर्क–२–द्रव्यार्थिकनय का विषय द्रव्य और पर्यायार्थिक नय का विषय पर्याय है तथा वह पर्याय गुणका अंश है इसलिये पर्याय में गुण अंतर्हित है। इस प्रकार मानकर गुणार्थिक नय का प्रयोग नहीं किया गया है। यदि कोई इस प्रकार समाधान करे तो यह भी ठीक नहीं है।

समाधान

गुणार्थिकनयका प्रयोग न करनेका वास्तविक कारण

शास्त्रों में द्रव्यार्थिकनय और पर्यायार्थिक नय का ही प्रयोग किया गया है उन दोनों नयों का वास्तविक स्वरूप यह है कि—

पर्यायार्थिक नय का विषय अपेक्षित–बंध मोक्ष की पर्याय है और उससे रहित (बंध मोक्ष की अपेक्षा रहित) त्रिकाली गुण और त्रिकाली निरपेक्ष पर्याय से युक्त जो त्रैकालिक द्रव्य सामान्य है वह द्रव्यार्थिकनय का विषय है। इस अर्थ में शास्त्रो में द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक नय का उपयोग किया गया है, इसलिये गुणार्थिक नय की आवश्यकता नहीं रहती।

शास्त्रों में द्रव्यार्थिक नय का प्रयोग किया जाता है, इसमें एक गहन रहस्य है।

द्रव्यार्थिक नय का विषय त्रैकालिक द्रव्य है और पर्यायार्थिक नय का विषय क्षणिक है। द्रव्यार्थिक नय के विषय में अलगगुण नहीं है क्योंकि गुण को अलग करके लक्ष्य में लेने पर विकल्प उठता है और विकल्प पर्यायार्थिकनय का विषय है।

* सारांश *

(शेष अंतिम पृष्ट से)

मिथ्यादृष्टि परद्रव्यों का दोष मानकर उनका त्याग करता है इसलिये वह द्वेषरूप त्याग है और परद्रव्य लाभदायक हैं इसप्रकार मानकर उनके प्रति का राग अंगीकार करता है। मान्यता में दोष होने से त्याग ग्रहण में दोष आता है अर्थात् खोटी मान्यता और खोटे चारित्र का अनादि का ग्रहण एवं सच्ची मान्यता और सच्चे चारित्र का अनादि का त्याग उसके है जो चालू रहता है। सम्यग्दृष्टि परद्रव्यों से लाभ या हानि नहीं मानता और अपने स्वरूप की सच्ची मान्यता करता है। उसकी मान्यता सच है इसलिये वह थोथी मान्यता का त्याग करता है और सच्ची मान्यता को ग्रहण करता है। और क्योंकि मान्यता सच्ची है इसलिये आंशिक रागद्वेषका त्याग तथा चारित्र की शुद्धता का आंशिक ग्रहण प्रथम अवस्था में होता है और उस शुद्धता के बढ़ने पर वह संपूर्ण शुद्धता को प्रगट करता है। ★

मुद्रक : चुनीलाल माणेकचंद रवाणी, शिष्ट साहित्य मुद्रणालय,दासकुंज, मोटा आंकडिया-ता. २३–९–४६

प्रकाशक : जमनादास माणेकचंद रवाणी, आत्मधर्म कार्यालय, मोटा आंकडिया, काठियावाड

मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि के त्याग ग्रहण का अंतर

मिथ्यादृष्टि की मान्यता त्याग और ग्रहण

विषय सुखादि का फल नरकादिक है, शरीर अशुचिमय है और विनाशीक है, पोषण करने योग्य नहीं है तथा कुटुम्बादिक स्वार्थ के सगे हैं इत्यादि पर द्रव्यों के दोषों का विचार करके उनका त्याग करता है।

तथा व्रतादि का फल स्वर्ग मोक्ष है, तपश्चरणादि पवित्र फल देने वाले है, इनके द्वारा शरीर का शोषण करना योग्य है तथा देव गुरु शास्त्रादिक हितकारी हैं इत्यादिक पर द्रव्यों के गुण का विचार करके उसीको अंगीकार करते है।

इस प्रकार पर द्रव्यों को बुरा समझकर अनिष्टरूप श्रद्धा करता है और किन्हीं पर द्रव्यों को भला समझकर इष्टरूप श्रद्धा करता है।

उनकी उदासीनतामें भूल

पर द्रव्यों में इष्ट अनिष्ट रूप श्रद्धा करना सो मिथ्या है और उसी श्रद्धा से उसकी उदासीनता भी द्वेष बुद्धि रूप होती है क्यों कि किसी को बुरा समझने का नाम द्वेष है और इस प्रकार मान्यता के गलत होने से उसका त्याग द्वेषरूप है और अंगीकार रागरूप है इसलिये उस जीव के कभी भी धर्म का अंश नहीं होता।

सम्यग्दृष्टि की मान्यता तथा त्याग और ग्रहण

प्रश्न—सम्यग्दृष्टि भी तो पर द्रव्यों को बुरा समझ कर त्याग करता है?

उत्तर—सम्यग्दृष्टि पर द्रव्यों को बुरा नहीं समझता किन्तु अपने राग भाव को बुरा मानता है स्वयं सराग भाव का त्याग करता है इसलिये उसके कारण का भी त्याग हो जाता है। वस्तुदृष्टि से विचार करने पर वास्तव में कोई भी पर द्रव्य न तो भला है और न बुरा।

प्रश्न—पर द्रव्य भले और बुरे का निमित्त मात्र तो है?

उत्तर—पर द्रव्य जबरदस्ती से तो कहीं भी कुछ नहीं बिगाड़ता। जब अपने भाव स्वयं निजसे बिगड़ते हैं तब जिस पर द्रव्य पर लक्ष्य करके स्वयं अपने भाव को बिगाड़ता है, उस पर द्रव्य को निमित्त कहा जाता है। निमित्त पर द्रव्य है, एक पर द्रव्य दूसरे में अकिंचित्कर है—वह कुछ भी नहीं कर सकता।

और फिर निमित्त (पर द्रव्य की उपस्थिति) के बिना भी भाव तो जब जीव बिगाड़ता है तब बिगड़ता है, इसलिये पर द्रव्य नियमरूप निमित्त (उपस्थितरूपमें) भी नहीं है।

इसप्रकार पर द्रव्यों का दोष देखना सो मिथ्याभाव है। मिथ्यादृष्टि जीव यह नहीं समझता कि रागादिक ही बुरे हैं, वह तो परद्रव्यों के दोष मानकर उनमें द्वेषरूप उदासीनता करता है और इसीलिये वह मिथ्या उदासीनता है।

सम्यग्दृष्टि की यथार्थ उदासीनता

सच्ची उदासीनता तो वह यह है कि किसी भी पर द्रव्य के गुण या दोष भासित न हों और इसलिये वह किसीको भी बुरा भला न समझे। निजको निजरूप जाने और परको पररूप जाने परके साथ मेरा कोई प्रयोजन नहीं है इसप्रकार पहले अपनी मान्यता में निश्चय करे। इस प्रथम दृष्टि में सच्ची उदासीनता है। ऐसी यथार्थ मान्यता (दृष्टि, अभिप्राय) के होने पर वह सरागभाव को छोड़देता है और जितना रागद्वेष छूटता है उतना वह चारित्र में पर द्रव्यों के प्रति साक्षीभूत रहता है, उसीका नाम सच्ची उदासीनता है।

इस प्रकार सम्यग्दृष्टि के ग्रहस्थदशा में अभिप्राय में संपूर्ण सच्ची दशा होती है और चारित्र में आंशिक उदासीनता होती है।

अभिप्राय (मान्यता) में संपूर्ण सच्ची उदासीनता का जोर होने से चारित्र में रागद्वेष का नाश होता जाता है और इसलिये क्रमशः उस उदासीनता के बढ़ने पर ग्रहस्थदशा छूटकर साधु की सच्ची उदासीनता प्रगट होती है और उसके बढ़ते बढ़ते सम्यग्ज्ञानी जीव चारित्र में संपूर्ण उदासीनता प्रगट करता है, उसे संपूर्ण वीतरागता भी कहा जाता है।

[शेष पृष्ठ ९५ पर]

 With the permisson of the Baroda Govt. order No. 30—24 date 31-10-44 Regd. No. B. 4875

धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है।

वर्ष : २
अंक : ७

: संपादक :
रामजी माणेकचंद दोशी
वकील

कार्तिक
२४७३

जैनशास्त्रों का अर्थ करनेकी पद्धति

जैनशास्त्रोंमें वस्तु का स्वरूप समझाने के दो प्रकार हैं:-
निश्चयनय और व्यवहारनय।

(१) निश्चयनय—वस्तु सत्यार्थ रूपमें जैसी हो उसे उसी रूपमें कहना सो निश्चयनय है अर्थात् जहां निश्चयनयकी मुख्यता से कथन हो वहां सत्यार्थ ऐसा ही है, यह जानना चाहिये और-

(२) व्यवहारनय—वस्तु सत्यार्थ रूपमें वैसी न हो किंतु पर वस्तु के साथ का संबंध बताने के लिये कथन हो सो व्यवहारनय है। जैसे 'घी का घडा' कहा जाता है किन्तु वह घी का नहीं लेकिन मिट्टी का है, फिर भी दोनों एक जगह रहते हैं यह बताने के लिये घी का घडा कहा जाता है। इसी प्रकार जहां व्यवहारनय से कथन हो वहां वास्तवमें वैसा नहीं है। किंतु निमित्तादि बताने के लिये उपचार से वह कथन है, यह समझना चाहिये।

दोनों नयों के कथनको सत्यार्थ जानना अर्थात् 'इसप्रकार भी है और इसप्रकार भी है' यह मानना सो भ्रम है। इसलिये निश्चय कथनको सत्यार्थ समझना और व्यवहार कथनको सत्यार्थ नहीं समझना चाहिये। किन्तु यह समझना चाहिये कि वह कथन निमित्तादिको बतानेवाला है।

इसप्रकार दोनों नयोंके कथनका अर्थ करना सो दोनों नयोंका ग्रहण है। दोनोंको ग्रहण योग्य मानना सो भ्रम है। सत्यार्थको ही ग्रहण करने योग्य मानना चाहिये।

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

शाश्वत सुखका मार्ग दर्शक मासिक पत्र

एक अंक
पाँच आना

आत्मधर्म कार्यालय—मोटा आंकड़िया—काठियावाड़

—अरहंत का भक्त—

पूज्य श्री कानजी स्वामी के सत्ता स्वरूप
: के प्रवचन से :

सर्वज्ञ परमात्मा जिनेश्वर अरहंत देवका सेवक होने के लिये समस्त विश्व को छोड़ देना होता है। अर्थात् संसार की परवाह छोड़देना पड़ती है। समस्त विश्व की प्रतिकूलता आजाय तो भी भगवान अरहंतदेव की श्रद्धा और भक्ति नहीं छोड़ी जाती। अपने पुरुषार्थ से संसार की ओर का अशुभभाव छेदकर सच्चे देव गुरु के प्रति भक्ति पूजा विनय इत्यादि का शुभभाव हुये विना गृहीत मिथ्यात्व भी दूर नहीं होता।

भगवान का भक्त भगवान को विराजित करता हुआ कहता है कि:—

आवो आवो सीमंधर नाथ अम घेर आवो रे,
रुडा भक्ति वत्सल भगवंत नाथ पधारो रे।
हुं कइविध पूजूं नाथ कइ विध वंदूं रे?
मारे आंगणे विदेही नाथ जोइ जोइ हरखूं रे....
(जिनेन्द्र स्तवन मंजरी पा. २५८)

वीतरागदेव-गुरु की भक्ति से उछलता हुआ वीतरागदेव का सेवक कहता है कि हे प्रभु! हे नाथ! किस विधि से आपकी पूजा करूं। समस्त विश्व को भुलाकर और इस शरीर के कमल बनाकर उनके द्वारा आपकी पूजा करूं या किस प्रकार पूजूं? (यहां अज्ञानता नहीं किन्तु विनय है, भक्ति का उल्लास है) पहले तो वीतरागदेव गुरु की भक्ति में सर्वस्व समर्पण होना चाहिये, उसके विना वीतरागदेव का भक्त नहीं कहला सकता।

जो विपदाओं को याद करता है वह भगवान का भक्त नहीं है। जगत में विपदा कैसी? अरहंत का भक्त विपदा को नहीं देखता, वह तो निकला सो निकला। अरहंत देव का सेवक हुआ सो अब वह अरहंत पद को लेकर ही रहेगा। अरहंत का भक्त हुआ सो वह अरहंत पद को लिये विना कदापि नहीं रहेगा, इसी का नाम है अरहंत का भक्त, इसी का नाम है वीतराग का सेवक और इसी का नाम है जैन।

* प्रश्नोत्तर *

प्रश्न—हमारे नगरमें जो प्रतिष्ठित शिक्षित सज्जन मिलते हैं, वे आत्मा या धर्म के विषयमें जो कुछ कहें, उसे मानलें या नहीं?

उत्तर—सच्चे धर्म-ज्ञानकी तो यह पद्धति है कि परीक्षा करे, आगम युक्ति से विचारे, गंभीरता से मनन करे, यदि कसोटी पर ठीक उतरे तो माने वरना न माने। शास्त्रमें कहे गये कथनोंको भी प्रयोजनभूत विषयोंमें जांच करके और उसे देख समझकर खातिरी कर लेनी चाहिये ऐसी आज्ञा है। इस विषयमें श्रीमद् राजचन्द्रजी कहते हैं कि:—

करी जो जो वचननी तुलना रे,
जो जो शोधीने जिन सिद्धांत।
मूल मारग सांभलो जिननो रे॥

प्रश्न—तब तो यह सार निकला कि कथनकार चाहे जितना विद्वान, चाहे जितना मान्य हो, चाहे जितना शास्त्राभ्यासी हो, चाहे आगम के ही वचन क्यों न हों, परंतु प्रयोजनभूत बाबतमें परीक्षा किये बिना उन्हें ग्रहण न करना चाहिये।

उत्तर—हां सत्य रीति तो यही है। व्यवहारमें भी तुम सबकी सुनकर, भले बुरेकी पहिचान कर कार्य करते हो तो फिर परमार्थमें तो परीक्षा आवश्यक है ही।

प्रश्न—इस विषयमें श्रीमद् राजचंद्रजी के अतिरिक्त और भी कोई शास्त्र का प्रमाण है या नहीं?

उत्तर—हां, इसके विषयमें श्री जयधवलामें इस प्रकार लिखा है। (पृष्ठ ८)

"जो शिष्य युक्तिकी अपेक्षा किए बिना मात्र गुरु वचन के अनुसार ही प्रवृत्ति करता है, वह प्रमाणानुसारी नहीं कहा जा सकता।"

श्री सत्तास्वरूप में लिखा है कि "आगममें लिखा है, मात्र इसीलिये मानलें तो स्वात्मज्ञानगम्य वह विषय नहीं हुआ। अन्य के वचन मानें तो भी ज्ञानगम्य विषय नहीं हुआ, मात्र परका वचन श्रवणगोचर हुआ। इसलिये प्रयोजनभूत जो बात आगममें कही है उसे प्रत्यक्ष, अनुमान आदि से परीक्षा करके ही ग्रहण करना चाहिये।

आत्मधर्म
वर्ष २ : १९ : कार्तिक
अंक ७ : : २४७३

रुचि और पुरुषार्थ

जिसे जिस वस्तुकी रुचि होती है वह उस वस्तुकी मर्यादा नहीं बांधता, उसकी हद नहीं होती। जिसे पैसे की रुचि होती है वह लाख दो लाख अथवा करोड़ इत्यादि की मर्यादा नहीं बांधता किंतु जितना मिले उतना ले लेने की उसकी भावना होती है उसी प्रकार जिसे आत्माकी रुचि होती है वह आत्महित के लिये कोई मर्यादा नहीं बांधता। आत्मा के अमर्यादित स्वभावकी रुचि होने पर उसमें कोई मर्यादा नहीं हो सकती किंतु काल और पुरुषार्थकी मर्यादाको तोड़कर अमर्यादित पुरुषार्थ के द्वारा संपूर्ण स्वरूप को प्राप्त करता ही है।

"आत्मा का स्वरूप दो तीन दिनमें अथवा अमुक समय तक प्राप्त हो सके तो ले लेना चाहिये" इस प्रकार जो कालकी मर्यादाको बांध कर स्वरूप को प्राप्त करना चाहता है, उसे आत्माकी रुचि ही नहीं है। यदि वास्तवमें आत्माकी रुचि हो तो मर्यादा न हो। अनंतानंत काल से संसार के कार्यों को करता आया है, फिर भी कोई कालकी मर्यादा नहीं बनाई; किन्तु यहां मोक्ष साधन में मर्यादा बनाना चाहता है समझना चाहिये कि उसके आत्मा की रुचि नहीं है किंतु संसारकी ही रुचि विद्यमान है।

यदि तुझे वास्तव में आत्माकी रुचि उत्पन्न हुई हो तो संसार मात्र छोड़कर आत्मा के लिये ही जीवन अर्पण कर दे। अरे! एक तो क्या किंतु यदि अनंतानंत भव भी आत्मा के लिये देना पड़े तो उन्हें भी अर्पित करने को तैयार हूं। चाहे जो हो किंतु मुझे तो आत्मा का हित करना ही है। इस प्रकार आत्म रुचि करके कालकी मर्यादाको तोड़ दे। ऐसा करने से अनंत भव का नाश होकर अल्प काल ही में तेरी मुक्ति अवश्य हो जायगी। कालकी मर्यादाको तोड़कर जो आत्मा के लिये अनंत भवोंको अर्पित करने के लिये तैयार हुआ है उसके भव हो ही नहीं सकता। आत्माकी ओर यथार्थ रुचि होने से उस रुचि के बल से काल मर्यादा को तोड़कर उग्र पुरुषार्थ के द्वारा वह एक दो भव में ही मुक्त हो जायगा किंतु यदि काल की मर्यादा बांधी तो अनंतकाल में भी जन्म मरणका अंत नहीं होगा। मर्यादा के लक्ष्य से मुक्ति का अमर्यादित पुरुषार्थ प्रगट नहीं होता। जिस ओर की रुचि होती है उसी ओर का पुरुषार्थ जागृत होता है, इसलिये सर्व प्रथम क्षेत्र और कालकी मर्यादाको तोड़कर रुचि को बदलो।

संपूर्ण स्वतंत्रताकी घोषणा

१—इस जगत में ६ द्रव्य हैं—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। आचार्यदेवने अत्यंत स्पष्ट स्वतंत्रता की घोषणा करके बता दिया है कि इनमें से कोई भी द्रव्य एक दूसरे का कुछ भी उपकार या अपकार नहीं कर सकता। एक द्रव्य दूसरे द्रव्यमें परिवर्तन, सहायता या प्रेरणा कुछ नहीं कर सकता। प्रत्येक द्रव्य पूर्ण तीनलोक और तीनकाल में स्वतंत्र है। एक द्रव्य अन्य द्रव्य अथवा उसकी पर्याय को भी कुछ बिगाड़ सुधार नहीं सकता। इस परम तत्त्व को वीतरागदेव तथा उनके सच्चे अनुयायी ही भली प्रकार जान सकते हैं।

२—उपर्युक्त सिद्धांत के निश्चित होजाने पर आत्मा को अपनी तरफ ही लक्ष्य रखना चाहिये। आत्मा स्वयं ही अनंत गुणों का खजाना है। आत्मा का खजाना सर्वदा आत्मा में ही अखंडरूप में ही रहता है। आत्मा का खजाना आत्मा से बाहर कैसे हो सकता है? इसलिये आत्मा के शुद्ध भाव में रमण करना ही सर्वोपरि सेवा है। जब कोई किसी दूसरे का कुछ उपकार या अपकार कर ही नहीं सकता, फिर पर की सेवा का सवाल ही क्या है? आत्मा पर की सेवा करेगी, पर की तरफ लक्ष्य रखेगी तो वह विकारी हुये बिना कदापि न रह सकेगी। और यदि अपने त्रिकाली अखंड ज्ञायक स्वभाव की ओर लक्ष्य करेगी तो उसे शुद्धता प्रगट हुये बिना न रहेगी। आत्मा को अपने त्रिकाली ज्ञायक स्वभाव (निश्चयनय) का तथा अपनी वर्तमान विकारी अपूर्ण अवस्था (व्यवहारनय) का ज्ञान करके अपने त्रिकाली ज्ञायक ध्रुव स्वभाव (निश्चयनय) को आदरणीय मानकर उसकी ओर उन्मुख होने पर उस ध्रुव स्वभाव (निश्चयनय) के आश्रय से शुद्धता प्रगट होती है यह बताया है।

३—एक जीव किसी अन्य जीव का या जड़का—शरीर मकान, गाम या क्षेत्र का कुछ उपकार या अपकार नहीं कर सकता। हां, ऐसा माननेवाला जीव शुभभावना करता है और उस शुभ भाव के बाद तत्काल अशुभभाव आ जाता है। अतः ऐसे भाव का फल संसार ही होगा धर्म नहीं। किन्तु जो यह मानता हो कि मैं दूसरे का कुछ नहीं कर सकता, उसके जो शुभभाव होता है वह भी न तो धर्म है और न धर्मका कारण ही। संपूर्ण वीतरागता प्राप्त न हो तबतक ज्ञानियों के शुभभाव होते रहते हैं परंतु वे उसे धर्म तो कदापि मानते ही नहीं। पुण्य को धर्म या धर्म का सहायक मानने की जो बलवान प्रवृत्ति संसार में चल रही है उसका आचार्यदेवने पूर्णतया निषेध करके कहा है कि—

है कर्म अशुभ कुशील अरु जानो सुशील शुभ कर्मको।
कैसे सुशील वह कर्म जो संसारमें दाखिल करे॥

पुण्य और पाप दोनों विभाव परिणति से उत्पन्न होते हैं, इसलिये दोनों बंध रूप ही हैं। भ्रम के कारण उनकी प्रवृत्ति भिन्न भिन्न भासित होती है, इसलिये वे अच्छे और बुरे रूपमें दो प्रकार से दिखाई देते हैं। वास्तविक दृष्टि से तो वे दोनों एक रूप ही हैं। वे बंध रूप ही हैं, खराब ही हैं, यह ज्ञानी जन जानते हैं। वे दोनों क्षुद्राणी के उदर से एक ही साथ उत्पन्न हुये हैं इसलिये दोनों साक्षात् क्षुद्र हैं।

इस प्रकारकी मान्यता पहले होनी चाहिये। मान्यता के होते ही वह शुभभाव नहीं टल जाता इसलिये ज्ञानी के भी शुभभाव होता है किंतु ज्ञानी और अज्ञानी के बीच अंतर यह है कि अज्ञानी शुभभावको अच्छा मानता है, धर्मका कारण मानता है (जिसको अच्छा माना जाता है उसे दूर करने योग्य कोई मान ही नहीं सकता, किंतु वह विकार है इसलिये पलट कर थोड़े समय में अशुभ हुये बिना न रहेगा और जब शुभभाव होता है तब पुण्य और पाप दोनों प्रकार के कर्म बंधते हैं, इसलिये अज्ञानी के कभी धर्म नहीं होता) और ज्ञानी के अज्ञानीकी अपेक्षा शुभभाव भिन्न प्रकार का उच्च और अधिक होता है, फिर भी वह उसे कदापि धर्म नहीं मानता।

४—जीव अनंत हैं। प्रत्येक जीव स्वयं सिद्ध पूर्ण चैतन्य स्वरूप वस्तु है। अनंतकाल से परवस्तु को अपने हानि लाभ का कारण मानकर यह दुःखी हो रहा है।

५—जो यह मानता है कि मैं अन्य जीवों का जीवनदाता हूं या वे मेरे जीवन रक्षक हैं, वह मूढ़ है, अज्ञानी है। ज्ञानी इससे विपरीत है।

६—जो यह मानता है कि पर जीव मुझे मारते हैं या मैं उन्हें मार सकता हूं, वह मूढ़ है, अज्ञानी है। ज्ञानी ऐसा नहीं मान सकता।

७—जो यह मानता है कि पर जीव मुझे सुखी दुःखी करते हैं या मैं उन्हें सुखी दुःखी करता हूं तो वह मूढ़ है; ज्ञानी ऐसा नहीं मानता।

८—हे भाई! तेरी यह कल्पना कि मैं जीवों को सुखी दुःखी कर सकता हूँ, उन्हें धर्म प्राप्ति करा सकता हूं, उन्हें मोक्ष दिला सकता हूं, उन्हें बंधन में डाल सकता हूं, यह तेरी मिथ्यामति है।

९—हे जीव! सर्व प्रथम मिथ्या दर्शन को टालकर सम्यग्दर्शन प्रगट करना चाहिये। क्यों कि इसके विना सम्यग्ज्ञान या सम्यक्चारित्र नहीं हो सकते।

१०—सम्यग्दृष्टि को ही सच्चे व्रत, दान, तप या शील हो सकते हैं, अज्ञानी को कदापि इन की प्राप्ति नहीं।

११—धर्म की शुरुआत सम्यग्दर्शन से होती है। अपना स्वरूप यथार्थरूप से जाने विना सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता इसलिये प्रथम अपने स्वरूप को यथार्थ रीत्या समझकर सम्यग्दर्शन प्रगट करना चाहिये। भव्य जीव चाहे वृद्ध हो, रोगी हो, निरोगी हो, बालक हो, जवान हो, निर्धन हो, धनवान हो, सभी उसे प्रगट कर सकते हैं।

१२—सम्यग्दर्शन धर्म का मूल है। मिथ्यात्व संसार का मूल है। इसलिये जीव का विकारीभाव पुण्य, पाप, आस्रव, बंध तथा अविकारी भाव संवर, निर्जरा मोक्ष को पहिचान कर शुद्धता प्रगट करना चाहिये।

जीवको क्या करना चाहिये ?

जिज्ञासु जीवोंको आत्मा—जो निश्चल चैतन्यरूप पदार्थ है उसे (१) पढ़ने योग्य (२) ध्यान करने योग्य (३) आराधन करने योग्य (४) पूछने योग्य (५) सुनने योग्य (६) अभ्यास करने योग्य (७) उपार्जन करने योग्य (८) जानने योग्य (९) कहने योग्य (१०) प्रार्थना योग्य (११) शिक्षा योग्य (१२) देखने योग्य और (१३) स्पर्श करने योग्य है कि जिससे आत्मा सदा स्थिर बना रहे।

(श्री अमितगति आचार्य कृत योगसार अध्याय ६ गाथा ४९)

नमः समयसाराय

: श्री समयसार कलश १ :

नमः समयसाराय स्वानुभूत्या चकासते।
चित्स्वभावायभावाय सर्व भावांतरच्छिदे॥

नमः समयसारायः—'समय' अर्थात् आत्मा और 'सार' अर्थात् रागादि रहित स्वभाव उसे 'नमः' अर्थात् मैं नमस्कार करता हूं-आदर करता हूं। इसमें यह बताया है कि किसका आदर करना चाहिये और किसका नहीं। समयसार का अर्थ है रागादि तथा शरीरादि रहित शुद्ध आत्मस्वभाव, उसमें नमन करने से ही धर्म का प्रारंभ होता है। "पहले प्रारंभमें पश्चात् पंडित मरण के समय और अंतमें केवलज्ञान की प्राप्ति के समय इन तीनों (जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट) भूमिकाओं तक समयसार में नमन करता रहूं" इसप्रकार आचार्यदेवने अप्रतिहत भाव का मांगलिक लिया है। वह कैसे? शरीरादिक परवस्तु है कुछ भी करने का भाव सो सब संयोगी-क्षणिक भाव है। मेरा स्वभाव ध्रुव अविनाशी है इसीमें नमन किया करूं—ऐसी भावना रखी है। श्री आनंदघनजीने कहा है कि—

"वीरजिनेश्वर चरणे लागूं वीर पणूं ते मागूं रे।"
(वीर जिनेश्वर चरणन लागूं वीरपना वह मांगूं रे)

वीर अर्थात् आत्माका वीर्य स्वभाव। पुण्य पाप अथवा रागद्वेप आत्मा का स्वभाव नहीं है। आत्माके वीर्य का ऐसा स्वभाव नहीं है कि रागद्वेप को अपना माने। रागद्वेप अथवा कर्म को अपना मानना सो अज्ञान वीर्य का काम है। अज्ञान भाव से 'पर मेरे हैं' यह मानना है; स्वरूप में राग-द्वेप के क्षणिक भावों को ग्रहण करना आत्मवीर्य का स्वभाव नहीं है।

"वीरपणा वह मांगूं रे" मेरा शुद्ध आत्मबल मात्र शुद्ध स्वभाव के अतिरिक्त किसी पर के ऊपर न जाय ऐसा वीरपन चाहता हूं। पुण्य पाप के भाव को ग्रहण

करना सो अज्ञान वीर्य अर्थात् मिथ्या मोह का कार्य है। अनादि से अज्ञान वीर्य के कारण स्वभाव पर से विजित होजाता था किंतु अब स्वभाव के बल से मिथ्या मोह को जीतकर वीरता प्रगट करना है, वह वीरता कहां है ? यह कहते हैं।

"वीरपणूं ते आतमस्थाने जाण्यूं तुमची वाणे रे"

ध्रुव अकेला ज्ञान का रसकंद ही स्वभाव है अपने ज्ञान और शक्ति के अनुसार जो अपने ध्रुव स्वभाव तक पहुंचादे उस ध्रुव स्वभाव को जानना और उसमें स्थिर होना सो धर्म है।

यहां कहा है कि— "नमःसमयसाराय" अर्थात् आत्मा अकेला ज्ञानस्वरूप ध्रुव अविनाशी है उसपर लक्ष्य गये विना रागादि दूर नहीं होते, इसीलिये अपने आत्म-स्वभाव में नमता हूं। नमन करके स्वभाव में ढलता हूं। यहांपर आचार्यदेवने साधक दशासे ऐसा प्रारंभ किया है कि पूर्णता प्राप्त किये विना नहीं रहेगा। मैं विकार की ओर नहीं नमता अर्थात् विकारी पर्याय का आदर नहीं करता। 'नमः' में साधक पर्याय है, और 'समयसाराय' में शुद्ध स्वभावकी ओर परिणमन करने का भाव है।

कम ज्ञान के कारण जितना बहिर्मुख लक्ष्य जाता है उतना रागद्वेष हुये विना नहीं रहता। इसलिये यहां पर आचार्यदेवने 'मैं विकारी पर्याय का नाश करता हूं' इस प्रकार नास्ति से बातको प्रारंभ न करके 'शुद्ध स्वभाव की ओर ढलता हूं' यों अस्ति से बातका प्रारंभ किया है। इसमें श्रद्धा से लेकर केवलज्ञान दशा तक की बात है। श्रद्धा का विषय वस्तु है और वस्तु के शुद्ध स्वभावकी ओर के परिणमन का भाव पर्याय है।

इस पहले कलश में आचार्यदेव कहते हैं कि मैं अपने शुद्ध स्वभाव का ही अंतरंग से आदर करता हूं निर्मल स्वभाव का आदर करने से निर्मल पर्याय प्रगट होती है। स्वरूप को स्थिर रखकर निर्मल परिणति का प्रगट होना यह दोनों को लक्ष्यमें लिया गया है। निर्मल पर्याय की उत्पत्ति में रागादि का व्यय सहज आजाता है।

धर्म तो आत्मा का स्वभाव है। स्वभाव से बाहर का झुकाव अधर्म है। स्वयं अंतरंग की वस्तु है जितनी बाहर की वस्तु है उसमें मेरा परिणमन है ही नहीं। मैं अकेला शुद्ध सहज स्वाभाविक वस्तु हूं, ऐसे समय-सार में बंध मोक्ष की अपेक्षा भी लेने योग्य नहीं है। मैं ऐसे स्वभाव की ओर ढलता हूं।

मंगल का यह पहला ही कलश है। उसमें आचार्य की भावना है कि आत्मा सहजस्वरूप अविनाशी वस्तु है उसमें व्रत दया आदि के समस्त भाव विकार हैं वह विकार भाव की ओर परिणमन नहीं करना चाहता किंतु ध्रुव स्वभाव की ओर ही ढलता हूं, इसमें अप्रतिहत भाव की बात कही गई है, वापिस होने की बात ही नहीं है।

यहां आचार्य देव कहते हैं कि शुद्ध आत्मस्वरूप में झुके सो झुके अब शुद्ध परिणति को लिये बिना हम वापिस नहीं होंगे। 'नमः समयसाराय'—शुद्ध स्वरूप में ही मन वचन से झुकता हूँ, वाणी में भी दूसरे का आदर नहीं है।

इस समयसार में झुकने वाला ही पंचपरमेष्ठी–अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय अथवा साधु होता है। नम-स्कार मंत्र के प्रथम पद में कहा है कि "णमो अरिहंताण" अर्थात् जिसने रागद्वेष को दूर किया है उसे नमस्कार हो ओ। अर्थात् अब मैं रागद्वेष की ओर नहीं झुकूंगा। मैं रागद्वेष रहित स्वभाव में ही झुकता हूँ। इस पंच नम-स्कार पद का समस्त स्वरूप 'नमः समयसाराय' में कह दिया है। कहने वाले स्वयं आचार्यपद में स्थित हैं और अल्पकाल में सिद्धपद को प्राप्त करने वाले हैं।

नमस्कार कब कहलाता है? अरहंतको नमन करने वाला अपने रागद्वेष रहित यथार्थ स्वभावको माने तो उसने अरिहंतको नमस्कार किया है। जो अरिहंत का नमन करता है सो अरहंत होता है और सिद्धको नमन करता है सो सिद्ध होता है।

इसमें मात्र परिणमन स्वभावकी ही बात है। समय अर्थात् अपने ज्ञानरूपमें ही होना, उसने रागरूप होने का स्वभाव नहीं है, मैं रागरूप नहीं होता मैं पूर्ण स्वरूप के ही आदर में रहूँ उसमें कोई विघ्न नहीं है।

अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु इन पांच पदों में से साधु, अरिहंत और सिद्ध यह तीन पद प्रत्येक मुक्त होने वाले जीवको–होते ही हैं, किंतु आचार्य और उपाध्याय पद किसी के होते हैं और किसी के नहीं होते। जो समयसारकी ओर नमता है उसे सिद्ध पद अवश्य मिलता है, जो आत्मस्वरूप में नमता है उसे कर्म बाधक नहीं हो सकते कोई कर्म, कोई काल अथवा कोई क्षेत्र आत्मा के लिये बाधक नहीं है।

जो अरहंत अथवा सिद्ध होजाते हैं वे फिर " नमः समयसाराय " नहीं कहते, क्योंकि वे पूर्ण होगये हैं। आचार्यदेव कहते हैं कि मैं शुद्ध आत्मामें ही नमता हूँ। पुण्य या पापकी वृत्ति में मैं नहीं नमता। अवस्था में राग होने पर भी कहा है कि मैं उस रूपमें नहीं परिणमता, उस तरफ नहीं नमता। परिणमन करता हुआ भी परिणमन नहीं करता यों नमः समयसाराय में कहा है।

अरिहंत अथवा सिद्ध अन्य किसीको नमस्कार नहीं करते क्योंकि वे पूर्ण हैं तथा अज्ञानी परम पदको नमस्कार नहीं कर सकता क्योंकि वह अरहंत अथवा सिद्ध के स्वरूपको नहीं जानता और अरहंत अथवा सिद्ध का स्वरूप जाने विना नमस्कार किसे करे, इसलिये नमस्कार क्रिया तो आचार्य, उपाध्याय, साधु और सम्यग्दृष्टि के ही होती है।

वंद्यवंदक भाव का भेद रागमिश्रित है साधकदशामें नमस्कार का विकल्प उठता है फिर भी मैं उसरूप परिणमन नहीं करता। यहां विकल्प है तथापि मैं उस रूप नहीं होता, ऐसे स्वभाव के बल से विकल्प का जो व्यवहार है उसे मात्र जानता हूँ, उसकी ओर आदर नहीं करता, मात्र शुद्ध स्वभावकी ओर ही झुकता हूँ। बीचमें जो रागादिक आते हैं उनका आदर नहीं करता, इसलिये कहा है कि मैं उस रूप परिणमन ही नहीं करता।

एक के नमस्कार के यथार्थ भाव में अनंत समा जाते हैं। एक से अनंत पृथक् नहीं है और अनंत से एक भिन्न नहीं है, क्योंकि स्वरूप में भिन्नता नहीं है अर्थात् सबका स्वरूप समान ही है।

आत्मा अकेला ज्ञाता दृष्टा है उसकी अवस्था में रागद्वेष होता है तो उसका आदर नहीं होता, वहां तो पूर्ण स्वरूप के ही आदर करने का भाव है, मात्र ज्ञाता स्वरूप की ओर ही परिणमन का होना मेरा सत्व है और यही मेरा जीवन है, ऐसे प्रबल भावों के बीच यदि रागादि आजाते हैं तो उन्हें अपना नहीं मानता।

श्री जयधवला में पंडितमरण का अधिकार है उसमें भी यही बात है। मृत्यु के समय भी स्वभाव की ओर का आंतरिक झुकाव नहीं छूटता। जीवन में शुद्ध स्वरूप की ओर का झुकाव मरण के समय भी शुद्ध परिणति में परिणमन और देह के छूट जाने पर भी जहां जाय वहां 'नमः समयसाराय'—शुद्ध स्वरूप में ही परिणमन होता है। स्वरूप की अंतर्दशा में स्वभाव की ओर ही झुकाव है, वह झुकाव केवलज्ञान प्राप्त हुये विना नहीं छूटता। इस समयसार के नमन में और जगत् के लौकिक नमन में अंतर है। कहा भी है कि:—

नमन नमन में फेर है बहुत नमै नादान।
दगाबाज दूना नमै चीता चोर कमान॥

नमन नमन में अंतर होता है। चीता हिरणको मारने के लिये नमता है, चोर किसी के घरमें घुस जाने के लिये नमता है और कमान अधिक बलपूर्वक (तीरको छोड़कर) घाव करने के लिये नमती है। जिस के भीतर छल होता है वह बाहर दूना नमता है किंतु यह सब नमन क्षणिक हैं, पराधीन होने के लिये हैं, अशांति और पर पदार्थों के प्राप्त करने के भाव के लिये है किंतु यह नमन अविनाशी है, स्वाधीनता और शांति के लिये है।

आचार्यदेव कहते हैं कि "हम रागद्वेष और शरीर के संयोग को संकुचित करते हैं तथा अंतर्स्वरूप में नमन करते हैं। अंतर्मुख होने का फल अंतर में आता है। जितनी वृत्ति बाहर जाती है उस ओर आदर नहीं है। समस्त संसार और संसार की ओर का जो झुकाव है, उससे हम संकोच करते हैं। बाह्य पर पदार्थों के झुकाव से संकोच करके चिदानंद ध्रुव स्वभावी समयसार में समा जाना चाहते हैं। हमें बाह्य संयोग अथवा शरीरादि स्वप्नमें भी नहीं चाहिये। अनंत कालसे बाह्य भाव किये हैं, अब उस ओर कोई आदर नहीं रहा। पूर्ण होने से पूर्व जो शुभाशुभ होता है उस ओर भी अब कोई आदर नहीं है। बाहर से हम अब संकोच करते जा रहे हैं और अब हमारा परिणमन भीतर की ओर हो रहा है वह बाहर से मालूम नहीं होता। अंतर्स्वरूप के झुकाव से केवलज्ञान तक वह सब आत्मा में समा जाता है, उसका फल बाहर दिखाई नहीं देता, उसे कोई रोक नहीं सकता हमारे नमन में केवलज्ञानको प्राप्ति वापिस नहीं हो सकती" इस प्रकार आचार्यदेवने 'नमः समयसाराय' में मात्र अप्रतिहत भाव का वर्णन किया है।

'नमः समयसाराय' में 'समयसार' शुद्ध द्रव्य और 'नमः' पर्याय है। समयसार ऐसा शुद्ध त्रिकाल ध्रुव है कि जो शुद्ध-परमार्थ दृष्टि और नम- पर्याय को

बतलाता है। इस प्रकार नमः समयसाराय कहने पर स्वभाव त्रिकाल सिद्ध हुआ और शुद्ध पर्याय नई प्रगट होती है यह भी बता दिया। श्री आनंदघन जी महाराज ने कहा है:—

धर्म जिनेश्वर गाऊं रंगशुं
भंग म पडशो प्रीत हो......जिनेश्वर।
बीजो मन मंदिर आणुं नहीं
अे अम कुलवट रीत हो......जिनेश्वर।

इसमें भी मात्र शुद्ध स्वभाव की ओर नमन करने की ही बात कही गई हैं। भंग पडने की कोई बात नहीं है। आचार्य देव कहते हैं कि द्रव्यतः और भावतः स्वभाव को ही नमन करता हूँ। वाणी के द्वारा भी आत्म स्वभाव को ही स्थापित करता हूं। शुद्ध आत्म स्वभाव त्रिकाल भी है और शुद्ध पर्याय क्षणिक भी है। एकांत ध्रुव अथवा एकांत बदलने वाला—क्षणभंगुर नहीं है ध्रुव स्वभाव जो अविनाशी शक्ति के रूप में आनंदघन मौजूद है उसी की पर्याय प्रगट होकर आयगी उस अवस्था को रोकने के लिये विश्व में कोई समर्थ नहीं है वह अवस्था बाहर से कहीं से नहीं आती।

'नमः समयसाराय' में ही सब आगया है किंतु इतने से ही कोई न समझे और कहे कि आत्मा के कोई क्रिया होती है या नहीं? वीतराग भगवान क्रिया को मानते हैं या नहीं? उसके लिये कहा है कि 'स्वानुभूत्या चकासते' पहले सामान्य को लिया और उसके बाद अब विशेष को लेते हैं।

आत्मा के स्वरूप का अनुसरण करके अंतर क्रिया उत्पन्न होती है। शरीर, मन ओर वाणी की क्रिया तो नहीं, किंतु बाह्य आचरण पर लक्ष्य जाने का जो शुभभाव है उससे भी प्रगट नहीं होता; किंतु 'स्वानुभूत्या चकासते' अर्थात् अपने से ही प्रकाशित होता है। अपनी अनुमति (पर्याय) रूप क्रिया से प्रकाशित होता है। अपने निर्मल वेदन में दयादि के भाव के वेदन का आधार नहीं है। अंतर्स्वभाव की एकाग्रता के द्वारा ही प्रगट होता है, दूसरे से नहीं। यहां पर अस्ति से ही बात ली है। अस्ति कहने पर पर से नास्ति समझ लेना चाहिये।

'है भीतर' इस पर बल लगा और बाह्य झुकाव के भाव को शिथिल कर तथा अंतर स्वभाव पर बल को डाल, जो भीतर है उस पर जोर लगा तो निर्मलता प्रगट हो जायगी। अंतरदृष्टि, अंतर झुकाव और अंतर एकाग्रता के बिना मुक्ति नहीं हो सकती, दूसरे सब परिभ्रमण के मार्ग हैं।

अब कोई पूछता है कि जो भीतर था वही प्रगट हुआ है अथवा कोई नया बाहर से आया है उसके लिये कहते हैं कि 'चित्स्वभावाय भावाय' 'चित्' अर्थात् ज्ञान मात्र ज्ञान स्वभाव से है, उसके बल से ही निर्मलता प्रगट होती है इसमें कोई दूसरा बाहर का नहीं आया। जानना ही स्वरूप है, उसमें पर का करने इत्यादि का स्वभाव नहीं है, ज्ञान ही अपना स्वभाव है, उसका पहले विश्वास किये बिना फल नहीं प्रगट होता।

'चित्स्वभावाय' अर्थात् ज्ञान ही स्वभाव है और 'भावाय' के कहने पर—त्रिकाल है। इस प्रकार आंतरिक स्वभाव का विश्वास ही ज्ञान की (आत्मा की) क्रिया है। खाने पीने की क्रिया आत्मा की नहीं है। खाने पीने में सुख माना है किंतु वह कभी देखा नहीं है फिर भी विश्वास कर रखा है। विनाशी का विश्वास है वह अज्ञान की क्रिया है। और अंतर स्वभावका विश्वास ज्ञान की क्रिया है।

गर्मियों में लू चल रही हो, सख्त गर्मी पड़ रही हो, उस समय यदि कहीं से ठंडी हवा आजाय तो संतोष की सांस लीजाती है, इसका क्या कारण है। बात यह है कि पहले लू के ऊपर लक्ष्य था तब शरीर के राग के कारण उस लू पर द्वेष था और ठडी हवा पर लक्ष्य गया तब वहां शरीर पर राग है, इसलिये वह संतोष की सांस लेता है क्योंकि ठंडी हवा को उसने सुख का कारण माना है, उसमें सुख की कल्पना की है किंतु भाई! वह संतोष परमें नहीं तुझमें ही है अपने सुख स्वरूप को भूलकर पर में सुख की कल्पना करना सो तेरा अज्ञान है। तुझे अपनी महिमा का ज्ञान नहीं है—अपना विश्वास नहीं है।

अहाहा! क्या वस्तु स्वरूप है किंतु अज्ञानी को अपने ज्ञान स्वभाव की महिमा ज्ञात नहीं है। मेरा ज्ञान स्वभाव ही मेरी शांति का सत्ता स्थान है यही मेरा सत्ता धाम है ऐसा विश्वास नहीं है। प्रभु! तेरे ज्ञान स्वभाव के अतिरिक्त खेत जंगल अथवा बंगले में तेरा सत्ता स्थान नहीं है। स्वाध्याय मंदिर में बैठ जाने से भी शांति नहीं हो सकती। शांति स्वाध्याय मंदिर में है या तेरे भीतर है? प्रभु! तू चित्स्वभावी है, तेरे आत्म

धाम में ही तेरी शांति है, तेरा समाधि मरण किसी बाह्य क्षेत्र से नहीं आयगा किंतु तेरे ज्ञान स्वभाव से ही आयगा, तू ज्ञान स्वभावी वस्तु है।

ज्ञान स्वरूप कैसा है ? यह बतलाते हैं।

'सर्वभावांतरच्छिदे' मात्र ज्ञान स्वरूप में सर्व पर को—तीनकाल और तीनलोक को—एक समय में पूर्णतया जानने का स्वभाव है। जानने में राग नहीं है, विकार नहीं है, निमित्त नहीं है, ऐसा ज्ञान स्वभाव है।

"ऐसे ज्ञान स्वभाव को मैं झुककर नमस्कार करता हूं। यह नमन पूर्ण होने तक रहता है। पूर्णदशा प्रगट होने पर उसमें वृद्धि की कोई बात नहीं रह जाती, वह ज्यों की त्यों बनी रहती है।" इस प्रकार आचार्य देवने समयसार में झुककर नमस्कार किया है और समयसार के शुद्ध स्वरूप का वर्णन करके अपने शुद्ध आत्मा को ही इष्ट देव मानकर मांगलिक के रूपमें उसे ही नमस्कार किया है।

दया दान इत्यादि का वास्तविक स्वरूप

श्री रामजीभाई माणेकचंद दोशी

> करुणाभाव राग भाव है, शुभभाव है, विकार है, इसलिये विकार के करते करते अविकारीपन प्रगट हो जाय यह कदापि नहीं बन सकता।

सुखचंद—'स्ववश' और 'परवश' के सबंध में (आत्मधर्म वर्ष १ अंक ८ पृष्ट ११७ में) विवेचन किया गया था, उससे मैं यह समझा हूं कि 'स्ववश' का अर्थ आत्मा के वश में होता है अर्थात् आत्मा के शुद्ध स्वभाव के वश में होता है, और जो राग के वश में होता है वह 'परवश' है। अब इस संबंध में और अन्य विषय पर चर्चा की जाय तो कैसा हो।

ज्ञानचंद—बहुत अच्छा। मैं भी इसके लिये तैयार हूं।

सुखचंद—मैं अभी एक सभा में गया था, वहां एक भाई ने अपने भाषण में कहा कि—"गरीबों को दान देना धर्मानुष्ठान है।" इस संबंध में आपका क्या मत है ?

ज्ञानचंद—इसमें आपको शंका क्यों हुई ?

सुखचंद—मैंने इस संबंध में विचार किया है कि इस जीव ने अनादि काल में कभी करुणा भाव से दान न दिया हो यह कैसे हो सकता है और यदि तब धर्म नहीं हुआ तो अब कैसे होगा ? इस प्रकार विचार करने पर बहुत मनोमंथन हुआ और कोई निर्णय नहीं हुआ तब आपसे यह प्रश्न पूछा है।

ज्ञानचंद—दान देते समय यदि शुभपरिणाम होता है तो पुण्य होता है, धर्म नहीं होता।

सुखचंद—आप इसे पुण्य कहते हैं इसका क्या कारण है ?

ज्ञानचंद—देखिये, सम्यग्दर्शन के बिना इस जीव ने अनंतवार महाव्रतों का पालन किया, उनमें अतीचारों को नहीं आने दिया, फिर भी धर्म नहीं हुआ किंतु पुण्य हुआ, जिसका फल देवगति की प्राप्ति हुई। आपने यह सब सुना है कि नहीं।

सुखचंद—हां मैंने यह सुना है तो क्या आप यह कहना चाहते हैं कि पुण्य धर्म नहीं है।

ज्ञानचंद—लोग पुण्य को धर्म कहते हैं और मानते हैं, इसलिये उसे 'लौकिक धर्म' कहना हो तो भले कहो किन्तु वह सत्यधर्म नहीं है।

सुखचंद—भले वह सत्यधर्म न हो किंतु वह धर्मानुष्ठान तो है ही ?

ज्ञानचंद—भाई, वह धर्मानुष्ठान है या नहीं, इसपर हम ओर आप विचार करें। 'धर्मानुष्ठान' शब्दतीन पद से बना है जो निम्न प्रकार है:-

धर्म+अनु+स्थान=धर्म के अनुसार आत्मा में स्थित रहना सो धर्मानुष्ठान है। अब आपको फौरन ध्यान में आ जायगा कि यदि उस भाव से धर्मका अंश भी होता हो तो आज जीव में शुद्धता के अनेक अंश प्रगट रूप में दिखाई देना चाहिये अथवा संपूर्ण पवित्रता दिखाई देना चाहिये। जिसके धर्म का एक अंश प्रगट हो जाता है उसके क्रम क्रम से संपूर्ण धर्म प्रगट हुये बिना नहीं रह सकता और यदि दान से धर्म होता हो तो गरीब धर्म नहीं कर सकें, क्यों कि उनके पास रुपया पैसा नहीं है और ऐसा होने पर धर्म पैसेवालों के लिये ही हो जायगा; किंतु ऐसा नहीं होता क्यों कि धन तो परवस्तु है, परवस्तु के द्वारा आत्मा का धर्म हो ही नहीं सकता।

सुखचंद—यदि गरीब पैसा नहीं दे सकता तो न सही, किन्तु जो दूसरे लोग द्रव्य दान करते है उनका अनुमोदन तो कर सकता है और इस प्रकार गरीब के भी धर्म हो सकता है। करना, कराना और अनुमोदन करना इन तीनों भावों का एकसा लाभ माना गया है। इसलिये

गरीब इस प्रकार से धर्म कर सकता है।

ज्ञानचंद—इसका अर्थ तो यह हुआ कि पर के आधार से धर्म होता है। अर्थात् पैसे के द्वारा (जो वस्तु जीव से पर है उसके आधार से) धनाढय के धर्म होता है और गरीब उसका अनुमोदन करें अर्थात् धनाढय पैसे के आधार से जो धर्म करते हैं गरीब उसका अनुमोदन करें तो धर्म हो जायगा। यदि ऐसा सिद्धांत हो तो धर्म जड़—परवस्तु के आधीन होगा किंतु धर्म तो आत्मा का निज स्वभाव है। अपना स्वभाव तो अपने में ही होता है, इसलिये अपना शुद्ध स्वभाव ही धर्म कहलाता है। यदि जीव अपने स्वभाव को ठीक ठीक समझले तो वह धर्म प्रगट कर सकता है उसके विना कदापि धर्म नहीं हो सकता।

सुखचंद—ठीक है, धर्म आत्मा का स्वभाव है यह भी सच है। वे व्याख्यानदाता भी धर्म की ऐसी ही व्याख्या कर रहे थे किंतु वे यह भी कह रहे थे कि हम दान देते हैं सेवा करते हैं तो वह पुण्य है और वह धर्म का प्रेरित करता है, इसलिये सत् अनुष्ठान कहलाता है—सहायक कहलाता है। इस संबंध में आपका क्या मत है?

ज्ञानचंद—यदि वह भाव धर्म को प्रेरित करता हो तो धर्म का अनंतवां भाग भी उससे प्रगट होना चाहिये और यदि उससे अनंतवां भाग भी प्रगट होता हो तो हम जैसे जैसे दान सेवा इत्यादिक अधिकाधिक करेंगे वैसे ही वह दान सेवा इत्यादि धर्म का प्रेरित करते रहेंगे और धर्म बढ़ता चला जायगा, किंतु ऐसा तो कहीं होता नहीं है। अनेके ऐसे आदमी होते हैं कि जो अपना नाम प्रगट किये विना गरीबों को दान देते रहते हैं, सेवा करते हैं, दया का पालन करते हैं फिर भी उन्हें आत्मस्वरूप की कोई खबर नहीं होती। इस प्रकार पुण्यभाव उनके लिये न तो धर्म का प्रेरक होता है और न सहायक ही, तब फिर दूसरों के लिये तो कैसे हो सकता है।

सुखचंद—इसका क्या कारण है?

ज्ञानचंद—करुणाभाव रागभाव है, शुभभाव है वह विकार है। विकार करते-करते अविकारीपन प्रगट हो जाय, ऐसा कदापि नहीं हो सकता। हां, विकारों को दूर करते करते अविकारीपन प्रगट होता है।

सुखचंद—आपने जो कहा है वह मैं समझ गया हूं। पापको दूर करके पुण्य करना पाप की अपेक्षा अच्छा है। क्यों कि उसमें मंदकषाय है; किंतु वह आत्मधर्म की अपेक्षा से ठीक नहीं है; क्यों कि वह मंदकषाय भी विकार है और विकार कभी भी अविकार को प्रेरित नहीं करता, अथवा उसमे वह सहायक नहीं होता। यदि आप इस प्रकार कहना चाहते हैं तो मैं उसे स्वीकार करता हूँ।

ज्ञानचंद—ठीक है, पुण्य धर्म नहीं है यह कह कर पुण्य का स्वरूप समझाया गया है। इसका अर्थ यह नहीं है कि जो शुद्ध स्वभावको समझता तो है किंतु एकदम उसे अमल में नहीं ला सकता, उसे पुण्य छोड़कर पाप करना चाहिये। किन्तु उस का अर्थ तो यह है कि पाप कदापि नहीं करना चाहिये। जहां तक वीतराग नहीं हो जाता वहां तक मुमुक्षु जीव के जो राग है, वह सच्चे देव, सच्चे शास्त्र और सच्चे गुरुकी ओर तथा करुणा भावकी ओर झुके विना नहीं रहेगा। तथापि वह जीव रागको 'धर्म' कदापि नहीं मानेगा उसे वह 'धर्म' नहीं मानता इसलिये वह शुभभावको दूर करके शुद्धमें जाने का प्रयत्न करेगा और क्रमशः पूर्ण शुद्धता प्रगट करेगा। अब कहिये कि जो जीव यथार्थ स्वरूपको समझ लेगा वह लोभको कम करेगा या नहीं?

सुखचंद—अवश्य वह लोभ को कम करेगा। उसके लोभको कम करने का भाव अवश्य होगा; जिसके परिणाम स्वरूप दान हुये विना नहीं रहेगा। हां, उसके ऐसा अभिमान नहीं होगा कि मैं दूसरोंको दान दे रहा हूं। जितने अंशमें अपने में सुधार होगा उतने अंशमें स्वयं निजको दान दिया ऐसा वह मानेगा। क्यों यह ठीक है न?

ज्ञानचंद—हां, यह ठीक है—किंतु मात्र इतना ही नहीं है। जीव के यथार्थ स्वरूप को समझने वाला यह मानता है कि—जो पैसा है वह मेरा नहीं है, वह जड़ है, मैं उसका स्वामी नहीं हूं, वह मैं न तो किसी को दे सकता हूं और न किसी से ले सकता हूं, किंतु उसपर मेरी जो आसक्ति है उसे दूर करना ही चाहिये और आसक्ति दूर होने पर पैसा जिस जगह जाना चाहिये वहां अपने कारण से गये विना नहीं रहेगा। यदि मैं ऐसा मानूं कि मैंने जड़ का दान किया है तो मैं जड़ का स्वामी हुआ; किंतु वास्तव में यह बात नहीं है। मैंने तो अपने लाभ के लिये अपना लोभ कम किया है, उसका मेरे—अपने ऊपर उपकार है। और अभी जो लोभ शेष रह जाता है वह मेरे लिये हानि कारक है इसलिये उसे दूर करूं तो ही मुझे पूरा लाभ हो।

सुखचंद—आपकी बात मुझे न्याय पूर्ण मालूम होती है और भाषण कर्ता का अभिप्राय ठीक नहीं है, ऐसा मुझे विश्वास हो गया है। वे व्याख्याता और भी बहुत कुछ कह रहे थे। उस संबंध में भी चर्चा करना आवश्यक है किंतु वह जब दूसरी बार मिलेंगे तब होगी।

ज्ञानचंद—बहुत अच्छा।

(दोनों मित्र पृथक् होते हैं)

(२)

(दोनों मित्र पुनः मिलते हैं)

सुखचंद—वे भाषण कर्ता कह रहे थे कि "गरीब भले ही दान न कर सके तो क्या होगया? धर्म के दूसरे अनेक अंग हैं। जैसे–दया, गुरुसेवा इत्यादि। वह इन्हें तो कर सकता है यह सब धर्मानुष्ठान है। यदि ऐसा न माना जाय तो जगतमें दया, दान इत्यादि अनुष्ठान रहेंगे ही नहीं।" अब हम यहां पर दया के संबंधमें कुछ विचार करें।

ज्ञानचंद—भाषण कर्ताने जो कहा था वैसा ही आपका मत है, यह मानकर यदि हम आगे चर्चा चलायें तो कैसा हो?

सुखचंद—नहीं, ऐसा नहीं है। मेरे वह विचार नहीं है। मैं तो अभी निर्णय करना चाहता हूं इसीलिये आप से पूछा है। भाषण कर्ता ने जो कुछ कहा था मैं तो उसका भाव समझने के लिये आप के पास आया हूं।

ज्ञानचंद—जैसा कि आप कह रहे हैं वैसे विचार उन भाषण कर्ता के अतिरिक्त कुछ अन्य लोगों के भी हैं, इसलिये उन विचारोंकी परीक्षा करना आवश्यक है।

निश्चय और व्यवहार=मोक्ष और संसार

卐

१—जीव का त्रैकालिक चैतन्य ध्रुव स्वभाव निश्चय है और वर्तमान प्रवर्तित पर्याय व्यवहार है।

२—व्यवहारको वर्तमान पर्याय मात्र तक वह जैसा है वैसा न जाने सो अेकांत है।

३—व्यवहारको आदरणीय मानना सो एकान्त है और मात्र उसे जानना सो अनेकान्त है।

४—निश्चय और व्यवहार दोनों जैसे हैं उन्हें वैसा ही जानकर निश्चय को ग्रहण करना--उसका आश्रय करना सो अनेकान्त है। निश्चयाधीन शुद्ध अवस्था प्रगट होती है।

५—परवस्तु से मुझे हानि लाभ होता है, तथा वह परवस्तु और मैं एक हूं, यह मानना सो एकान्त है।

६—निश्चय और व्यवहार दोनों ज्ञातव्य हैं, किन्तु इनमें से आदरणीय मात्र निश्चय ही है।

७—निश्चय का आश्रय है मोक्षमार्ग और व्यवहार का आदर है संसार मार्ग।

सुखचंद—तब आप ही बताइये कि दया धर्मका अंग है कि नहीं?

ज्ञानचंद—दया के स्वरूप का विचार करने से पूर्व मैं यह जानना चाहता हूं कि 'दया' शब्द से आप का अभिप्राय क्या है? उसकी थोडी व्याख्या कीजिये।

सुखचंद—दया शब्द सुप्रसिद्ध है उसक व्याख्याकी आवश्यकता ही क्या है। आबालवृद्ध सभी जानते हैं कि जीवकी हिंसा नहीं करना सो दया है।

ज्ञानचंद—ठीक है, किंतु यह व्याख्या अपूर्ण है। आपने यह तो स्पष्ट किया ही नहीं कि अपने जीव की हिंसा न करना दया है अथवा पर जीवकी। इसे कुछ स्पष्ट कीजिये।

सुखचंद—अपने जीवकी हिंसा भला, कैसे होती होगी? पर जीवको नहीं मारना सो दया है, इस प्रकार का अर्थ लोकमें प्रचलित है। क्या आप कोई दूसरा ही अर्थ करना चाहते हैं?

ज्ञानचंद—मैं क्या अर्थ करना चाहता हूं यह तो यहां प्रश्न नहीं है। प्रश्न तो यह है कि भाषण कर्ता दया का क्या अर्थ कर रहे थे?

सुखचंद—भाषण कर्ता यह कहना चाहते थे कि दूसरे जीवको नहीं मारना सो दया है, इसलिये मैं उस का अर्थ अधिक स्पष्ट करने के लिये आप के पास उपस्थित हुआ हूं।

ज्ञानचंद—तब क्या जीवने पहले जो अनंतबार महाव्रत पालन किये थे तब जीव हिंसा की थी?

सुखचंद—ऐसा कैसे कहा जा सकता है। निरतिचार महाव्रतों के पालन करने पर ही जीव नवमें ग्रैवेयक में देवगति में जाता है और (आत्मा की पहिचान न हो तो) वह पुनः संसार चक्र में परिभ्रमण करता

रहता है, ऐसा सुना है। इसलिये पहले जीव ने अनंतबार वैसी दया पालन की है, यह तो मानना ही चाहिये।

ज्ञानचंद—यदि ऐसा है तो जब उस समय धर्म नहीं हुआ तब आज कैसे होगा ?

सुखचंद—भले धर्म न हो किंतु धर्म का अनुष्ठान तो होगा ही ? और उसे सद्व्यवहार तो कहना ही होगा ? वह परमार्थ को तो प्रेरित करेगा न ?

ज्ञानचंद—पर जीव को नहीं मारने का विकल्प होना सो रागभाव है या वीतराग भाव है ?

सुखचंद—यह विकल्प तो वीतराग के नहीं होता। अरे ! वीतराग को तो क्या किंतु अप्रमत्त साधु के भी ऐसा विकल्प नहीं उठता कि इस जीव को बचाऊं तो ठीक। इसलिये यह कहना ही होगा कि जो विकल्प उठता है सो रागभाव है।

ज्ञानचंद—तब यह बताइये कि जो रागभाव है वह वीतरागभाव को प्रेरित कर सकता है ? यदि अल्पराग वीतराग भाव को प्रेरित करता है तो विशेष राग अधिक वीतराग भाव को प्रेरित करेगा यह कहना होगा। राग भाव वीतराग भाव को प्रेरित नहीं करता इसलिये वह सद् अनुष्ठान या सद् व्यवहार नहीं है।

सुखचंद—किन्तु जैसा आपने ऊपर कहा है उस प्रकार यदि दया को धर्म मे नहीं मानेंगे तो फिर लोग दया का पालन क्यों करेंगे ?

ज्ञानचंद—जो यथार्थ को समझ लेगा उसे हानि होगी यह मानना योग्य नहीं है ! असत्य से लोगों को अथवा समाज को लाभ होता है यह मानने वाले वैसा कह सकते हैं। जबतक पूर्ण वीतरागता नहीं हो जाती तबतक जीव के कषाय चक्र में पुण्यभाव आये बिना कैसे रहेगा ? सम्यग्दृष्टि के पुण्य की इच्छा न हो फिर भी बहुत उच्च पुण्य का बंध होता है, मिथ्यादृष्टि के वैसा पुण्य नहीं होता। अज्ञानी जीव अनादि काल से पुण्य पाप करता चला आता है और जबतक नहीं समझता तबतक उन्हें अज्ञान पूर्वक करता रहेगा तथा पुण्य को धर्म मानेगा। यह नियम है कि प्रत्येक जीव को जो ठीक लगता है वह अपनी वैसी ही धारणा बनालेता है, यही प्रत्येक जीवकी स्वतंत्रता को सिद्ध करता है। असत् प्ररूपणा क्यों कि जाय ? सत् प्ररूपणा से किसी जीव को हानि हो ही नहीं सकती। प्रत्युत सुधार ही होता है।

सुखचंद—विकारी जीवों के पुण्य पापका चक्र चलता ही रहता है यह आपने जो कहा है वह ठीक समझ मे नहीं आता, इसलिये कुछ अधिक स्पष्ट कीजिये।

ज्ञानचंद—विकार आत्मा का स्वभाव नहीं है किंतु दोष है विकार का स्वरूप ऐसा है कि वह कम बढ़ होता रहता है किन्तु एकसा नहीं रहता। जैसे किसी को बुखार आया हो तो वह कभी ९९ डिग्री होजाता है और कभी १०२ डिग्री होजाता है किंतु जब बुखार उतर जाता है तब ९८॥ डिग्री (*Normal*) एकसा रहता है, इसप्रकार विकार भी एकसा नहीं रहता इस सिद्धांत के अनुसार जीव को अपने भावानुसार भिन्न भिन्न गतियां प्राप्त होती हैं ! जब अत्यंत क्रूरता करता है तो नारकी होता है और अधिक पुण्यभाव करता है तो स्वर्ग में देव होता है, माया करने से तिर्यंच होता है और पुण्य पाप के मध्यम परिणाम करने से मनुष्य होता है। इसप्रकार पुण्य पापका चक्र चलता रहता है और विकार भी परिवर्तित होते रहते हैं। एवं शुभाशुभ कषायचक्र अज्ञानी के चलता ही रहता है।

सुखचंद—तब क्या जीव को अनादि काल से पुण्य पाप करता ही आता है ?

ज्ञानचंद—है तो बात ऐसी ही। यदि निगोद में जीव पुण्यभाव न करे तो वह त्रस कैसे हो ? वह अपने शुभभाव से ही होता है। निगोद मे न तो श्रवणेन्द्रिय है और न कोई उपदेशक है, वहां न किसी जीवका दया का पालन होता है और न दान ही होता है, फिर भी वह त्रस हुआ और मनुष्य हुआ। यह सब शुभभाव उसने स्वयं किये इसलिये उसे यह गति प्राप्त हुई।

सुखचंद—तब शुभभाव राग है, बंध का कारण है, धर्म का अनुष्ठान नहीं। धर्मको वह प्रेरित नहीं करता, वह सद्व्यवहार नहीं है, मैं यह समझ सका हूं किंतु शुभभाव तो ज्ञानी जीव भी करते हैं सो क्यों ?

ज्ञानचंद—यह प्रश्न बहुत अच्छा है। यदि आप स्वयं ही इस पर विचार करेंगे तो ठीक होगा और जब हम पुनः मिलेंगे तब इस प्रश्न पर विचार करेंगे, किंतु पहले यह विचार करेंगे कि दया का वास्तविक अर्थ क्या है ?

(दोनों मित्र अलग होते हैं)

(३)

(दोनों मित्र फिर मिलते हैं)

सुखचंद—आप दया किसे कहते हैं उसका क्या स्वरूप है ?

ज्ञानचंद—दया के दो विभाग हैं स्वदया और परदया ।

सुखचंद—भला, यह स्वदया क्या है ? क्या अपनी भी दया होती है ?

ज्ञानचंद—अपनी हिंसा और अहिंसा दोनों हो सकती हैं अपनी अहिंसा को अपनी दया भी कहा जा सकता है । जीव अनादि से अपनी शुद्धता की हिंसा कर रहा है, उसे दूर करना सो अपनी अहिंसा अथवा अपनी दया है ।

सुखचंद—क्या ऐसा अर्थ और भी कहीं किया गया है ?

ज्ञानचंद—हां, श्री मद् राजचंद्र जी ने कहा है कि—

(१) क्षण क्षण भयंकर भाव मरणे कां अहो ! राची रहो।
'भाव निद्रा टालो'
क्षण क्षण भयंकर भाव मरण कहां अरे तू रच रहा ।
'भाव निद्रा टाल'

(२) श्री समयसार की स्तुति में प्रथम पंक्ति में कहा है कि:—
'संसारी जीव के भाव मरण को टालने के लिये करुणाकी—सरिता वहाई'

(३) हिंदी आत्मधर्म वर्ष १ अंक ४ पान ४८ में "अहिंसा के स्वरूप" इस लेख में भी कहा है ।

सुखचंद—ठीक है, किंतु पर दया का अर्थ क्या है ?

ज्ञानचंद—दूसरे जीव को मार नहीं डालने का अथवा दुःख न देने का जो अपना शुभभाव है सो पर दया है।

सुखचंद— स्वदया का स्वरूप क्या है ?

ज्ञानचंद— स्वदया, स्वरूपदया और निश्चयदया का स्वरूप निम्न प्रकार हैं:—

स्वदया:— यह आत्मा अनादि काल से मिथ्यात्व से ग्रसित है, तत्त्व को प्राप्त नहीं कर पाता, जिनाज्ञा को पालन नहीं कर सकता, इस प्रकार चिंतवन करके धर्म में प्रवेश करना सो स्वदया है।

स्वरूपदया:—सूक्ष्म विवेकसे स्वरूप का विचार करना सो स्वरूपदया है।

निश्चयदया—शुद्ध-साध्य उपयोग में एकताभाव और अभेद उपयोग का होना सो निश्चय दया है।

निश्चयधर्म:— अपने स्वरूप के भ्रम को दूर करना, आत्मा को आत्म भाव से पहचानना, यह संसार मेरा नहीं है मैं इससे भिन्न परम असंग सिद्ध समान शुद्ध आत्मा हूं इसप्रकार आत्मस्वभावमें वर्तमान करना सो निश्चय धर्म है। मोक्षमाला पाठ ९

सुखचंद—इस संबंधमें मैं विचार करूंगा और आवश्यकता होगी तो आप से पूछूंगा। इस समय तो आप यह बताइये कि सम्यग्ज्ञानी शुभभाव (दया, दान इत्यादि) कैसे करता है ?

हितकारी ५ सिद्धांत

१—जैनदर्शन अनेकांत स्वरूप है, वह प्रत्येक वस्तु को अनेकांत स्वरूप बतलाता है अर्थात् प्रत्येक द्रव्य स्व से अस्तिरूप और पर से नास्ति रूप है यह अनेकांत ही वस्तु स्वरूप को समझने का उपाय है और इसी से जैन दर्शन की महत्ता है ।

२—एक द्रव्य (तत्त्व) दूसरे द्रव्य का तीनलोक और तीन काल में किंचित् मात्र भी कुछ नहीं कर सकता, यह निश्चय करके सत् शास्त्रों का अर्थ समझना चाहिये ।

३—प्रत्येक तत्त्व स्वतंत्र है, स्वयं निज से अस्तिरूप है और पर से नास्तिरूप है इसलिये कोई द्रव्य एक दूसरे का कोई भी कार्य करने में समर्थ नहीं है ।

४—प्रत्येक द्रव्य भिन्न भिन्न है इसलिये प्रत्येक द्रव्य के गुण और उसकी पर्यायें भी त्रिकाल भिन्न भिन्न हैं और वे उस द्रव्य के आधार से होती हैं । किसी द्रव्य के गुण पर्याय दूसरे द्रव्य के आधार से नहीं होते ।

५—जीव स्वयं अन्य अनंत पर पदार्थों से भिन्न है, इसलिये कोई पर पदार्थ जीव को हानि लाभ नहीं पहुंचा सकता । अर्थात् यदि जीव सम्यग्ज्ञान का पुरुषार्थ करे तो उसे कोई रोक नहीं सकता क्योंकि वह स्वयं सर्व पर वस्तुओं से भिन्न है । इसलिये वह अपना पुरुषार्थ स्वयं स्वाधीनता से कर सकता है ।

जगत् के सब द्रव्य स्व से अस्तिरूप और पर से नास्तिरूप—ऐसा अनेकांत स्वरूप हैं । इस अनेकांत के द्वारा वस्तु स्वरूप की स्वतंत्रता और पूर्णता को मानकर यदि सत् शास्त्रों के प्रत्येक कथन का अर्थ किया जाय तो ही उसका वास्तविक रहस्य ज्ञात हो सकता है। इसलिये किसी भी सत् शास्त्र को पढते समय उपरोक्त पांच सिद्धांतों को ध्यान में रखना चाहिये ।

ज्ञानचंद—आत्मा एक परिपूर्ण चैतन्य द्रव्य है और इसलिये स्वयं अपने स्वभावमें परिपूर्ण है, इस प्रकार सम्यग्ज्ञानी जीव मानता है और वह अपने ध्रुव स्वभावमें स्थिर होने के लिये वारंवार प्रयत्न–पुरुषार्थ किया करता है। अपने स्वरूपमें स्थिर रहने का पुरुषार्थ करते हुये जब स्वरूपमें स्थिर नहीं हो सकता तब अशुभभाव दूर होते हैं किंतु शुभभाव रहते हैं उनका स्वामित्व इसके नहीं है, वह तो उस राग का ज्ञाता है यदि प्रकारांतर से कहा जाय तो ज्ञानीकी दशा निम्न प्रकार है:—

(१) दृष्टिकी अपेक्षा से वह अपने को परिपूर्ण मानता है।

(२) ज्ञानकी अपेक्षा से अपने त्रैकालिक शुद्ध स्वभावको अपने में होनेवाली शुद्धता को और अवशिष्ट अशुद्धताको जानता है अर्थात् वह उसका ज्ञाता है।

(३) चारित्रकी अपेक्षा से अपने में अवशिष्ट अशुद्ध भावको (शुभाशुभ भावको) विष तुल्य मानता है और उसीको दूर करने के लिये पुरुषार्थ होता है।

इस प्रकार जब शुद्धता में नहीं टिका जा सकता तब उसके शुभभाव होता है और उस शुभभाव के अनुकूल बाह्य पदार्थों का प्रसंग–संयोग रहता है। जगत् के जीव मुख्यतया बहिर्दृष्टि हैं और अपने को तथा ज्ञानी को बाह्य संयोग से समान अथवा अधिक देखकर ज्ञानी का भाव अपने जैसा ही है, ऐसी कल्पना करते हैं। इसलिये जिस प्रकार लोग मानते हैं वैसी दया, दान ज्ञानी जन करते होंगे, इस प्रकार बहिर्दृष्टि मानते हैं। किंतु ज्ञानी जन तो अपने में होनेवाली कषाय को अकषाय स्वरूपकी दृष्टि के द्वारा दूर करना चाहते हैं और वह क्रमशः होती है इसलिये बीचमें शुभभाव आ जाता है किंतु ज्ञानीजन उस शुभभाव को कदापि धर्म नहीं मानते। उसे धर्म में प्रेरक आदरणीय अथवा सहायक नहीं मानते. जिसे 'प्रेरक' 'भला' आदरणीय अथवा सहायक मानलिया उसे त्याज्य कैसे माना जा सकता है इस प्रकार ज्ञानियों और जगत् के अन्य लोगों की मान्यता में बडा अंतर है। जगत के उन जीवों की मान्यता संपूर्ण विपरीत है। मान्यतामें आमूल अंतर है।

सुखचंद—यथार्थ श्रद्धा होने के बाद चारित्र वैसा ही होना चाहिये सो क्यों नहीं होता?

ज्ञानचंद—यथार्थ श्रद्धा और सच्चा ज्ञान एक ही साथ होता है, किंतु चारित्रमें क्रम हुये बिना नहीं रहता। मेरे एक मित्र बारंबार यही तर्क किया करते हैं। इसलिये यह नियम समझाने के लिये उन्हे जो उदाहरण देता हूं वे इस प्रकार हैं:—

१—हमने यह निश्चय किया कि हमें अपने भाई के यहां जाना है वहां जाने में हमें लाभ है किंतु उस निश्चय के साथ तत्काल ही भाई के घर नहीं जा सकते, नहीं पहुंच सकते. यदि हवाई जहाज में जाय तो भी उसी समय नहीं पहुंच सकते। कार्य करने के निश्चय और कार्य पूर्ण करने की बीच अंतर होता ही है।

२—हम विपरीत मार्ग पर चल रहे हैं, यह ज्ञात होने पर वहां से आगे बढने से रूक जाते हैं। और फिर वहां से मुंह फेर कर पुराने मार्ग पर चलने लगते हैं। उस पुराने मार्ग के पूर्ण हो चुकने पर नवीन मार्ग पर चलते हैं, और तब उसके अन्त में स्वस्थान पर पहुंच जाते हैं। (यह दृष्टांत है)

सुखचंद—यह तो आपने परवस्तु का दृष्टान्त दिया है। अपना दृष्टान्त क्यों नहीं दिया?

ज्ञानचंद—परवस्तु जो परिज्ञात होती है उसी का दृष्टान्त दिया जाता है। वह सर्वांशतः सिद्धान्त पर लागू नहीं होता; किन्तु उस पर से सिद्धान्त को पकडलेना चाहिये। आत्मा को दृष्टांत नहीं बनाया जा सकता, क्योंकि वह तो अनुभव का विषय है। जिसे आत्मा का अनुभव नहीं होता उसी के लिये दृष्टान्त की आवश्यकता होती है। जो समझ चुका है उसे दृष्टान्त की क्या आवश्यकता है? जो समझना चाहता है उसी के लिये दृष्टान्त की जरूरत होती है। और यदि उसे परिचित वस्तु का दृष्टान्त दिया जाय तभी वह समझता है।

सुखचन्द–किसी भी जीव के श्रद्धा और चारित्र समान होते है?

ज्ञानचन्द–हां, केवली भगवान के और सिद्ध भगवान के समान होते हैं; छद्मस्थ के नहीं हो सकते।

सुखचन्द–इसका क्या कारण है?

ज्ञानचन्द–सम्यग्ज्ञानी के आंशिक राग दूर हुआ है और आंशिक विद्यमान है, उसे दूर करने का वह प्रयत्न करता है। वह यह जानता है कि मैं सरागी अवस्था में हूं। इस लिये जब तक राग होता है तब तक चारित्र पूर्ण नहीं होता।

यहां यह ध्यान में रखना चाहिये किवह न तो किसी को यह प्ररूपित करता है और न मानता ही है कि 'स्वयं सराग है इसलिये राग के कृत्य करना चाहिये—यह अपना धर्म है।' यदि ऐसी प्ररूपणा की जायगी तो कहना होगा कि सराग अवस्था में राग आदरणीय है। और ऐसी मान्यता सच्चे ज्ञानी के हो नहीं सकती।

मतिज्ञानमें केवलज्ञान प्रत्यक्ष है या परोक्ष ?

★ ★

(महान शास्त्र श्री जयधवला शीर्षकसे दो लेख गुजराती आत्मधर्ममें दिये गये हैं, उनमें श्री जयधवला के ४४ पृष्ठों में से कुल ३३ पहरे दिये गये हैं। उनमें से २०, २१, २२ तथा ३३ वे पहरे में गंभीर आशय निहित है उस पर पूज्य श्री कानजी स्वामीने जो विवेचन किया है वह अत्यंत आवश्यक होने से यहां दिया जाता है—सं.)——卐

जीवका स्वरूप केवलज्ञान है, वह केवलज्ञान समस्त प्रकार के आवरणों का नाश होनेपर प्रगट होता है तथा उस केवलज्ञान पर जितने अंशमें आवरण आता है उसके अनुसार कर्म को मतिज्ञानावरण श्रुतज्ञानावरण इत्यादि भेद करके नाम दिये जाते हैं और उस समय केवलज्ञान का जितना अंश प्रगट रहता है अर्थात् जितने भागपर आवरण नहीं है उसभाग के क्षयोपशमानुसार मतिज्ञान, श्रुतज्ञान इत्यादि नाम रख दिये जाते हैं। केवलज्ञान कभी भी संपूर्णतया आवृत नहीं होता क्योंकि यदिज्ञान संपूर्णतया आवृत होजाय तो ज्ञान का अभाव होजाय और ऐसा होने से जीव को जड़त्व का प्रसंग आजाय किंतु ऐसा होना अशक्य है। अर्थात् केवलज्ञान का अमुकभाग (अंश) तो जीव की चाहे जिस अवस्था के समय भी खुला होता ही है।

मुमुक्षुओं के प्रति गुरुवर्य का प्रश्न है कि— "केवलज्ञान प्रत्यक्ष है या परोक्ष" ?

मुमुक्षुओं का उत्तर—केवलज्ञान का विषय प्रत्यक्ष है।

गुरुदेव—केवलज्ञान के विषय के संबंधमें नहीं पूछा है किन्तु यह पूछा गया है कि मतिज्ञान में केवलज्ञान प्रत्यक्ष है या परोक्ष ? श्री जयधवला में इस संबंध में जो कुछ कहा गया है उसे सुनिये—

मतिज्ञानमें केवलज्ञान प्रत्यक्ष है, इसका विशेष स्पष्टीकरण इस प्रकार है:—

(१) केवलज्ञान पुर्ण स्वरूप है अर्थात् अंशी (संपुर्ण वस्तु) है और मतिज्ञान अधूराज्ञान अर्थात् केवलज्ञान का अंश (भाग) है। जिसका एक अंश प्रत्यक्ष है वह अंशी भी प्रत्यक्ष ही है। एक अंश प्रत्यक्ष हो और अंशी प्रत्यक्ष न हो यह नहीं हो सकता। इसप्रकार मतिज्ञान केवलज्ञान का अंश होने से "अंश प्रत्यक्ष है वहां अंशी भी प्रत्यक्ष ही है" इस न्याय के अनुसार मतिज्ञान में केवलज्ञान प्रत्यक्ष ही है।

(२) अंशी और अंश अर्थात् वस्तु और वस्तु का भाग दोनों प्रथक् नहीं किन्तु अभिन्न हैं, इसलिये एक के प्रत्यक्ष होने से दोनों का प्रत्यक्ष होना सिद्ध होता है। अंशनाम भी अंशीकी अपेक्षा से है।

(३) अब इसे दृष्टांत से सिद्ध करते हैं:—जैसे किसी खंभे को देखकर लोग कहते हैं कि सारा स्तंभ दिखाई दे रहा है, इसप्रकार कहने का व्यवहार जगप्रसिद्ध है। वहां (स्तंभ को देखने में) यद्यपि इंद्रिय का स्थूल विषय है तथापि उसमें अंश देखकर भी सारी वस्तु को देखना स्वीकार करता है किन्तु यह केवलज्ञान तो अतीन्द्रिय है और उसका अंश मतिज्ञान प्रत्यक्ष है इसलिये मतिज्ञान में केवलज्ञान भी प्रत्यक्ष ही है (लोगों को पर वस्तु में व्यवहार की बराबर खबर होजाती है किन्तु अपनी वस्तु में भरोसा नहीं बैठता। वह अपनी सामर्थ्य को स्वीकार ही नहीं करता, इसलिये उसकी दृष्टि बाह्य में परके ऊपर जाती है)।

आंख के विषयमें वस्तु का एक भाग दिखाई देने पर कहता है कि मैंने सारी वस्तुको देख लिया तब स्वकी अपेक्षा से अपनी पर्याय का जो अंश स्पष्ट हुआ है वह 'संपुर्ण द्रव्य प्रत्यक्ष है' यह स्वयं न कहे तो फिर कौन कहेगा ? समोशरणमें जाकर भगवान के शरीर का बाह्य भाग ही देखता है किन्तु बाहर आकर कहता है कि "मैंने भगवान के प्रत्यक्ष दर्शन किये हैं" यहां पर (आंख के विषयमें) प्रत्यक्ष मानता है उसी प्रकार स्वमें निश्चय का अंश स्पष्ट होगया है उसमें सारी वस्तु प्रत्यक्ष ही है। संपूर्ण ज्ञान के आश्रय से जो ज्ञान का अंश प्रगट हुआ है उस ज्ञान का अंश यदि समस्त को प्रत्यक्ष न करे तो कौन करेगा ?

एक प्रश्नः—जब केवलज्ञान प्रत्यक्ष है तब केवलज्ञान का विषय भी प्रत्यक्ष होना चाहिये ?

उत्तरः—हां, केवलज्ञान का विषय भी प्रत्यक्ष है। तीनकाल और तीनलोकको जानने की जो परिभाषा है वह तो लोगोंकी बाह्य दृष्टि है और वे बाह्य माहात्म्य को देखते हैं इसलिये कहा है किन्तु यहां केवलज्ञान का विषय इस प्रकार प्रगट है कि जगत्‌के छहों द्रव्यों के

(छह द्रव्योंमें स्वयं भी आजाता है) स्वरूपको जैसा है वैसा यथार्थ जानता है कोई द्रव्य के स्वरूप से अज्ञान नहीं है इसलिये जगत् के समस्त द्रव्यों के स्वरूप को जानता है अतः केवलज्ञान का विषय भी प्रत्यक्ष है (यहां जिस मतिज्ञानको केवल के अंश के रूपमें लिया गया है वह सम्यक् मतिज्ञान है) एक पुद्गल परमाणु का यथार्थ स्वरूप जाना तो जगतमें जितने पुद्गल हैं उन सब का स्वरूप भी उसी प्रकार जान लिया गया है. उसी प्रकार समस्त जीवों का स्वरूप समान ही है यह भी ज्ञात होगया है. इसलिये केवलज्ञान का विषय प्रत्यक्ष ही है।

मतिज्ञानमें केवलज्ञान प्रत्यक्ष है । मतिज्ञानमें केवलज्ञानको प्रत्यक्ष जाने बिना यह कहां से ले आये कि 'यह मतिज्ञान केवलज्ञान का अंश है ?' केवलज्ञान को जाने बिना यह कैसे निश्चय कर लिया कि यह 'केवलज्ञान का अंश है ?' केवलज्ञानको जाने बिना यह निश्चित नहीं हो सकता. इसलिये जहां अंश-अवयव (मतिज्ञान) प्रत्यक्ष है वहां अंशी-अवयवी (केवलज्ञान) प्रत्यक्ष ही है ।

लोग भी वस्तु का अंश मात्र देखकर यह कहते हैं कि हमने सारी वस्तु को प्रत्यक्ष देख लिया। जैसे कोई बंदरगाह पर विशाल समुद्र को उछलता हुआ देखता है. पूर्णिमा की रात्रिमें समुद्र में उछलती हुई विशाल तरंगों को देखता है तब यदि कोई दूसरा आदमी उससे पूछता है कि भाई कितना समुद्र देखा तब वह तत्काल कह देता है कि मैंने तो अपनी आंखों से सारा समुद्र देखा है। फिर प्रश्न कर्ता पूछता है कि समुद्र में बड़े मगर-मच्छ इत्यादि तमाम जलचर जीव भी देखे होंगे ? तब वह कहता है कि "मुझे तो ऐसा विकल्प भी नहीं होता था. सारा समुद्र आंखों से देखा इसमें शंका ही नहीं उठी। समस्त और अंश के बीच का भेद ही नहीं है"। इसप्रकार अंश के देखने पर भी समस्त को देखा है इसमें शंका नहीं करता वहां वह निःशकता कहां से आई ? इसीप्रकार चैतन्य आत्मा समस्त अनंत गुणों से व्याप्त है उसका जहां एक अंश प्रत्यक्ष देखा वहां पूर्ण वस्तु की शंका ही नहीं होती। पर के देखने में समस्त और अल्प का भेद नहीं करता तो स्व द्रव्य में सारी वस्तु का एक अंश प्रगट होने पर परिपूर्ण और अंश का भेद कौन जानता है। अखंड परिपूर्ण ही है उसमें शंका कैसी। तीनलोक का नाथ चैतन्य घन आनंद का सागर हूं उसकी प्रतीति हुई तब उसमें यह भेद ही कहां रहता है कि अंश प्रगट हुआ है या समस्त वस्तु ? अवस्था के द्वारा एक ही सामान्य का लक्ष्य है।

अहाहा ! जयधवला ! जयधवला ! ! ! गजब कर दिया। जहां हस्तमें आया और यह विषय दृष्टिगोचर हुआ वहां ऐसा लगा कि कम वस्तु देखी है यह बात ही कहां है ? पूर्ण का ही स्वीकार है। बाह्य वस्तुमें भी अंशको देखता है और समस्तको स्वीकार कर लेता है । एक लाख रुपयाकी लोन का कागज हाथ में आता है तब मात्र कागज का एक टुकड़ा ही प्रत्यक्ष में देखता है फिर भी कहता है कि "इस लोन में से एक लाख रुपया मिलेंगे। जब चाहिये तब इस लोन के एक लाख रुपयों से सरकार इनकार नहीं कर सकती" इस प्रकार रुपया लाने से पहले ही निश्चित करता है । इसी प्रकार आत्मा में भी जहां अंश प्रत्यक्ष है वहां समस्त वस्तु ही प्रत्यक्ष है उसमें अपूर्ण की ओर लक्ष्य नहीं करता, अभेद दृष्टि के ज्ञान के प्रत्यक्ष के बल से निर्मल दशा सहज होती है।

अहो ! केवली के मुख के रहस्य की पुकार इस जयधवला में की गई है. इसमें केवली की ही बात कही गई है । "हम और तुम समान हैं" कहो यह बात जचती है या नहीं ? यदि कहो कि हां तो चले आओ। ज्ञान के प्रत्यक्ष के बल से द्वैतभाव है. इसलिये परिपूर्ण वस्तुको जानता है और वर्तमान पर्यायको भी जानता है तथापि जिस दर्शन का सामान्य बल है उसमें से पुकार उठती है कि "नहीं, रे नहीं, भेद नहीं है, अवस्था के अंश में समस्त वस्तु अंतर्हित है, यदि समस्त वस्तु प्रत्यक्ष न हो तो यह कहना भी गलत सिद्ध होगा कि वस्तु का अंश प्रत्यक्ष है क्योंकि वस्तुको देखे बिना यह कैसे निश्चय किया कि यह वस्तु का अंश है, इसलिये अंशमें समस्त वस्तु प्रत्यक्ष है। हां कह और चला आ। एकबार हां तो कह ।"

तब कोई कसुंबा पीता है तब यदि दूसरा व्यक्ति यह कहे कि "आया आया" तभी उसे नशा चढ़ता है इसी प्रकार यहां स्वभावमें से बल चढ़ता है कि "मैं पूर्ण हूं, पूर्ण हूं. परिपूर्ण ही हूं" इसकी हां कहने पर पूर्णता ही प्रगट होगी, भीतर से पूर्ण स्वभावका बल बढ़े कि हां परिपूर्ण ही हूं। मेरी अवस्था हीन हो ही नहीं सकती, इस प्रकार यदि हां कहे तो चला आ सिद्ध में, और यदि ना कहे तो चला जा निगोद में ।

स्वयं ज्ञान स्वरूप ही है, त्रिकाल परिपूर्ण ज्ञानस्वरूप

ही हैं, एकवार परिपूर्ण स्वरूपकी अंतरंग से यथार्थ स्वीकृति दे तो पूर्ण ज्ञान स्वरूप अवश्य प्रगट हो जाय।

अहो! संतोने मार्ग सरल कर दिया है आत्मतत्त्व की यथार्थ प्रतीति हुये विना तू क्या करेगा? अनादि काल में आत्मतत्त्व की प्रतीति के विना पुण्य भी अनंत-वार कर चुका है किंतु भाई! जिससे जन्म मरण का अंत न हो और आत्म तत्त्वकी स्वाधीनता न खिले उसे क्या आचरण कहा जा सकता है, उससे आत्माको क्या लाभ है? वस! जिस भावसे जन्म मरण दूर हो उसे ही ला वही ला। ★

श्रीमद् राजचन्द्र के पत्र, नोट्स, जीवन परिचय और उनकी कुछ रचनाओं आदिका एक वृहत् संग्रह 'श्रीमद् राजचन्द्र' के नाम से ग्रंथ रूपमें प्रगट हुआ हैं। अनेक जिज्ञासुओं को श्रीमद् की सतश्रुत संबंधी मान्यता ज्ञात नहीं है। इसलिये यहां पर उनकी तत्संबंधी नोंध (नोट) दी जाती है।

उनके लेख अत्यन्त गहन और तत्त्वपूर्ण हैं। उनकी यह नोंध (नोट्स) भी इसी प्रकार की है, इसलिये उनका रहस्य संक्षेप में लिखना आवश्यक है। 'नोंधपोथी' [नोटवुक] के प्रारंभ

> बम्बई, सं. १९५६, कार्तिक कृ. ११
>
> ॥ ॐ ॥
>
> # सत्श्रुत
>
> | | |
> |---|---|
> | श्री पाण्डव पुराणे | प्रद्युम्न चरित्र |
> | पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय | पद्मनंदिपंचविंशति |
> | गोमट्टसार | रत्नकरण्ड श्रावकाचार |
> | आत्मानुशासन | मोक्षमार्ग प्रकाश |
> | कार्तिकेयानुप्रेक्षा | योग दृष्टि समुच्चय |
>
> इत्यादि अनेक हैं। इन्द्रिय निग्रह के अभ्यास पूर्वक यह सत्श्रुत सेवन करने योग्य हैं। यह फल अलौकिक हैं—अमृत हैं।
>
> [श्रीमद् राजचन्द्र आवृति ६ पृष्ट ३१८]

में 'सत् श्रुत' शीर्षक बड़े अक्षरों में छपा है, इससे ज्ञात होता है कि मूल प्रति में भी बड़े अक्षरों में ही लिखा होगा।

'सत्श्रुत' शब्द गहन अर्थसूचक है। जिसका प्रत्येक शब्द, पद, वाक्य और भाव परम सत्य हो वह "सत् श्रुत" है। जिनमें वीतरागकी प्ररूपणा के अनुसार तत्त्वों का सयुक्तिक निरूपण किया गया हो वे शास्त्र ही 'सत् श्रुत' हैं। और इस परिभाषा में उपरोक्त शास्त्र अन्तर्हित है, यह वात उनने निःशंक होकर वताई है।

उपरोक्त शास्त्रोंमें से प्रथम ९ दिगम्बर शास्त्र हैं, जो हिन्दी टीका सहित प्रगट हो चुके हैं। इनमें से 'मोक्षमार्ग प्रकाश' गुजराती भाषानुवाद छप चुका है, जो गुजरातकी जनता के लिये लोकप्रिय और परम उपकारक सिद्ध हुआ है।

'सत श्रुत' संबंधी उपरोक्त व्याख्या श्रीमद्ने उत्तर अवस्था में की थी यह अत्यन्त अर्थसूचक है; इतना ही नहीं किन्तु उनने नमस्कार के प्रसंग पर निम्न लिखित भक्तिपूर्ण शब्द कहे हैं:—

"हे कुन्दकुन्दादि आचार्यो! आपके वचन भी स्वरूपानुसंधान में इस पामर के लिये परम उपकार भूत सिद्ध हुये हैं। इसलिये मैं आपको अतिशय भक्ति पूर्वक नमस्कार करता हूं।"

इस स्तुति में भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्य का विशेषरूप में नाम लिया गया है। तथा 'स्वरूपानुसंधान'—'परम उपकारभूत'—'अतिशय भक्ति पूर्वक नमस्कार' और 'वचन' एवं सत्श्रुत के नाम विशेष उपयोगी होने से मनन करने योग्य हैं। मुमुक्षुओं को अपना स्वरूप समझकर स्वरूपानुसंधान करना है, इसलिये श्रीमद् के सत्गुरु और सतश्रुत संबंधी यह मर्मसूचक शब्द हृदयांकित कर लेना चाहिये।

श्री कुन्दकुन्दादि आचार्यों के वचन श्रीमद्को स्वरूपानुसंधान में परम उपकारभूत सिद्ध हुये हैं, वे वचन किन शास्त्रों में हैं तथा उनने उन शास्त्रों के संबंधमें क्या कहा है, सो यहां वताया जाता है।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य के तीन रत्नों—श्री समयसार, श्री प्रवचनसार, और श्री पंचास्तिकाय के संबंधमें उनने इस प्रकार लिखा है:—

श्री समयसार संबंधी

[सं. १९५६ अषाढ]

" ....'पद्मनन्दि,' 'गोमट्टसार,' 'आत्मानुशासन,' तथा 'समयसार मूल' इत्यादि परम शांत श्रुत का अध्ययन होता होगा। आत्मा के शुद्ध स्वरूप का स्मरण करते हैं। ॐ शांतिः।"

यहां पर उनने श्री समयसारको परम शांत श्रुत कहा है और उसका अध्ययन करने को लिखा है। बनारसीदास कृत समयसार नाटक नहीं, किन्तु भगवान कुन्दकुन्दाचार्य कृत समयसार की ओर उनका इशारा है, इसलिये 'समयसार मूल' शब्द का प्रयोग किया है।

[गुजराती आवृत्ति छठीं, पृष्ठ ३२७]

श्री प्रवचनसार संबंधी

[सं. १९५३]

संवत १९५३ में उनने लिखा था कि—

" पूर्व महात्माओंने कहा है कि:—

जे जाणइ अरिहंते, दव्व गुण पज्जवे हिंय।
सो जाणइ निय अप्पा मोहो खलुजाइय तस्सलयं॥

जो भगवान अर्हंत के स्वरूप को द्रव्य गुण पर्याय से जानता है वह आत्मस्वरूप को जानता है, उसका मोह निश्चय से नाश को प्राप्त होता है।"

उपरोक्त गाथा श्री प्रवचनसार के अध्याय १ की ८० वीं गाथा है। यद्यपि यह गाथा भगवान कुन्दकुन्दाचार्य कृत है, तथापि 'पूर्व महात्माओंने कहा है' इसप्रकार बहुवचन सूचक पद का प्रयोग करके यह बताना चाहा है कि उस कथन पर उनसे पूर्व के समस्त आचार्यों-महात्माओं की छाप है। (आवृत्ति ६ पृ. २७२)

श्री पंचास्तिकाय संबंधी

(सं. १९५३ चैत्र शु-५)

उनने सं. १९५३ की चैत्र शुक्ला पंचमी के दिन लिखा था:—

'द्रव्यानुयोग' परम गंभीर और सूक्ष्म है, निर्ग्रंथ प्रवचन का रहस्य है, शुक्ल ध्यान का अनन्य कारण है। शुक्ल ध्यान से केवलज्ञान समुत्पन्न होता है। महान भाग्य से उस द्रव्यानुयोग की प्राप्ति होती है।

दर्शन मोह का अनुभाग कम होने से, अथवा नष्ट होने से, विषय के प्रति उदासीनता से एवं महा पुरुष के चरणकमलकी उपासना के बल से द्रव्यानुयोग परिणमित होता है।

जैसे जैसे संयम बढ़ता है वैसे वैसे द्रव्यानुयोग यथार्थ परिणमित होता है। संयमकी वृद्धि का कारण सम्यग्दर्शनकी निर्मलता है, और उसका कारण भी 'द्रव्यानुयोग' होता है।

सामान्यतया द्रव्यानुयोग की योग्यताको पाना दुर्लभ है। आत्माराम परिणामी, परम वीतराग दृष्टिवंत, परम असंग महात्मा पुरुष उसके मुख्य पात्र हैं।

किसी महापुरुष के मनन के लिये पंचास्तिकाय का संक्षिप्त स्वरूप लिखा था, वह मननार्थ इसके साथ भेजा है।

'हे आर्य! द्रव्यानुयोग का फल सर्व भावों से विराम प्राप्त करने रूप संयम है। इस पुरुष के ये वचन अपने अन्तःकरण में तू कभी भी शिथिल मत करना। अधिक क्या? समाधि का रहस्य यही है। सर्व दुःखों से मुक्त होने का यही अनन्य उपाय है।'

[आवृत्ति छठी, पृष्ठ ४१८]

श्री नियमसार और अष्टपाहुड संबंधी

इसके अतिरिक्त भगवान कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा निर्मित और (सटीक) प्रकाशित हुये नियमसार एवं अष्टपाहुड है। नियमसार उनके समय के बाद हस्तगत हुआ है, इसलिये वह उनके हाथमें नहीं आया; किन्तु अष्टपाहुड उनने देखा था। उसके संबंधमें उनने लिखा है—

स्वामी वर्द्धमान जन्म तिथि (चैत्र शु. १३)

[स. १९५६ धर्मपुर]

'अष्टपाहुड के ११५ पृष्ठ संप्राप्त हुये।'

[मोरबी, अषाढ शु. ७ बुध १९५६]

"श्रीमान कुन्दकुन्दाचार्यने अष्टपाहुड (अष्टप्राभृत) की रचना की है। प्राभृत भेदः—दर्शनप्राभृत, ज्ञानप्राभृत, चारित्रप्राभृत, भावप्राभृत, इत्यादि। दर्शनप्राभृतमें जिनभाव का स्वरूप बताया है। शास्त्रकार कहते हैं कि हमने, तुमने और देवाधिदेवने भी पहले अन्यभाव [illegible] हैं, और इसीसे कार्य नहीं सरा; इसीलिये जिनभाव [illegible] भाने की आवश्यक्ता है; जो जिनभाव शान्त है, आत्मधर्म है और जिसके भाने से ही मुक्ति प्राप्त होती [illegible]।"

(आवृति छठी, पृष्ठ ५३६)

श्री कुन्दकुन्दाचार्य की दशा के संबंध में

इस संबंधमें उनने लिखा है:—

"कुन्दकुन्दाचार्यजी तो आत्म स्थिति में बहुस्थित थे।"

(आवृत्ति छठी, पृष्ठ २२८)

पुरुषार्थसिद्धयुपाय संबंधी

भगवान अमृतचन्द्राचार्य (श्री समयसार, श्री प्रवचनसार, और श्री पंचास्तिकाय के टीकाकार) द्वारा निर्मित श्रावकाचार संबंधी यह शास्त्र है। इस संबंध में वे कहते हैं:-

पुरुषार्थ सिद्धयुपाय का गुजराती भाषानुवाद करने में आज्ञा का अतिक्रम नहीं है।"

[फाल्गुन शु १ आवृत्ति छठी, पृ. ३०६]

उपरोक्त कथन से सिद्ध है कि इस शास्त्र को भी उनने 'सत् श्रुत' के रूप में स्वीकार किया है।

स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा

(मोरवी, अषाढ शु.-१९५६)

इस शास्त्र के संबंधमें उनने लिखा है:—

"स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा वैराग्य का उत्तम ग्रंथ है। इसमें द्रव्यको-वस्तुको यथावत् लक्षमें रखकर वैराग्य का निरूपण किया गया है। गतवर्ष मद्रास की ओर जाना हुआ था; स्वामी कार्तिकेय का उस भूमिमें खूब विहार हुआ है। वहां के नग्न, भव्य, उत्तुंग, अडोलवृत्ति से स्थित पहाड़ोंको देखकर स्वामी कार्तिकेयादिकी अडोल, वैराग्यमय, दिगम्बरवृत्ति याद आती थी।

उन कार्तिकेय स्वामीको नमस्कार हो।

(आवृत्ति छठी, पृष्ट ३२७)

नोट—'नग्न' और 'दिगम्बर वृत्ति' यह दो शब्द विशेष ध्यान देने योग्य हैं। उनने बताया है कि पूर्व भव का स्मरण होने से यहांपर नग्न दिगम्बर साधुओं का सत् समागम याद आ गया। स्वामी कार्तिकेय—श्री कुन्दकुन्दाचार्य विक्रम संवत से पूर्व के आचार्य हैं। पूर्व भवकी यह याद सनातन जैन मुनियों की दशा को सूचित करती है।

वृहत् द्रव्य संग्रह संबंधी

ईडर नगर में उनने निम्न लिखित गाथाओं को उपदेश बोध के रूपमें लिखते हुये बताया है कि—

मा मुज्जह मा रज्जह मा दुस्सह इट्ठणिट्ठ अत्थेसु।
थिर मिच्छहि जह चित्तं विचित्त झाणप्पसिद्धीए॥
पणतीससोलछप्पणचउदुगमेगं च जवह झाएह।
परमेट्ठिवाचयाणं अण्णं च गुरुवएसेण॥

यदि तुम ध्यान की सिद्धि के लिये अपना चित्त स्थिर करना चाहते हो तो इष्ट वस्तुओं में मोह मत करो-राग मत करो, और अप्रिय वस्तुओं में द्वेष मत करो। अनेक प्रकार के ध्यान की सिद्धि के लिये पेंतीस, सोलह, छह, पांच, चार, दो और एक अक्षर वाले परमेष्ठिपद वाचक मंत्रों का ध्यान करो। और विशेष स्वरूप गुरु के उपदेश से जानना चाहिये।

जं किंचिवि चिंतंतो णिरीहवित्ती हवे जदा साहू।
लध्धूणय एयत्तं तदाहु तं तस्स णिच्छयं झाणं॥

अर्थ:—जब साधु एकाग्रता को प्राप्त होकर जो कुछ भी चिंतवन करता हुआ इच्छा रहित होता है उस समय ही उस साधुका वह निश्चय ध्यान होता है।

(आवृत्ति छठी, पृष्ट ३१७)

देवागम स्तोत्र संबंधी

"देवागम स्तोत्र महात्मा समन्त भद्राचार्यने (जिनके नामका शब्दार्थ कल्याण जिन्हे मान्य है, होता है बनाया है,...उस स्तोत्र में प्रथम निम्न लिखित श्लोक हैं:—

देवागम नभोयान चामरादि विभूतयः।
मायाविष्वपि दृश्यन्ते, नातस्त्वमसिनो महान्॥

इस श्लोक का भावार्थ यह है कि—देवों का आगमन—आना जाना, आकाशमें गमन होना, चमर छत्रादि विभूतियों का होना, इत्यादि तो मायावियों-इन्द्रजालियों में भी देखनेको मिलते हैं; इसलिये हे भगवन् आप इतने मात्र से हमारे लिये महान नहीं हो सकते। तीर्थंकरत्व देवत्व के लिये यह बाह्य वैभव व्यर्थ है।

इस प्रकार समन्त भद्राचार्यने मानो गुफामें से निकलते हुये तीर्थंकर का हाथ पकड़ कर—उन्हें झकझोर कर उपरोक्त निरपेक्ष वचन कह डाले हैं; यही आशय यहां बताया गया है।"

[व्याख्यान सार अषाढ कृ. १ सं. १९५६ से, आवृत्ति छठी पृष्ठ ३३०–३३१]

इस प्रकार श्रीमद् राजचन्द्रने सद्धर्म के रूपमें वीतराग कथित धर्मको, सच्चे देव के रूपमें वीतराग सर्वज्ञ को, सच्चे गुरु के रूपमें श्री कुन्दकुन्दादि आचार्योंको और सच्चे शास्त्र के रूप में उपरोक्त शास्त्रोंको स्वीकार किया है। इसका यह अर्थ हुआ कि उन सत्शास्त्रों का कथन वीतराग प्ररूपित है; और जिनशास्त्रोंमें उन से विपरीत कथन हो वे सच्चे शास्त्र नहीं हैं। इसलिये उपरोक्त शास्त्रोंको 'सत् श्रुत' मानकर उनका अभ्यास करके जिज्ञासुओंको सत्यासत्य का निर्णय परीक्षापूर्वक करना

ATMADHARMA With the permisson of the Baroda Govt. order No. 30—24date 31-10-44 Regd. No. B. 4875

चाहिये। क्योंकि सत् शास्त्र-आगम ही सम्यग्ज्ञानमें निमित्तभूत हो सकता है, और असत् शास्त्र मिथ्यात्वपोषक होते हैं।

प्रत्येक जीव रातदिन सुख प्राप्ति के लिये प्रयत्न करता रहता है; किन्तु सच्चा उपाय नहीं जानने से उसे सुख नहीं मिलता और उसका दुःख दूर नहीं होता। इसलिये अनन्त ज्ञानी पुरुषों ने कहा है कि—

इस जीवका मुख्य कर्तव्य आगमज्ञान है। इसज्ञान के होने पर तत्त्व श्रद्धान होता है। तत्त्वश्रद्धान होने पर संयम होता है। और उस सतश्रुत सत् आगम से आत्मज्ञान की भी प्राप्ति होती है जिससे सहज मोक्ष दशा का लाभ होता है। यदि जीव सत् को भी सत् के रूपमें स्वीकार न करे, और असत् शास्त्रों को सत् मान लेतो उसे अपने अनादि कालीन अगृहीत मिथ्यात्व को इस नवीन गृहीत मिथ्यात्व से और भी पुष्टि मिलती है और इसलिये जीवको दुःख से मुक्त होना अति दुर्लभ होजाता है। इसलिये जीवों को सतश्रुत की ठीक परीक्षा करके पहचान लेना चाहिये। ★

निर्ग्रंथ साधुपद का स्वरूप

सम्यग्दर्शन से धर्म की शुरुआत होती है। इसके बिना चारित्र का सद्भाव ही नहीं। चारित्र के अभाव में साधुपद कहां? सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक जिन्हें चारित्र की प्राप्ति होती है वे साधु हजारों वार छठे सातवें गुणस्थान में जाते आते रहते हैं। सातवें अप्रमत्त गुणस्थान में मुनि शुद्धोपयोग में लीन रहते हैं, उसमें जब नहीं टिक सकते तब फिर छठे प्रमत्त गुणस्थान में आजाते हैं। वहां मुख्यतया शुभोपयोग होता है किंतु वे शुभभाव को धर्म नहीं मानते।

इन गुणस्थानों में रहने वाले मुनियों को शरीर के प्रति स्पर्शेन्द्रिय का राग नहीं रहता, इसलिये शरीर को ढकने का संकल्प उन्हें नहीं आता इसीलिये उनके वस्त्र का संयोग नहीं होता। संयम पालन के हेतु आहार पान करने मात्र तक राग उन्हें रहता है। इसलिये आवश्यकता होने पर एक समय कर पात्र में आहार ग्रहण करते हैं। यही सच्चे साधु की दशा हो सकती है। ऐसा आचार्य महाराज स्पष्ट कथन करते हैं. जो अपने को जैन के साधु कहते और कहलाते हैं और फिर वस्त्र धारण करते हैं, वे सच्चे साधु नहीं। वस्त्रधारी भी साधु होता है, ऐसी मिथ्या मान्यता का फल निगोद है। इसी आशय को उनने बताया है। (सूत्र पाहुड गाथा १८)

आत्मधर्म की प्रभावना

हिंदी आत्मधर्म पत्रका अच्छा प्रसार हो और पाठकोंको स्वाध्याय के लिये विशेष एवं विविध प्रवचन-प्रश्नोत्तर आदि मिलें-इस हेतु से आत्मधर्म पत्रमें चार पृष्ठ बढ़ाने के लिये श्री. दीपचन्दजी शेठिया-सरदार शहेर (बीकानेर) वालोंने रुपया ५००) पांचसो दिये हैं। धन्यवाद.

१६ आत्मधर्म अर्ध मूल्य में

महाराज ब्र. कुञ्जीलालजी उदासीनाश्रम इन्दौर के आहारदान के समय श्री तोतु सा किसन सा चवरे, मलकापुर ने हिन्दी आत्मधर्म १६ ग्राहकों को आधा मूल्यमें भेजने का निर्णय किया है। जिन भाइयों को आवश्यकता हो वे १॥) रु. भेजकर निम्न पते से मंगालें। —व्यवस्थापक, आत्मधर्म कार्यालय, मोटा आंकडिया—काठियावाड—

कार्तिक शुक्ला ७

जैनशासन के लिये जीवन समर्पण करनेवाले पंडित प्रवर श्री टोडरमलजी की देहांत कार्तिक शुक्ला सप्तमीके दिन हुई थी। वे महान धर्मात्मा थे। दुष्ट जीवोंके दुष्कृत्यसे सिर्फ २८ सालकी अल्प आयुमें ही उन्होंका निधन हुआ। उन्होंने मोक्षमार्ग प्रकाशक आदि ग्रंथोंकी रचना करके जैनशासन पर महान उपकार किया है। जैन जनता कार्तिक शुक्ला सप्तमी के दिन श्रद्धेय पंडित प्रवर टोडरमलजी के प्रति श्रद्धांजलि अर्पण करे।

मुद्रक : चुनीलाल माणेकचंद रवाणी, शिष्ट साहित्य मुद्रणालय, दासकुंज, मोटा आंकडिया ता. २९-१०-४६
प्रकाशक : जमनादास माणेकचंद रवाणी, आत्मधर्म कार्यालय, मोटा आंकडिया, काठियावाड

धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है।

वर्ष २
अंक ८

: संपादक :
रामजी माणेकचंद दोशी
वकील

मगसिर
२४७३

दर्शनका विषय अखंड ध्रुव आत्मा है

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का ही आश्रय सम्यग्दर्शन में नहीं है, श्रद्धा की पर्याय का आश्रय भी श्रद्धा में नहीं है। श्रद्धाकी पर्याय का आश्रय हो तो वह व्यवहार दृष्टि होगई–अज्ञान हुआ। जिसे ऐसी उमंग है कि 'व्यवहार आएगा तो अवश्य' उसे व्यवहार का अर्थात् राग का संतोष है। व्यवहार आता है उसकी उमंग होना चाहिये या खेद? खेद होना चाहिये। अज्ञानी के उमंग है और जहां उमंग है वहां राग–विकल्प है। उमंग=आश्रय, भावना। अज्ञानी को उसकी गहरी आशा है। ज्ञानी के उसकी भावना, आश्रय अथवा उमंग नहीं होती, किन्तु खेद होता है। ज्ञानी उसमें संतुष्ट नहीं होते। अज्ञानीको अखंड विषय छोड़कर पराश्रय में उमंग होती है।

ज्ञानीको राग की भावना नहीं होती, वीतरागता की भावना होती है। गुण की हानि हो ऐसी उमंग नहीं होती, जिसका व्यय होता है उसकी उमंग या आश्रय है सो अज्ञान है। दर्शन का विषय अखंड ध्रुव आत्मा है। जहां दर्शन का समस्त विषय है वहीं समस्त बीज पड़ा हुआ है। व्यवहार आये और आश्रय बदले इन दोनों में भेद है। मोक्षकी निर्मल पर्याय और अभेद दोनों के बीच का अंतर (भेद) सम्यग्दर्शन नहीं मानता। अभेद दृष्टि के होने पर निर्मल पर्याय दूर नहीं रह जाती।

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

शाश्वत सुखका मार्ग

दर्शक मासिक पत्र

एक अंक
पाँच आना

आत्मधर्म कार्यालय—मोटा आंकड़िया—काठियावाड़

आत्मधर्म
वर्ष २ : २० : मगसिर
अंक ८ : : २४७२

मुनिपद की दीक्षा लेने का क्रम

मुनिपदकी दीक्षा लेने का क्रम यह है-प्रथम तत्त्वज्ञान हो, फिर उदासीन परिणाम हो, परीषहादि सहन करनेकी शक्ति हो, मुनि होनेकी उत्कट इच्छा प्रगट हो, तभी श्री गुरु उसे धर्म अंगीकार करावे, दीक्षित करे। परंतु आजकल तो कई जगह ऐसी प्रवृत्ति देखने में आती है कि तत्त्वज्ञान रहित विषयासक्त[1] जीवको लोभ[2] व मायावश लुभा करके मुनिपद पर आसीन कर देते हैं और फिरउसकी विपरीत[3] आचरणा से शासनकी बदनामी होती है। अतः अयोग्यको दीक्षित करना अन्याय है।

---

(१) जो तत्त्वज्ञान रहित होता है वह जीव तत्त्वदृष्टि से विषयासक्त होता ही है, ऐसा नियम है।

(२) जो जीव मुनिपद लेने के योग्य नहीं हो उसे मुनिपद देनेकी प्रवृत्ति जहां होती है वहां तत्त्वदृष्टि से माया अथवा लोभ होता ही है।

(३) सच्चा मुनित्व न हो फिर भी उसमें मुनित्व मानकर मुनित्वमें मुनि जैसी प्रवृत्ति करना-कराना सो अन्यथा प्रवृत्ति है।

आत्मा को पहिचानो

हे जीवो! तुम जागो। मनुष्यत्व अत्यंत दुर्लभ है। अज्ञानमें रहकर सद्-विवेकको पाना अशक्य है। समस्त विश्व केवल दुःख से जलता रहता है और अपने अपने कर्मों से यत्रतत्र भ्रमण करते रहते हैं। ऐसे संसार से मुक्त होने के लिये हे जीवो! तुम सत्वर आत्मप्रतीति के साथ जागो! जागो!!

❀

हे जीव! हे आत्मा! अब कबतक विपरीत मान्यताको रखोगे? विपरीत मान्यता में रहकर अनादिकाल से अज्ञान के मोहजाल में फंसे हुये हो, अब तो जागो। एकबार तो विपरीत मान्यता से छूटकर अज्ञान के मोहजालको छिन्न भिन्न करके अपने मूल स्वरूपको देखो।

❀

सच्चा सुख कैसे प्रगट होता है? सच्चा सुख आत्मा में ही है। बाहर कहीं भी सच्चा सुख नहीं है। आत्मा स्वयं सुखरूप है। जब सम्यग्दर्शन के द्वारा अपने स्वरूपको भलीभांति जानता है तभी यथार्थ सुख प्राप्त होता है इसलिये सर्व प्रथम सत् पुरुष के चरणोंमें अर्पित होजाना चाहिये और रुचिपूर्वक निरंतर सत्का श्रवण-मनन करना चाहिये।

❀

प्रत्येक आत्मा दुःख से मुक्त होकर सुखको प्राप्त करने का उपाय किया करता है किन्तु अपने यथार्थ स्वरूपकी प्रतीति के बिना सच्चा उपाय करने के बदले विपरीत उपाय करता है और इसलिये अनादिकाल से अज्ञान के कारण दुःख ही दुःख भोगता है, उस दुःख से मुक्त होने के लिये तीनों काल के ज्ञानीजन एक ही उपाय कहलाते हैं कि आत्माको पहिचानो।

भगवान कुंदकुंदाचार्य को अंजलि

[भगवान कुंदकुंदाचार्य के प्रति भक्ति भाव से परिपूर्ण यह स्तवन संवत् १९९४ की ज्येष्ठ कृष्णा ८ के दिन सुवर्णपुरी-सोनगढ के स्वाध्याय मंदिर में श्री समयसारजी की प्रतिष्ठा के समय श्री कुंदकुंदाचार्य के उपकारों के स्मरणार्थ रचा गया था और पौष कृष्णा ८ के दिन कुंदकुंद भगवानने 'शासन के रक्षक' की महान पदवी (आचार्य पदवी) प्राप्त की थी। आचार्य श्री कुंदकुंद भगवान के शासन पर महानतम उपकार वर्तमान हैं। इस पौष कृष्णा ८ के शुभ प्रसंग पर उन सबकी स्मृति में 'भगवान कुंदकुंदाचार्य को अंजलि' शीर्षक गुजराती स्तवन का हिन्दी भावानुवाद तथा अर्थ यहां दिया जाता है]

लाखों बार प्रणाम

सुख शांति प्रदाता जगके त्राता कुंदकुंद महाराज;
जनभ्रांति विधाता तत्त्वज्ञाता नमन करूं मैं आज।

जड़ता का इस धरणी ऊपर रहा प्रबल अधिकार;
किया उपकार अपार प्रभु! तुम रचकर ग्रंथ उदार रे सुख १

बरसाकर निज वचन सुधारस, किया सुशीतल लोक;
समयसार का पान किया जब गया मानसिक शोक रे सुख......२

तव ग्रंथों के मनन करन सें पाऊँ अलौकिक भान;
क्षण क्षण में मैं ज्ञायक सुमरूं पाऊँ केवलज्ञान रे सुख......३

तेरा मन प्रभु! ज्ञान समता का रहा निरंतर धाम;
उपकारो की विमल याद में लाखों बार प्रणाम रे सुख......४

भावार्थ

मैं आज (ज्येष्ठ कृष्णा ८ के दिन श्री समयसारजी की प्रतिष्ठा के समय) श्री कुंदकुंद भगवान को नमस्कार करता हूँ। कैसे हैं वे कुंदकुंद भगवान! सुख और शांति के देनेवाले हैं, जगत की रक्षा करने वाले अर्थात् जगत् के जीवों को अज्ञान जनित भाव मरण से बचाने वाले हैं, अज्ञानी जीवों की विपरीत मान्यता को मिटाने वाले हैं और वस्तु स्वरूप के ज्ञाता हैं।

अब उनके उपकारों का स्मरण किया जाता है। जब पर द्रव्य के कर्तृत्व—ममत्व और अज्ञान जनित क्रिया कांडों का इस भरत क्षेत्र में खूब बोलबाला था (और यथार्थ समझ दुर्लभ होगई थी) उस समय हे कुंदप्रभु! आपने समयसारजी, नियमसारजी, प्रवचनसारजी, इत्यादि अनेक महान् शास्त्रों की रचना करके बहुत बहुत उपकार किया है। मैं आज (उपरोक्त गुणसंपन्न) कुंदकुंद भगवान को नमस्कार करता हूं ॥१॥

भाव मरण में जलते हुये जगत के जीवों को अपने अमृत रसमय अध्यात्मोपदेश वचनों के द्वारा कुंदकुंद भगवानने भलीभांति शांत किया है। आपके रचे हुये महान् ग्रंथ श्री समयसार का श्रवण-मनन करने से मन का शोक दूर हुआ है अथवा दूसरा ऐसा ही अर्थ निकलता है कि—कुंदकुंद भगवान के वचनरूपी अमृत के द्वारा शुद्धात्म स्वरूप का अनुभव करने से रागद्वेषरूप मानसिक शोक का नाश हुआ। मैं भगवान कुंदकुंदाचार्यको नमस्कार करता हूं ॥२॥

हे कुंदकुंददेव! आपके द्वारा रचे गये श्री समयसार आदि ग्रंथों का मनन--चिंतवन करने से मैं अलौकिक आत्मस्वरूपकी पहिचान कर सकुं तथा (उस पहिचान के द्वारा परिज्ञात) ज्ञायक स्वरूप का—मात्र ज्ञाता शुद्ध आत्मा को प्रत्येक क्षणमें-निरंतर स्मरण करूं-अनुभव करूं और अंतमें उस ज्ञायक स्वरूप में पूर्ण स्थिरता करके केवलज्ञान प्राप्त करूं। हे कुंदकुंद प्रभु! आपकी ऐसी महिमा है। मैं कुंदकुंद प्रभुको नमस्कार करता हूं ॥३॥

हे परम उपकारी कुंदकुंद प्रभु! तुम्हारा अंतरंग अध्यात्म ज्ञान और वैराग्य भावों से निरंतर परिपूर्ण है। तुम्हारे महान् उपकारों के पवित्र स्मरणार्थ मैं लाखों बार नमस्कार करता हूं, पुनः पुनः वंदन करता हूं, हे कुंदकुंद भगवान! मैं आपको नमस्कार करता हूं ॥४॥

करुणासागर, परमोपकारी परमपूज्य भगवान श्री कुंदकुंदाचार्य

——प्रस्तुत कर्ता श्री रामजीभाई माणेकचंद दोशी——

[जिनकी उत्कृष्ट करुणा से भरतक्षेत्रके भव्य जीव आज वीतराग वाणी का श्रवण मनन कर रहे हैं, उन श्री कुंदकुंदाचार्यदेव का संक्षिप्त जीवन चरित्र प्रगट किया जा रहा है। इस चरित्रको आत्मधर्म के पाठक उनके आचार्यपद के दिन—पौष कृष्णा ८ के प्रसंग पर मननपूर्वक पढकर आचार्यदेव के द्वारा रचे गये सतशास्त्रों (परमागमों) का निरंतर अध्ययन करके मनुष्य जन्म को सफल बनायेंगे, ऐसी आशा है]

भगवान कुंदकुंदाचार्य विक्रम संवत् के प्रारंभ में हुये हैं। जैन परंपरामें उनका सर्वोत्कृष्ट स्थान है।

मंगलं भगवान वीरो मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुंदकुंदार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलं ॥

प्रत्येक दिगम्बर जैन शास्त्राध्ययन के प्रारंभ में इस श्लोक को मंगलाचरण के रूपमें बोलता है इससे सिद्ध होता है कि सर्वज्ञ भगवान श्री महावीर स्वामी और गणधर भगवान श्री गौतम स्वामी के बाद तत्काल ही भगवान कुंदकुंदाचार्य का स्थान आता है। दिगम्बर जैन साधु अपने को कुंदकुंदाचार्य की परंपरा का कहलवाने में गौरव मानते हैं।

भगवान कुंदकुंदाचार्यदेव के शास्त्र साक्षात् गणधरदेव के वचनों के समान ही प्रमाण माने जाते हैं।

उनके गुरु और आचार्यपद

उनके गुरु जिनचंद्राचार्य थे। उनका दूसरा नाम कुमारनंदि था। वे सिद्धांत में बहुत प्रवीण थे, इसलिये उन्हें 'सिद्धांतदेव' का विरुद प्राप्त हुआ था। वे अवधिज्ञानी मुनि थे। वे महा मनोनिग्रही थे, उनके सभी शिष्य उनके सम्यग्ज्ञान और चारित्र को देखकर सदा नत रहा करते थे। उनने अपने सभी शिष्यों को वीतरागी, सैद्धांतिक ज्ञान में प्रवीण बनाया था। वे अपनी अस्खलित वाणी से समस्त जीवों को धर्मोपदेश देते थे। जब उनकी आयु ६५ वर्ष की होगई तब उनने अपना अंतकाल समीप जानकर अपने पट्ट शिष्य कुंदकुंद मुनि को स्वतः आचार्य पद पर बिठाया और स्वयं समाधिस्थ हो गये। कुंदकुंदाचार्य के इस पट्टाभिषेकका परम पवित्र दिन पौष कृष्णा ८ है।

आचार्यपदकी प्राप्ति के बादका समय

जब भगवान कुंदकुंदाचार्य आचार्यपद पर विराजमान हुये तब उनकी उम्र ४४ वर्षकी थी उनकी योग्यताको देखकर उनके गुरुने उन्हें ११ वर्षकी आयुमें उन्हें दीक्षा दी थी। जब वे आचार्य पद पर विराजित हुये तब उनका साधु जीवन ३३ वर्षका हो चुका था। वे ५१ वर्ष और १०॥ मास आचार्य पद पर रहे थे। ९५ वर्ष और १०॥ मासकी आयुमें उनका स्वर्गवास हुआथा।

उनके आचार्यत्व के नीचे अनेक शिष्यों की मंडली थी। भगवान कुंदकुंदाचार्यने आचार्य पदको अति उत्तमतया प्रशोभित किया था। वे अपने शिष्योंको भेजकर धर्मोपदेश का प्रयास सतत चालू रखते थे। उनका आचार्यपद सर्वोत्कृष्ट और अजोड़ सिद्ध हुआ।

सर्वज्ञ भगवान महावीर के निर्वाण के पश्चात् ६८३ वर्ष तक अंगों का ज्ञान अल्पाधिक रूपमें रहा था किंतु उसके बाद वह ज्ञान क्रमशः कम होने लगा, स्मरणशक्ति कम होती गई। उस समयकी जैनशासनकी स्थिति को देखकर उनने आत्मा के शुद्ध स्वरूपको बताने वाले अनेक शास्त्रोंको रचा था। उस समयकी परिस्थिति निम्नलिखित स्तुतिमें यथार्थ रीत्या वर्णन की गई है:—

"संसारी जीवनां भावमरणो टालवा करुणा करी,
सरिता वहावी सुधातणी प्रभु वीर तें संजीवनी;
शोषाती देखी सरितने करुणा भीना हृदये करी,
मुनि कुंद संजीवनी समयप्राभृत तणे भाजनभरी."

उनके रचे हुये शास्त्रों की उत्तमता

भगवान कुंदकुंदाचार्यने अपने परमागमों में तीर्थंकरदेवों के उत्तमोत्तम सिद्धांतोंको सुरक्षित रखा है और मोक्षमार्गको स्थिर रखा है। उनके बाद में होनेवाले सभी आचार्य अपने कथनकी पुष्टि के लिये उनके ग्रंथों का प्रमाण देते हैं।

कुंदकुंद भगवान का विदेह क्षेत्र गमन

[अनुष्टुप]

विक्रमशक प्रारंभे, घटना एक बनी महा;
विदेही ध्वनिना रणका, जेथी आ भरते मल्या।

विक्रम शक प्रारंभमें घटना एक घटी महा।
ध्वनि विदेहकी उस समय भरतक्षेत्र गूंजी अहा! ॥१॥

अर्थ—विक्रम संवत् के प्रारंभ में एक अद्भुत घटना घटी, जिससे कि विदेहक्षेत्र वर्ती साक्षात् तीर्थंकर भगवानकी दिव्यध्वनिमयी उपदेश का रहस्य भरतक्षेत्र वासियों को प्राप्त हुआ। उस प्रसंग का यहां वर्णन किया जाता है।—

—शार्दूलविक्रिडित—

बहु ऋद्धिधारी कुंदकुंद मुनि थया ए काळमां
जे श्रुतज्ञान प्रवीणने अध्यात्मरत योगी हता;
आचार्यने मन एकदा जिनविरह ताप थयो महा,
रे! रे! सीमंधर जिनना विरहा पडया आ भरतमां!

बहु ऋद्धिधारी कुंदकुंदमुनि हुए उस कालमें।
श्रुतज्ञानधर अध्यात्मरत ज्ञानी हुये उस कालमें॥
इक दिवस प्रभु से मिलन की इच्छा हुई उनको महा।
जिननाथ का भारी विरह मुनिनाथ से न गया सहा॥

अर्थ—उस कालमें भरतक्षेत्रमें महा ऋद्धिधारी श्री कुंदकुंदाचार्य हुये जो सर्वदा अध्यात्ममें लवलीन एवं शास्त्रज्ञान में प्रवीण थे। एकदिन श्री सीमंधर भगवान से मिलने की उन्हें उत्कट इच्छा हुई। प्रभु के दर्शन बिना वे व्याकुल हुये, बिना दर्शन के उनसे न रहा गया।

—शार्दूल विक्रीडित—

एकाएक छूटयो ध्वनि जिनतणो 'सद्धर्म वृद्धि हजो'
सीमंधर जिनना समोसरणमां ना अर्थ पाम्या जनो;
संधिहीन ध्वनि सूणी परिषदे आश्चर्य व्याप्युं महा,
थोडीवार मंही तहीं मुनि दीठा अध्यात्ममूर्ति समा.
जोडी हाथ उभा प्रभु प्रणमता, शी भक्तिमां लीनता!
नानो देह अने दिगंबरदशा, विस्मित लोको थता;
चक्री विस्मय भक्तिथी जिन पूछे हे नाथ! छे कोण आ
—छे आचार्य समर्थ ए भरतना सद्धर्मवृद्धि करा.

एकाएक हुई ध्वनि प्रथित जो आश्चर्य कारी महा।
'हो सद्धर्म समृद्धि' अर्थ समझा कोई न प्राणी वहां॥
सीमंधर जिन के समोशरण में आये मुनि सत्तम।
सोचा यों सबने कि कौन आया योगी मुनी उत्तम॥
जोडेहाथ किया प्रणाम प्रभुको थे भक्ति में लीन वे।
छोटी देह तथा दिगंबर दशा थे आत्म–आधीन वे॥
चक्रीने आश्चर्य युक्त पूछा 'हे नाथ! हैं कौन ये?'
'हैं आचार्य समर्थ ये भरत के, भक्ति भरे मौन ये'॥

अर्थ—महाविदेह क्षेत्रमें साक्षात् तीर्थंकर श्री सीमंधर भगवान विराजित हैं। इतने में ही उनके समोशरण में अचानक ध्वनि खिरी कि 'सद्धर्म वृद्धि हो।' इस आशीर्वादरूप अचानक ध्वनि खिरने का कारण समोशरण स्थित कोई जीव न जान सका, अतः सभी आश्चर्य चकित हुये। थोड़ी देर में समोशरणमें सबने देखा कि एक अध्यात्म मूर्ति मुनिराज वहां उपस्थित हुए।

मुनिवर हाथ जोड़कर भक्ति में तन्मय होकर प्रभुको नमस्कार कर रहे थे। उनके लघु किन्तु तेजोमयी शरीरको देखकर (क्योंकि विदेहक्षेत्रमें ५०० धनुष का शरीर होता है परंतु आचार्य भगवान का शरीर प्रमाण मात्र ३॥ हाथ हीं था) सभी को विस्मय हुआ। समोशरण में बैठे हुये चक्रवर्तीने भी प्रभु से पूछा कि 'हे नाथ! यह कौन हैं'? तब दिव्यध्वनि द्वारा प्रभुने उत्तर दिया कि ये भरतक्षेत्र के सत्यधर्म की वृद्धि करने वाले महान् आचार्य हैं।

सूणी ए वात जिनवरनी हर्ष जनहृदये वहे;
नानकडा मुनिकुंजरने 'एलाचार्य' जनो कहे.

सुनी यह बात जिनवर की, प्रमुदित हुये नर नारि वे
शुभनाम 'एलाचार्य' रख, उनको रहे थे पुकार वे॥

अर्थः—श्री सीमंधर स्वामी की वात सुनकर वहां के नर नारी वडे प्रसन्न हुये और उन लघु शरीरी मुनि कुंजर को 'एलाचार्य' के नाम से संबोधित करने लगे॥

—हरिगीतिका—

प्रत्यक्ष जिनवर दर्शने बहु हर्ष एलाचार्यने,
ॐकार सूणतां जिनतणो, अमृत मल्युं मुनिहृदयने;
सप्ताह एक सूणी ध्वनि, श्रुत केवली परिचय करी
शंका निवारण सहु करी मुनि भरतमां आव्या फरी

प्रत्यक्ष जिनवरदर्श से बहु हर्ष था आचार्य को।
ॐकार धुनि से नाथकी अमृत मिला मुनि हृदयको॥
सप्ताह एक ध्वनी सुनी, श्रुतकेवली गणसे मिले।
शंकानिवारण कर भरतमें आगये हर्षित खिले॥

अर्थ—श्री सीमंधर भगवान के प्रत्यक्ष दर्शनों से आचार्यदेव को महान् हर्ष हुआ। वहां उन्होंने एक सप्ताह तक भगवानकी दिव्यध्वनि का श्रवण किया, श्रुत-

केवलियों से परिचय किया, उनकी समस्त शंकाओंका निराकरण होगया। वे हर्षित हो भरतक्षेत्रमें पुनः पधार गए।

शास्त्र रचना

—वसंततिलका—

वीरनो ध्वनि गुरुपरंपर जे मळेलो,
पोते विदेह जइ दिव्य ध्वनि झीलेलो;
ते संघर्यो मुनिवरे परमागमोमां,
उपकार कुंद मुनिनो बहु आ भूमिमां.

गुरुकी परम्परासे ध्वनि वीरकी मिली जो।
जाके विदेहक्षितिमें खुदने सुनी जो॥
गूंथी सभी वह परमागमों में।
करती प्रकाश नित सज्जन के दिलोंमें॥

अर्थ—भरतक्षेत्र के अंतिम तीर्थंकर श्री महावीरकी दिव्यध्वनि का जो उपदेश गुरु परम्परा से प्राप्त हुआ तथा स्वयं विदेहक्षेत्रमें जाकर श्री सीमंधर भगवान की दिव्यध्वनि जो सुनी, उस सबका रहस्य श्री कुंदकुंदाचार्यने परमागमों में भर दिया है। इस प्रकार से श्री कुंदकुंद भगवान का इस भरतक्षेत्र पर बड़ा उपकार है।

आ क्षेत्रना चरम जिन तणा सुपुत्र,
विदेहना प्रथम जिन तणा सुभक्त;
भवमां भूलेल भवि जीव तणा सुमित्र,
वंदुं तने फरी फरी मुनि कुंदकुंद !

इस क्षेत्र के, चरम भगवान् के सुपुत्र
संसार व्याधि परिपीड़ित के सुमित्र
हे नाथ सीमंधर के सुभक्त
वंदन सदा हो, शुभ आत्म-रक्त॥

अर्थ—भरतक्षेत्र के अंतिम तीर्थंकर श्री महावीर के पुत्र स्वरूप तथा विदेह क्षेत्रवर्ती आदि जिन श्री सीमंधर स्वामी के परमभक्त तथैव संसार के अज्ञानी एवं दुःखी जनों को सन्मार्ग दिखाने वाले सच्चे मित्र हे कुंदकुंदभगवान्! आपको पुनः पुनः वंदन हो।

—अनुष्टुप—

नमुं हुं तीर्थनायकने, नमुं ॐकार नादने;
ॐकार संघर्यो जेणे, नमुं ते कुंदकुंदने.

तीर्थाधिपति को मैं नमूँ ॐकार ध्वनि को मैं नमूँ।
ॐकार के रक्षक तथा श्री कुंदमुनि को मैं नमूँ॥

अर्थ—श्री तीर्थंकर भगवान को मैं नमस्कार करता हूं, श्री ॐकार ध्वनि दिव्यध्वनि को मैं नमस्कार करता हूँ, एवं दिव्यध्वनि के रहस्य के संग्राहक श्री कुंदकुंद स्वामी को मैं नमस्कार करता हूँ।

संवत् ९९० के कालमें विद्यमान श्री देवसेनाचार्य दर्शनसार नाम के ग्रंथमें कहते हैं किः—

जइ पउमणंदिणाहो सीमंधर सामि दिव्वणाणेण।
ण विबोहइतो समणा कहं सुमग्गं पयाणंति॥

—संस्कृतछाया—

यदि पद्मनंदिनाथः सीमंधर स्वामि दिव्यज्ञानेन।
न विबोधति तर्हि श्रमणाःकथं सुमार्गं प्रजानन्ति॥

अर्थ—श्री सीमंधर भगवान के पास से प्राप्त किये गये, दिव्य ज्ञान द्वारा यदि श्री पद्मनंदिनाथ (श्री कुंदकुंदाचार्य) सत्य ज्ञानका बोध न देते तो मुनिगण सत्य मार्गको किस तरह पहचानते ?

बारहवीं शताब्दिमें होनेवाले श्री जिनसेनाचार्य श्री पंचास्तिकाय की संस्कृत टीका रचते हुये कहते हैं कि:— " अब प्रसिद्ध कथा के न्यायानुसार पूर्व विदेहमें जाकर श्री वीतराग सर्वज्ञ श्री सीमंधर भगवान की दिव्यध्वनि को सुनकर, मननकर, शुद्धात्म तत्त्वादि अर्थ ग्रहण करके विदेहक्षेत्रसे लौटकर श्री कुंदकुंद स्वामीने आत्मतत्त्वकी प्रधानता तथा बहिर्तत्त्व [कर्म पुद्गलादि] की गौणता प्रतिपादन करने के लिये अथवा शिवकुमार आदि संक्षेप रुचिवाले शिष्यों के प्रति बोधनार्थ पंचास्तिकाय प्राभृत शास्त्र रचा है।

सातवें और छठे गुणस्थानमें विराजने वाले ये दोनों मुनि थे, अतः इनका कथन संपूर्ण विश्वसनीय है। भगवान कुंदकुंदाचार्य चारण ऋद्धि के धारी थे, यह बात चंद्रगिरि और विन्ध्यगिरि के शिलालेखों से भलीभांति जानी जा सकती है।

वर्तमान पौद्गलिक विज्ञान और विमान यंत्रों के युगमें आध्यात्मिक विज्ञान और ऋद्धिधारीओंकी शक्ति से अपरिचित जीव अपने ज्ञान के गज से नापें तो उन्हें यह घटना भले समझमें न आये किंतु चारणऋद्धि जैसी असाधारण शक्तिको धारण करने वाले महात्मा विदेहक्षेत्र की दुर्गम यात्रा कर सकते हैं यह उनके लिये एक साधारण कार्य है। ऋद्धिधारियों को सुदूरवर्ती क्षेत्रोंमें तथा किसी आकाशगामी व्यक्ति के साथ जाने के लिये

मार्गकी विषमता अथवा दुर्गमता किंचित् मात्र भी बाधक नहीं होती।

भगवान कुंदकुंदाचार्यने अपने बनाये हुये शास्त्रोंमें कहीं भी अपना नाम कर्ता के रूपमें नहीं दिया। तथा अपने गुरु तथा संघका भी नाम नहीं दिया। आत्मलीन पुरुष इन बाह्य वस्तुओंको गौण करदें यह न्याय संगत है और इसीलिये भगवान कुंदकुंदाचार्यने अपनी इस विदेहगमन यात्रा का भी कहीं वर्णन नहीं किया किंतु उनने अपने बनाये हुये शास्त्रोंमें 'सर्वज्ञ वीतरागदेव कहते हैं कि' इस प्रकार लिखकर अनेक स्थलों पर अपने कथन को वीतरागदेवकी साक्षी से दृढ किया है, और श्री प्रवचनसारकी तीसरी गाथा में विदेहक्षेत्र के वर्तमान तीर्थंकर देवोंको नमस्कार किया है तथा वे श्रुतकेवली भद्रबाहु के अनुयायी (परंपरा) शिष्य हैं। यह अष्टपाहुड़ में लिखकर नमस्कार किया है। यह बात हमें लक्ष्यमें रखना चाहिये।

उनके बनाये हुये शास्त्र

भगवान कुंदकुंद के बनाये हुये अनेक शास्त्र हैं, जिनमें से वर्तमान में कुछ विद्यमान हैं। श्री सर्वज्ञदेव की दिव्यध्वनि रूप प्रवाहित श्रुतसरिता में से भरे हुये वे अमृत कलश वर्तमान में अनेक आत्मार्थियों को आत्म जीवन अर्पण कर रहे हैं। वर्तमान में उनके बनाये हुये निम्न शास्त्र उपलब्ध हैं:—

(१) समयसार (२) प्रवचनसार (३) पंचास्तिकाय (४) नियमसार (५) अष्टपाहुड़ (६) दशभक्ति आदि। ये सभी शास्त्र उत्तम हैं परंतु इनमें सर्वोत्तम समयसार है।

बनाऊँ पत्र सोने के तथा रत्नों के अक्षर हों।
तथापि कुंदसूत्रों का, न मूल्यांकन कहींपर हो॥

समयसार

समयसार यह शास्त्र जो अमृतरस सागर भरा।
डूबा इसमें जो अहो! वह भवसागर से तरा॥

श्री समयसार अलौकिक शास्त्र है। आचार्य भगवान ने जगतजीवोंपर परम करुणा करके इस शास्त्र को रचा है। इसमें मोक्षमार्ग का यथार्थ स्वरूप बताया गया है। अनंतकाल से परिभ्रमण करते हुये जीव को जो कुछ समझना शेष रह गया है, वह सब इसमें निहित है। परम कृपालु आचार्य देव इस शास्त्र को प्रारंभ करते हुये स्वयं ही कहते हैं कि "काम, भोग, बंधन की कथा तो सबने ही सुनी है, अनुभवी है, परिचय किया है, किन्तु परतत्त्व से पृथक् एकत्व की प्राप्ति ही केवल दुर्लभ है उसी एकत्वकी–पर से पृथक् शुद्धस्वरूपी आत्मा की बात मैं इस शास्त्र में कहूंगा। अपने अनुभव से, आगम से, युक्ति से, परम्परागत ज्ञान से अर्थात् अपनी पूर्ण शक्ति से कहूंगा।" इस तरह प्रतिज्ञापूर्वक आचार्य देवने आत्माका एकत्व पर द्रव्य से और परभावों से भिन्न बतलाया है। वे कहते हैं कि—"जो आत्मा को अबद्धस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष, असंयुक्त देखता है, वह समग्र जैन शासनको देखता है।" वे और भी कहते हैं कि ऐसा न देखने वाले अज्ञानी के सभी भाव अज्ञानमय हैं।

इस तरहसे अबतक जीव को अपनी शुद्धता का अनुभव नहीं होता तबतक वह मोक्षमार्गी नहीं हो सकता, भले ही वह व्रत, समिति, गुप्ति आदि व्यवहार चारित्र पाल ले और चाहे सर्व आगमों को भी पढ़ले। जिसे शुद्ध आत्मा का अनुभव होता है, वही सम्यग्दृष्टि है। रागादि के उदयमें समकिती जीव कभी भी एकाकाररूप परिणमता नहीं है। वह सर्वदा यही अनुभव करता है कि यह पुद्गल कर्मरूप राग का विपाकरूप उदय है। यह मेरा भाव नहीं, मैं तो मात्र ज्ञायकरूप हूं। यहां यह प्रश्न हो सकता है कि रागादि भावों के होते हुये भी आत्मा शुद्ध कैसे हो सकता है? इसका उत्तर इस तरह है कि जैसे स्फटिकमणि रक्तवस्त्रकी छाया पड़ने से रक्त हो जाता है, वास्तवमें वह श्वेत या निर्मल है। इसी प्रकार आत्मा रागादि कर्मोदय के कारण रागी द्वेषी दिखाई देता है, वास्तवमें शुद्ध नयसे आत्मा निर्मल ही है। पर्याय दृष्टिसे अशुद्धता होने पर भी द्रव्यदृष्टि (द्रव्यकी अपेक्षा) से शुद्धता का ज्ञान हो सकता है। ऐसा अनुभव चतुर्थ गुणस्थान से प्रारंभ हो जाता है। सम्यग्दृष्टि का दृष्टि कोण ही बदल जाता है। वह प्रत्येक कार्य करते समय शुद्ध आत्मा का ही अनुभव करता है। जैसे जिह्वा लोलुपी आदमी नमक और शाक के स्वादको भिन्न नहीं कर सकता, वह तो कहता है कि बड़ा स्वाद बना है, इसी प्रकार अज्ञानी व्यक्ति ज्ञान और रागको भिन्न भिन्न नहीं जान सकता है। जैसे अलुब्ध संयमी व्यक्ति शाक और नमक दोनों के स्वादोंको पृथक्तया अनुभव कर सकता है, उसी तरह सम्यग्दृष्टि ज्ञानको राग से पृथक् अनुभव कर सकता है। यदि कोई पूछे कि ऐसा

सम्यग्दर्शन कैसे प्राप्त हो ? तो उसका उत्तर आचार्यदेव इसप्रकार कहते हैं कि—"प्रज्ञारूपी छैनी से छेदने पर वे पृथक् प्रतिभासित होने लगते हैं। अर्थात् ज्ञान से, यथार्थ वस्तु स्वरूपकी पहचान से, अनादिकाल से रागादिरूप परिणमता हुआ आत्मा भी भिन्नरूप प्रतीत होने लगता है, इसके सिवाय अन्य कोई उपाय नहीं। अतः प्रत्येक जीवको वस्तु के यथार्थ स्वरूपको जानने की कोशिष करनी चाहिये।

यथार्थ आत्मस्वरूप की पहिचान करना ही इस शास्त्र का मुख्य उद्देश्य है। इस उद्देश्यकी पूर्त्यर्थ आचार्यश्रीने इसमें अनेक विषयों का निरूपण किया है। यथा—जीव और पुद्गल का निमित्त नैमित्तिक भाव होने पर भी दोनों का बिल्कुल स्वतंत्र परिणमन, ज्ञानी को रागद्वेषका अकर्तापन तथा अभोक्तापन; अज्ञानी को रागद्वेषका कर्ता तथा भोक्तापन; सांख्यदर्शन की एकांतिकता, गुणस्थान आरोहरण में द्रव्य भाव की निमित्त नैमित्तिकता, विकार रूप परिणमन में अज्ञानी का अपना ही दोष, पुण्यपाप का बंध स्वरूप, मिथ्यात्वादि का जड़पना एवं चैतन्यपना, मोक्षमार्ग में चरणानुयोग का स्थान इत्यादि अनेक विषय इस शास्त्र में प्ररूपित हैं।

इन सबका उद्देश्य भव्यजीवों को मोक्षमार्ग की प्राप्ति कराना है। इस शास्त्र की महत्ता अवलोकित कर उल्लास भावपूर्वक श्री जिनसेनाचार्य कहते हैं कि—"जयवंत हों वे पद्मनंदि (कुंदकुंद) आचार्य कि जिन्होंने महातत्त्व से भरा हुआ प्राभृतरूपी पर्वत को अपने बुद्धिरूपी सिर पर उठाकर भव्य जीवों को समर्पित किया है। वास्तवमें इसकालमें यह शास्त्र मुमुक्षुओं—भव्यजीवों का परम आधार है। इस दुषम काल में भी तीर्थंकर भगवानकी अमृतमयी दिव्यध्वनि का साररूप, अद्‌भुत, अनन्य शरणरूप शास्त्र विद्यमान हैं, यह हमारा सद्‌भाग्य है। निश्चय व्यवहार की संधिपूर्वक यथार्थ मोक्षमार्ग की ऐसी संकलनाबद्ध प्ररूपणा अन्य किसी शास्त्र में नहीं है। परम पूज्य सद्‌गुरुदेव के शब्दों में कहूं तो "यह समयसार शास्त्र आगमों का भी आगम है, जैन शासन का स्तंभ है, लाखों शास्त्रों का निचोड़ है। साधककी कामधेनु है, कल्पवृक्ष है, चौदह पूर्व के रहस्य से पूर्ण है।" इसकी प्रत्येक गाथा छठे सातवें गुण स्थानमें झूलनेवाले महामुनि के आत्मानुभव से निकली है। इस शास्त्र के कर्ता भगवान कुंदकुंदाचार्यदेव महाविदेहक्षेत्रमें सर्वज्ञवीतराग श्री सीमंधर भगवान के समोशरण में गये थे और वहां एक सप्ताह रहे थे। यह बात यथार्थ है, अक्षरशः सत्य है, प्रमाण सिद्ध है, उसमें शंका के लिये लेशमात्र भी स्थान नहीं है। उन परम उपकारी आचार्य भगवान द्वारा रचे गये इस समयसार में तीर्थंकर देव की निरक्षरी ॐकारध्वनि में से निकला हुआ उपदेश है।

प्रवचनसार

इस ग्रंथमें आचार्यदेव ने सर्व प्रथम पंचपरमेष्ठी को नमस्कार करके आत्मा और उसके गुणों के विकास का वर्णन किया है। सरागचारित्र कर्मबंध का कारण होनेसे हेय है और वीतराग चारित्र (विरागचारित्र) मोक्ष प्राप्ति का साधन होने से उपादेय है। आत्मस्वरूप के सन्मुख हुआ चारित्र ही वस्तुस्वरूप है, अतः वही धर्म है। आकुलता रहित आत्मा का परिणाम ही समभाव है अर्थात् राग रहित स्वरूप स्थिरता ही आत्मा का स्वभाव या आत्मा का धर्म है।

शुभोपयोग अर्थात् पंच परमेष्ठी का सविकल्प ध्यान, आत्मा का चिंतवन, व्रत, तपश्चरण का अभ्यास होना ये सब शुभ क्रियाएं हैं। इनके फल स्वरूप आत्मा देव या मनुष्य पर्यायमें नाना प्रकार के बाह्य लाभ संपत्ति आदि प्राप्त करता है, परंतु इस बाह्य लाभमें आत्मा का वास्तविक अविनाशी सुख नहीं।

शुद्धोपयोग धारण करने से समस्त दुःख और क्लेशों का स्वयं नाश होजाता है। जो जीव सिद्ध भगवान के स्वरूपको पूर्णतया जान लेता है वह अपनी आत्मा के स्वरूपको भी पूर्णतया जान लेता है, आत्मा परमात्मा भ्रम का (भेद) उसकी दृष्टि से दूर हो जाता है और इसलिये आत्मा अरहंतदशाको प्राप्त हो जाता है, तथैव समग्र कर्मों का नाशकर मुक्तिको प्राप्त करता है। आत्मा और परमात्मा के विवेक से ही सम्यग्ज्ञान का विकास होता है।

विश्वमें जितने द्रव्य हैं वे सर्व भिन्न भिन्न गुण—पर्याय सहित ज्ञेय हैं। उत्पाद व्यय ध्रौव्य युक्त होना द्रव्यका लक्षण है। इसलिये प्रत्येक वस्तु प्रतिक्षण परिणमन शील है। अर्थात् एक पर्याय का व्यय होता है, अन्य अवस्था का उत्पाद होता है, एवं द्रव्यरूप "सत्" भाव सर्वदा विद्यमान है ही।

द्रव्य दो प्रकार के हैं-चेतन एवं अचेतन। जीव चेतना स्वरूप है, अजीव जड़ स्वरूप (ज्ञानशून्य) है।

पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये पांच भेद अजीव द्रव्य के हैं। ये सब द्रव्य लोकाकाशमें रहे हुवे हैं। अलोकाकाश में मात्र एक आकाश है। काल द्रव्य बहु प्रदेशी नहीं, अन्य सर्व द्रव्य बहु प्रदेशी हैं, अतः वे अस्तिकाय कहलाते हैं।

आत्मा चैतन्य स्वरूप है। शुभ और अशुभ ये दे। प्रकार के रागसहित उपयोग अशुद्ध चेतना स्वरूप हैं, रागरहित उपयोग शुद्ध चेतना स्वरूप हैं।

अपने विकास या मलिनता का कारण आत्मा स्वयं ही है। जब राग द्वेषादि पृथक् होकर अपने स्वरूपमें एकाकार हो जाता है तभी इसका यथार्थ स्वरूप प्रगटित होता है। आत्मा स्वभाव से ही सर्व वस्तुओंका ज्ञाता है। सर्व वस्तुओं से उसका ज्ञेय-ज्ञायक संबंध ही है, स्वामीपने का या कर्तापने का कोई संबंध नहीं।

पंचास्तिकाय

इस ग्रंथ में आचार्यदेवने १७२ गाथाओं द्वारा जीव पुद्गल, धर्म, अधर्म तथा आकाश इन पांचे द्रव्यों का गुण पर्यायो के तथा "सत्" भाव के द्वारा "अस्तिरूप" सिद्ध किया है एवं बहु प्रदेशी होने से "कायरूप" बताया है। ऐसे द्रव्य पांच हैं। अतः ये पंचास्तिकाय हैं। उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य युक्त होने से यही लोक रचना के कारण हैं, यह निरूपित किया है।

इस पंचास्तिकाय द्रव्य के सदा बदलने से कालद्रव्य का अस्तित्व भी निश्चित होजाता है। वह कालद्रव्य असंख्यात है, परंतु प्रत्येक एक प्रदेशी है, इसीलिये यह अस्तिकाय नहीं है। फिर भी प्रकरणवश आवश्यकानुसार कहीं कहीं गौणरूप से उसका वर्णन किया गया है। प्रत्येक द्रव्य की सत्ता दूसरे द्रव्योंकी सत्ता से सर्वथा पृथक् है। तदनंतर आचार्य देवने जीव द्रव्य की संसारी और मुक्त अवस्थाओंका विस्तार से वर्णन किया है। तत्पश्चात् पुद्गल द्रव्य के परमाणु, और उनके स्कंध, इत्यादि का वर्णन है। पश्चात् धर्म, अधर्म दोनों द्रव्यों के दृष्टांत सहित समझाया है। और लोकाकाश अलोकाकाश की व्याख्या है। काल द्रव्य का भी संक्षिप्त वर्णन किया है।

तदनंतर जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा मोक्ष, पुण्य और पाप इन नौ तत्त्वों का विस्तार से कथन किया है।

सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र अर्थात् रत्नत्रय की व्याख्या कर उसे मोक्ष का साधन सिद्ध किया है।

जीव और अजीव का परस्पर संबंध यानी निमित्त पना बताया है। पुण्य के शुभ और पापके अशुभ परिणामरूप कहा हैं। शुभभाव से शुभ कर्म तथा अशुभभाव से अशुभ कर्म बंधते हैं। अतः कर्मबंध से छूटने के लिये दोनों को त्यागकर शुद्धभाव (आत्मभाव) जागृत करने का उपदेश दिया है।

शुद्धोपयोग द्वारा परमपद (मोक्ष) प्राप्त करके अनंत ज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतसुख, अनंतवीर्य इन अनंत-चतुष्टयरूप अपने स्वभावमें आत्मा लीन (स्थित) होजाती है। अनादि काल की अपनी विकारी अवस्था का परित्याग कर आत्मा स्वाभाविक निर्विकार अवस्था के प्राप्त होजाती है।

नियमसार

अध्यात्मज्ञान से परिपूर्ण इस ग्रंथमें १८७ गाथा एवं १२ अधिकार हैं। १९ गाथावाले प्रथमजीवाधिकारमें आचार्यदेवने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रयको 'नियम' संज्ञा दी है। क्योंकि नियमतः इनके द्वारा ही मोक्षमार्ग की प्राप्ति है अथवा यही मोक्षमार्ग है और यही साररूप ग्राह्य है। इसतरह 'नियमसार' जो ग्रंथका नाम दिया उसका अर्थ रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग किया है।

तदनंतर क्षुधा, तृषा, भय, रागद्वेष, चिंता, मोह, जरा, रोग, मृत्यु, खेद, स्वेद, मद, अरति, आश्चर्य, निद्रा, जन्म, शोक इन अठारह दोषों से रहित एवं केवलज्ञानादि आत्मिक ऐश्वर्य सहित परमात्मा, आप्त, अर्थात् पूज्य कहलाते हैं। पूर्वापरविरोध रहित शुद्ध, हितकर एवं मधुर वचनों को आगम कहते हैं। आगम में कहे हुये गुण पर्यायों से युक्त जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश काल ये छह द्रव्य ही तत्त्वार्थ हैं। आप्त, आगम और तत्त्वार्थ का श्रद्धान ही सम्यग्दर्शन है।

इन छह द्रव्यों में से जीव चैतन्य स्वरूप है। आत्मा के चैतन्यगुण के साथ वर्तनेवाले परिणाम को उपयोग कहते हैं। वह ज्ञान दर्शन के भेद से दो प्रकार का हो जाता है अर्थात् ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग। अतीन्द्रिय सर्वथा आलंबनरहित मात्र आत्मापेक्षी केवलज्ञान ही आत्मा का स्वभाव है। मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय ज्ञान अपूर्ण हैं। दर्शनोपयोग के दो भेद हैं स्वभाव और विभाव। केवलदर्शन स्वभाव है। चक्षु, अचक्षु,

अवधिदर्शन अपूर्ण दर्शनोपयोग है। स्व-पर अपेक्षित पर्याय तथा निरपेक्ष पर्याय ये दो पर्याय के भेद हैं।

अठारह गाथावाले दूसरे अजीवाधिकारमें पुद्गल द्रव्य परमाणु, स्कंध रूपसे दो प्रकार का बतलाया है। पुद्गल द्रव्य आत्मा के स्वरूप से सर्वथा भिन्न है भले ही वह पुद्गल परमाणु हो या स्कंधरूप हो। पुद्गल की दृष्टि से वर्तता हुआ आत्मा अशुद्ध विभावसहित-विकार युक्त है। तत्पश्चात् धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन द्रव्यों के लक्षण तथा भेदों का कथन है।

तीसरे अठारह गाथावाले शुद्धभावाधिकारमें मोक्षार्थी जीवोंको निरंतर इस तरहकी भावना भाने का उपदेश दिया है कि मान, अपमान, हर्ष, विषाद, बंध, उदय, जन्म, जरा, रोग, मृत्यु, शोक, भय, कुल, जाति, योनि, शरीर, समास, मार्गणा, दण्ड, द्वन्द्व, राग, द्वेष, शल्य, मूढ़ता, विषय, कषाय, काम, मोह, लोभ, वेद, संस्थान, संहनन आदि समस्त विकारों से यह आत्मा बिलकुल भिन्न है। इस तरह विभाव भावों से पृथक् शुद्ध आत्मा ही उपादेय है, शेष बाह्य तत्त्व हेय हैं। सिद्ध भगवान की आत्मा जैसे अष्ट गुणयुक्त अविनाशी, निर्मल लोकाकाश के अग्रभागमें विराजती है, वैसी ही शुद्ध स्वरूप वाली मेरी आत्मा है तथा सर्व संसारी जीवोंकी आत्मा है। विपरीत मान्यता रहित तत्त्व का श्रद्धान ही सम्यग्दर्शन है, तथा संशय, मोह, विभ्रम से रहित हेय, उपादेय का ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है।

चौथे अठारह गाथावाले व्यवहारचारित्राधिकार में यह बताया है कि जीव और अजीव के भेद विज्ञान का अभ्यास करने से वीतराग मुनि ही सम्यक्चारित्र को प्राप्त हो सकते हैं।

पांचमें अठारह गाथावाले निश्चय प्रतिक्रमणाधिकार में बताया है कि चारित्र को दृढ़ करने के लिये निश्चय प्रतिक्रमण की क्यों आवश्यकता है? वाणी के लक्ष्य को और रागद्वेष को छोडकर आत्मा के शुद्धस्वरूप का चिंतवन करना, विराधना (स्वरूप से हटकर जो शुभाशुभ भाव होते हैं वह विराधना है उसे यहां पापक्रिया कहा है) को छोडकर आराधना (आत्मस्वरूप में स्थिरता होना सो आराधना है) में लीन होना, उन्मार्ग से हटकर शुद्धस्वरूप में सन्मुख रहना, माया, मिथ्यात्व, निदान शल्य भावों से निवृत्त होना, आर्तध्यान, रौद्रध्यान छोड़ धर्मध्यान शुक्लध्यान में लीन होना। मिथ्यादर्शनादि को छोड़, सम्यग्दर्शनादि की भावना करना यही प्रतिक्रमण है। इस तरह सर्व परभावों से दूर रहकर आत्मभाव में स्थिर रहना ही सच्चा प्रतिक्रमण है, यही मोक्षप्राप्ति का साधन है।

१२ गाथा वाले छठे निश्चय प्रत्याख्यानाधिकार में —साधुजन आहार के पश्चात् हमेशा आनेवाले दिवसों के लिये अपनी शक्ति के अनुसार योग्यकाल तक आहार त्याग का विकल्प करते हैं— उस रूप व्यवहार प्रत्याख्यान का कथन नहीं है किंतु अपने स्वरूप की स्थिरता करने के प्रयोजन से समस्त परभावों के सर्वथा त्याग करने को सच्चा प्रत्याख्यान बताया है।

सातवें छह गाथा के निश्चयालोचनाधिकारमें वीतराग भावस्वरूप परिणाम से आत्मस्वरूप का अवलोकन करना यही आलोचनाका लक्षण कहा है। ज्ञानावरणादि अष्ट द्रव्यकर्म, औदारिक, वैक्रियिक, आहारक ये तीन प्रकार के शरीर, नोकर्म, मति श्रुत अवधिज्ञान और मनःपर्यय ज्ञान और आत्माकी विभाव व्यंजनपर्याय देव, मनुष्य, नरक तिर्यंच पर्याय इन सबसे रहित मात्र आत्मा का ही ध्यान करना चाहिये सो यथार्थ आलोचना है।

नौ गाथावाले निश्चय प्रायश्चिताधिकारमें व्रत, समिति, शील और संयममें प्रवृत्त विभावरूप शुभभावों का क्षय करनेवाली भावना में प्रवृत्ति करना तथा आत्म स्वरूप का चिंतवन अथवा आत्मस्थिरता प्राप्त करना सो सच्चा प्रायश्चित्त है, यह उपदेश दिया है। इस तरह शरीरादि पर द्रव्यों के मोह को तथा तत्संबंधी संकल्प विकल्पोंको छोड़कर शुद्ध आत्मस्वरूपमें लीन होना ही समस्त दोष और पापों का सच्चा प्रायश्चित है।

नौवें बारह गाथावाले परम समाधि अधिकार में आचार्यदेवने बताया है कि वीतराग भावपूर्वक वाणी आदि के समस्त विकल्पोंको छोड़कर आत्मा का चिंतन करना संयम, नियम और तपद्वारा धर्मध्यान में एकाग्र होना, पुण्य पाप का कारण जो रागद्वेष है उसे छोड़कर स्वरूपमें स्थिरतारूप समभाव धारण करना तथा हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा तथा स्त्री, पुरुष एवं नपुंसकवेद इन नौ प्रकारकी नोकषायों को छोड़ देना सो परम समाधि है।

सात गाथावाले दसवें परम भक्ति अधिकारमें आचार्यदेवने यह प्रतिपादन किया है कि संसार परिभ्रमण से मुक्त कराने में कारणभूत रत्नत्रय की भक्ति ही सच्ची

भक्ति है। सिद्ध के गुणोंको भेद प्रभेद सहित जान कर उन गुणों में आत्मा की अनुरक्ति होना ही परम भक्ति है। रागद्वेषादिक विभावोंको छोड़कर अपने स्वरूपमें परिणमन करना यही उत्तम भक्ति है।

ग्यारहवें बीस गाथावाले आवश्यकाधिकार में बताया है कि आवश्यक का अर्थ है "अवशपना" अर्थात स्वाधीनता। परपदार्थ के लक्ष्य से होनेवाले शुभाशुभ भावों से छूटकर अपने गुणों में स्थिर होजाना सो स्वाधीनता है। यह स्वाधीनता ही मोक्षमार्ग है। इस मार्ग का ग्रहण करना प्रत्येक आत्मा के लिये आवश्यक है। आत्मा योगीश्वर वीतराग स्वरूप है, इस का परभावों में न फंसना ही अर्थात् परभावों का नाश करना ही परम कर्तव्य है। आत्मा से अत्यंत भिन्न परपदार्थोंकी तरफ लक्ष्य कर शुभाशुभ भावों के आधीन होना, छह द्रव्यों के गुण पर्यायों के संकल्प विकल्प करना, पुण्य पापरूपी परिणामों में प्रवर्तना ही पराधीनता है और इस पराधीनता का नाश कर आत्मा के स्वभाव का ध्यान करना सो स्वाधीनता है। इस स्वाधीनतारूप आवश्यक के विना चारित्र निष्फल है अथवा चारित्र होता ही नहीं।

बारहवें अठाईस गाथावाले शुद्धोपयोगाधिकार में आचार्यदेवने यह निरूपण किया है कि जैसे सूर्य का प्रकाश और गरमीं एक साथ ही प्रगट होते हैं, इसी प्रकार केवलज्ञान और केवलदर्शन दोनों साथ प्रगट होते हैं। इस तरह दर्शन और ज्ञान दोनों परस्पर स्व-पर प्रकाशक हैं। आत्मा स्वभाव से ही दर्शन ज्ञानमय है। रूपी अरूपी पदार्थोंको गुण पर्याय सहित युगपत् जाननेवाला ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान है। केवली के इच्छा का अभाव है, अतः उनको देखना, जानना वाणी का खिरना, स्थिर रहना अथवा चलना कर्मबंध का कारण नहीं है। केवली के आयुकर्मकी पूर्णता होने पर शेष अघातिया कर्म भी स्वयं ही नाश होजाते हैं और आत्मा लोकाग्रमें स्थित होजाता है। वहां सांसारिक सुख, दुःख पीड़ा, बाधा, निद्रा, जन्म, मरण, तृषा, क्षुधा, द्रव्यकर्म, नोकर्म, इन्द्रिय विषय, उपसर्ग, मोह, आश्चर्य, चिंता, ध्यान वगैरह विकारों का अभाव है। वहां आत्मा अनंतदर्शन, अनंतज्ञान, अनंतवीर्य, अनंत आनंदमय, सच्चिदानंद स्वरूप, अविनाशी और निर्विकारी अवस्था में विराजमान रहता है; ऐसी अवस्था को निर्वाण कहते हैं। उसदशा को प्राप्त होकर आत्मा कृतकृत्य और सिद्ध होजाती है, अनंत चतुष्टय युक्त होजाती है। इस परमपद को प्राप्त करना प्रत्येक आत्मा का कर्तव्य है। अर्थात् सबकी अपेक्षा परमपद की प्राप्ति ही मुख्य है। स्वयं लक्ष्यभूत पदकी प्राप्ति की निरंतर भावना और ध्येय ऐसे सिद्ध स्वरूपी परमात्मा के गुण चिंतन में एकाग्र होजाना सो शुद्धोपयोग है। यह शुद्धोपयोग निर्वाण प्राप्ति का प्रधान कारण है।

अष्टपाहुड

इस ग्रंथमें दर्शनप्राभृतकी ३६ गाथाओं द्वारा सम्यग्दर्शनका महत्त्व वर्णन किया है। सामान्य रीति से जिनेन्द्र भगवान द्वारा कथित सिद्धांतो की द्रढ़ श्रद्धा करना, आत्मा के स्वाभाविक गुणों को यथार्थ रूपसे जान लेना ही सम्यग्दर्शन है। यही सम्यग्दर्शन धर्मका आधार, मुक्ति मार्गका सुनिश्चित साधन है। उसके विना ज्ञान, चारित्र या तपका कोई मूल्य नहीं। आत्माकी मलिनता इसीसे नाश होती है, बिना इसके संसार परिभ्रमणका अंत नहीं।

सम्यग्दर्शन के विना पुण्यभी पुण्यरूप नहीं होता। जो कोइ मनुष्य जीवन सफल करना चाहे तो उसे सच्ची भक्ति अर्थात् आत्मभक्ति द्वारा सच्ची श्रद्धा प्राप्त करना आवश्यक है।

जैनी कर्मवादी नहीं परंतु यथार्थ आत्मज्ञान के और विश्व स्वरूप के ज्ञाता हैं।

"जैन" गुण वाचक नाम है, कोई संप्रदाय सूचक नहीं। जैन का अर्थ है रागद्वेष को जीतनेवाला। जिनजीवों में यह गुण प्रगट होजाता है, वे ही संपूर्णरूप से सत् के ज्ञाता और प्ररूपक हो सकते हैं, उनका कहना संपूर्णरूपसे सत्य ही होता है। वे जीव अपनी पूर्ण शुद्धता को प्राप्त करलेते हैं और वे ही आत्मस्वरूप के और विश्व के ज्ञाता हो सकते हैं।

जैनधर्म किसी व्यक्ति के कथन पर, किसी पुस्तक, चमत्कार या व्यक्ति विशेष पर निर्भर नहीं है; यह तो सत्य का अखंड भंडार तथा विश्वका धर्म है। अनुभव इसका आधार है। युक्तिवाद इस की आत्मा है। इस धर्म को कालकी केदमें नहीं बांधा जा सकता। वह तो पदार्थों के स्वरूप का प्रकाशक है, त्रिकालाबाधित सत्यरूप है। वस्तुऐं अनादि अनंत हैं; इसलिये उसके स्वरूप को प्रकाश करनेवाला तत्त्वज्ञान और उसके तत्त्वज्ञाता भी अनादि अनंत है।

भगवान कुंदकुंदाचार्य भी सत्य ज्ञानियोंमेंसे एक सत्य ज्ञानी हैं। जैन तत्वज्ञान अनादि अनंत वस्तुओंका यथार्थ प्रकाशक है। आचार्यदेवने स्पष्ट घोषणा पूर्वक प्रगट कर दिया है कि जो आत्मा को नहीं पहचानता, वह जैन नहीं है। जो जैन के साधु कहलाकर भी ये कहते हों कि "कर्म आत्मा को अज्ञानी बनादेता है" और ऐसा कहकर जैनोंको कर्मवादी सिद्ध करते हों तो वे जैन श्रमण नहीं श्रमणाभास हैं। वे अपनी बुद्धि के अपराध से सूत्रके सच्चे अर्थको नहीं जाननेवाले हैं। श्री आचार्यदेवने यही कथन समयसारकी गाथा ३३० से ३४४ तक में स्पष्ट किया है।

वे आगे प्रतिपादन करते हैं कि "आत्मा परपदार्थ के कार्यों को कर सकती हैं" ऐसा माननेवाले चाहे जैन साधु ही क्यों न हों परंतु वे अज्ञानी ही हैं। क्योंकि उनके कथन और अज्ञानियों के विपरीत सिद्धांतमें भेदही क्या रहा? मिथ्यात्वी जन ईश्वर को सृष्टि का कर्ता मानते हैं और ये मुनि आत्माको परपदार्थों का कर्ता मान रहे हैं, तो फिर दोनों की मान्यता समान ही हुई। लोगों का और साधुओंका पर द्रव्यमें कर्तृत्व का व्यवसाय सिद्ध करता है कि यह व्यवसाय सम्यग्दर्शन रहित पुरुषों का है। (देखो समयसार गाथा ३२१ से ३२७)

वर्तमानमें जो मात्र कुलपरंपरासे जैन हैं, उनमें से बहु संख्यकभाग यह मानता है कि "जड़ कर्म आत्माको दुःखी करता हैं" और कहता है कि "जैनधर्म कर्म वादी हैं।" परंतु उनकी यह एक महान् भूल है। जैनी कर्मवादी नहीं अपितु वस्तु स्वरूप वादी हैं॥

गुजरात काठियाड में भगवान कुंदकुंदाचार्य के शास्त्रों का प्रचार

गुजरात-काठियावाड़ में बहुत समयतक लोग इन शास्त्रों को नहीं जानते थे। गत शताब्दिमें श्रीमद् राजचंद्रजी को वे शास्त्र प्राप्त हुये और उनपर उन शास्त्रों की अद्भूतता का भारी असर हुआ। इस संबंध में उनने लिखा है कि:—

"हे कुंदकुदादि आचार्यो! आपके वचन भी स्वरूपानुसंधान के लिये इस पामर को परम उपकारभूत हुये हैं इसलिये मैं आपको अतिशय भक्ति पूर्वक नमस्कार करता हूं।"

उनने 'परम श्रुत प्रभावक मंडल' की स्थापना करके उसके द्वारा इन शास्त्रों को प्रसिद्ध करने की योजना की थी, जिसके परिणाम स्वरूप भगवान कुंदकुंदाचार्य के अनेक ग्रंथ वहां से प्रगट हो चुके हैं और मुमुक्षु लोग उनका लाभ ले रहे हैं। सर्वोत्कृष्ट आगम श्री समयसार का गुरु संप्रदाय का (गुरु परंपरागत उपदेश का) विच्छेद होगया है, यह देखकर संवत् १८०७ में पं. जयचंदजीने सबलोगों के पठन पाठन की दृष्टि से उसकी देश भाषा में वचनिका लिखी थी। वह हिन्दीं अनुवाद परम श्रुत प्रभावक मंडल (बंबई) ने सं. १९७५ में प्रसिद्ध किया था।

संवत् १९९१ से वीतराग देवके अनन्ययक पूज्य श्री कानजी स्वामी काठियावाड़ में श्री समयसारजी का अपूर्व उपदेश समाज को देकर महा प्रभावना कर रहे हैं। उनने सातवार समयसारजी पर सभाओं में प्रवचन किया हैं और आठवींवार सोनगढ में उस पर प्रवचन दे रहे हैं। इस प्रकार उनने अनेक जीवों को पावन किया है।

इस प्रकार भगवान कुंदकुंदाचार्य के नामसे और उनके परमागमों से काठियावाड़ के मुमुक्षुजन बहुत बड़ी संख्या में परिचित होगये हैं और होते जा रहे हैं।

सोनगढ़ में भगवान श्री सीमंधर स्वामी के समोशरण की रचना की गई है। उसमें भगवान श्री कुंदकुंदाचार्य की भी स्थापना की गई है, उससे मुमुक्षुजनों को यह प्रतिभासित होजाता है कि भगवान का समवशरण कैसा होता है और जब विदेहक्षेत्रमें श्री कुंदकुंदाचार्य भगवान के समोशरणमें पधारे थे, उससमय का कैसा दृश्य होगा?

इस प्रकार भगवान श्री कुंदकुंदाचार्य के नंदन परम पूज्य श्री कानजी स्वामी के द्वारा भगवान महावीर स्वामी के शासन का जय जयकार हो रहा है।

अहो! उपकार जिनवरनो, कुंदनो ध्वनि दिव्यनो;
जिन-कुंद ध्वनि आप्यां अहो! ते गुरु कहाननो!

भगवान श्री महावीर स्वामी की जय हो!
भगवान श्री कुंदकुंदाचार्यकी जय हो!
ग्रंथाधिराज श्री समयसार की जय हो!
सनातन जैनधर्म की जय हो, जय हो!

ॐ शांतिः ॐ शांतिः ॐ शांतिः

हम चाहते हैं कि 'आत्मधर्म' का वांचन-मनन प्रत्येक धर्मप्रेमी भाई बहन के घरमें, शास्त्रसभामें एवं मंदिरजी में होओ। उस कार्यमें आपसे सहयोगकी आशा की जाती है। क्या आप हमारी इस चाह को लक्षमें लेंगे?—रवाणी

आचार्य देव का आमंत्रण

पूज्य श्री कानजी स्वामीका प्रवचन

卐

समयसार का पूर्वरंग ३८ गाथाओंमें पूरा होता है। आचार्यदेवने ३८ गाथाओंमें मोक्ष का मार्ग खोल दिया है और अब सब को आमंत्रण देते हैं। आचार्यदेव कहते हैं कि ऐसा शांत स्वरूप समझाया है तो उसे समझकर उसमें लोक निमग्न होजाओ इसप्रकार आमंत्रण दिया है। इस संबंधमें एक कलश इस प्रकार कहा है कि:—

(मालिनी)

मज्जंतु निर्भरममी सममेव लोका
आलोक मुच्छलति शांतरसे समस्ताः।
आप्लाव्य विभ्रम तिरस्करिणीं भरेण
प्रोन्मग्न एष भगवानवबोधसिंधुः॥

(समयसार कलश ३२)

अर्थः—यह ज्ञान समुद्र भगवान आत्मा विभ्रम रूप आड़ी चादर को संपूर्ण डुबाकर (दूर करके) स्वयं सर्वांग प्रगट हुआ है इसलिये अब समस्त लोक उसके शांत रसमें एक ही साथ अत्यंत मग्न होजाओ वह शांतरस कैसा है? समस्त लोक पर्यंत उछल रहा है।

यहां आचार्यदेव आमंत्रण दे रहे हैं। किसे आमंत्रण दे रहे हैं? समस्त जगत को एक साथ आमंत्रण दे रहे हैं। भगवान के घर लग्न हो तो किसे आमंत्रण नहीं होगा? सबको होगा।

इस देह रूपी चोले में प्रभु चैतन्य सो रहा है, शरीर और राग को अपना मानकर सो रहा है। लौकिक माता अधिकाधिक सुलाने के लिये लोरी गाती है किंतु प्रवचन माता जगाने की लोरी गाती है। शरीरादि के रजकणोंमें गुप्त हुआ, पुण्य पापके भावमें छिपा हुआ भगवान आत्मा है उसको प्रवचन माता अपनी लोरियां गा कर जगाती है।

जैसे वांसुरी के स्वर से प्रभावित होकर सर्प विष को भूलजाता है और वांसुरी के स्वर में एकाग्र होजाता है उसी प्रकार आचार्यदेव कहते हैं कि हमारी इस समयसारकी वाणीरूप वांसुरी के स्वर में कौन आत्मा नहीं डोलेगा? कौन जाग्रत नहीं होगा? सभी डोलेंगे, सभी जाग्रत होंगे। जिसके चित्त में यह नहीं बैठे वह अपने घर रहा। आचार्य देवने तो अपने भाव से समस्त जगत् को आमंत्रण दिया है।

"ज्ञान समुद्र भगवान आत्मा" कहा गया है। अर्थात् सभी आत्माओं को भगवान कहा है। ज्ञानसमुद्र भगवान समुद्र की तरह अपने ज्ञानमें हिलोरें खाते हैं ज्ञान समुद्र आत्मा चाहे जितनों वर्षों से बात को जाने तो भी वजन नहीं होता। इस प्रकार के ज्ञान समुद्र से भरपूर आत्मा है। जैसे समुद्र पानी से छलाछल भरा हो और उसके आड़े कोई दीवाल अथवा कोई अन्यवस्तु आजाय तो पानी दिखाई नहीं देता किंतु यहांपर तो मात्र चादर अर्थात् एक सामान्य ओढनी ही आड़े आई बताई गई है जिसे दूर करने में देर नहीं लगनी चाहिये। मात्र उस चादर को पानी में डुबादेने से ही छलाछल पानी से भरा हुआ समुद्र दिखाई देने लगता है उसी प्रकार ज्ञान समुद्र भगवान आत्मा भीतर छलाछल पानी से भरा है विभ्रमरूप आड़ी चादर को हटाकर अर्थात् विपरीत मान्यता की जो आड़ी चादर पड़ी थी (भ्रांतिरूप मात्र एक चादर ही आड़ी है—एक क्षणिक पर्याय की कीमत ही क्या है?) उसे संपूर्ण पानीमें डुबा दिया अर्थात् भ्रम की खोटी पकड़ को नष्ट कर दिया और सर्वांग प्रगट होने रूप उत्पाद हुआ सर्वांग अर्थात् असंख्य प्रदेश में प्रगट हुआ और ज्ञानसमुद्र भगवान अपने ज्ञान आदि शांतरस में तरंगित होता है।

जैसे लोगोंमें यह कहा जाता है कि यह स्वच्छ सुंदर पानी भरा हुआ है, उसमें स्नान करो, उसीप्रकार आचार्यदेव कहते हैं कि इस सुंदर मधुर स्वच्छ ज्ञान समुद्र में सब जीव आकर स्नान करो, शीतल होवो, शांत रस में निमग्न होओ। सभी जीवों को आमंत्रणदेते हुये सब को एक साथ आने के लिये कहा है। एक के बाद एक को आने के लिये नहीं कहा है। अहाहा! ऐसा भगवान आत्मा है। भगवान आत्मा का ऐसा अद्भुत स्वभाव देखकर आचार्यदेव का भाव एकदम तरंगित हो उठा कि अहो! ऐसा आत्मा है तब सभी जीव एक साथ क्यों नहीं आते। सब आओ, एक साथ आओ, शांतरसमें एक ही साथ अत्यंत निमग्न होओ, अत्यंत निमग्न होओ, कोई कसर मत रखना। इसप्रकार आचार्यदेव की अति भावना उछल उठी है। (अंतरमें अपने को पूर्ण होजाने की भावना का बल विद्यमान है)

यहांपर मात्र 'निमग्न' नहीं कहा है किंतु अत्यंत निमग्न होने को कहा है। और फिर कहते हैं कि कैसा है शांतरस? समस्तलोक में तरंगित होरहा है। चौदह ब्रह्मांड के जीवों में शांतरस उछल रहा है, सभी प्रभु हैं। अहो! उसमें सब लीन होओ इसप्रकार आचार्यदेव आमंत्रण देते हैं अथवा दूसरा अर्थ यह है कि केवलज्ञान के होनेपर समस्त लोकालोक जानता है और समस्त लोकालोक पर्यंत शांतरस तरंगित हो रहा है।

अब भावार्थ का विस्तार किया जाता है। मात्र भ्रांति की आड़ी चादर थी इसलिये स्वभाव दिखाई नहीं देता था। दीवाल जैसी कोई कठिन वस्तु आड़ी हो तो उसे तोड़ने में देर लगे किंतु यह तो चादरजैसी भ्रांति क्षणमें दूर की जा सकती है। विभ्रम से अपना स्वरूप दिखाई नहीं देता था। स्त्री कुटुम्ब की तो बात ही क्या किंतु शरीर मन और वाणी का भी कहां ठिकाना है वे सब भिन्न ही हैं इतना ही नहीं किन्तु भीतर होने वाले शुभाशुभ भाव भी भिन्न ही हैं उन सबमें एकत्व बुद्धि थी उसे दूर करके और समूची डुबाकर इस ज्ञान समुद्र में—वीतरागी विज्ञान में सब एक साथ निमग्न होजाओ। इस प्रकार आचार्यने डिनडिन नाद किया है सबको एक साथ आमंत्रित किया है। आमूल आमंत्रण में कौन नहीं पहुंचता? सभी पहुंचते हैं। जिसे विरोध हो, द्वेष हो, वह नहीं पहुंचता। जो बीमार होता है वह कहता है कि मैं नहीं पहुंच सकता तो क्या किया जाय? उसके लिये कहते हैं कि हे रोगी! तू अपनी इस शक्तिहीन बातको छोड़दे एक ओर! इस सामूहिक निमंत्रण में एकबार चलकर तो देख। मिष्टान्न न सही दालभात ही खालेना किन्तु चल तो सही।

कई श्रावक साधर्मियों को जिमाते हैं उस समय कुछलोगों के ऐसे भाव होते हैं कि कोई भी साधर्मीजीव रह न जाना चाहिये। क्योंकि इतने सारे लोगों में से कोई जीव ऐसा सर्वोत्तम हो सकता है, कि वह भावी तीर्थंकर हो सकता है। कोई केवली होनेवाला हो, कोई अल्पकाल में ही मुक्त होनेवाला हो, ऐसा साधर्मी के पेटमें मेरा एक भी ग्रास जाय तो मेरा अवतार धन्य होजाय! भविष्य में कौन तीर्थंकर होनेवाला है, कौन अल्पकालमें मोक्ष जानेवाला है इसकी भले ही खबर न हो किंतु जिमाने वाले का भाव ऐसा है कि अल्प कालमें मोक्ष जानेवाला कोई जीव रह नहीं जाना चाहिये। जिमाने वाले का भाव आत्मभावना पूर्वक यदि यथार्थ होतो उसका अर्थ यह है कि स्वयं अल्पकालमें मुक्ति प्राप्त करने के भाव है-ऐसी रुचि है। इसीप्रकार आचार्यदेव कहते हैं कि मेरा सामूहिक निमंत्रण है, सामूहिक निमंत्रण इसलिये है कि इस शांतरस के स्वाद से कोई जीव वंचित न रहजाय। ऐसा आमंत्रण देते हुये वास्तव में आचार्यदेव को स्वयं ही भगवान आत्मा के शांतरस में निमग्न होजाने की तीव्र भावना उत्पन्न हुई है। समयसार की एक एक गाथामें आचार्यदेव ने अद्भुत रचना की है, अलौकिक अपूर्व भाव भरदिये हैं, हम क्या कहें? जो समझता है उसी को मालूम होता है।

जब केवल ज्ञान प्रगट होता है तब समस्त ज्ञेय एक ही साथ आकर ज्ञानमें झलकने लगते हैं, उसे सर्व लोक देखे, ऐसी प्रेरणा भी यहां की गई है। पूर्णस्वभाव की बात आचार्यदेवने पूर्णरूप से ही कही है। एक परमाणु मात्र भी मेरा नहीं है, यह कहकर पूरी बात कह दी है। 'एक परमाणु मात्र का भी स्पर्श नहीं है, इस प्रकार की प्रतीति के बल से पूर्णता हो जाती है।

जैसे किसी आदमी को किसी राजा इत्यादि से मिलने को जाना हो तो वह श्रीफल इत्यादि भेट की वस्तु लेकर जाता है उसीप्रकार त्रिलोकीनाथ भगवान आत्मा से भेंट करने जाना हो तो उसके लिये भी भेट प्राप्त करनी होगी, उसके विना भगवान आत्मा प्रगट नहीं होगा। उस समयप्राभृत अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञानचारित्र की परिणतिरूप भेट के विना आत्मा रूपी राजा किसी भी प्रकार प्रसन्न नहीं होगा।

यह तत्त्व क्या है, इसका एकबार कुतूहल तो कर। यह सब प्रतिष्ठाको, कीर्ति को, द्रव्य को, कुटुंबको अपना मानरखा है उसे भूलकर भीतर आत्मा में कूदकर उसकी थाह तो देख जैसे डुबकिया कुए में कूदकर उसकी थाह को पालेता है उसी प्रकार थाह को प्राप्त कर। दुनिया को भूलकर या मरकर भी अंतर्तत्त्व क्या है यह भीतर देखने के लिये एकबार गिरतो देख। 'मरकर' अर्थात् चाहे जितनी प्रतिकूलता उठाकर भी कुतूहल कर। अनंतबार देह के लिये आत्मा को बरबाद किया है किन्तु अब एक बार आत्मा के लिये देह को गला सके तो भव न रहे। संसार को भूल, दुनिया की चिंता को छोड़कर आत्मा के रस में मस्त होजा और पुरुषार्थ करके अंतर्पट को फाड़ दे।

भगवान आचार्यदेव करूणा करके कहते हैं कि तू अनादि अनंत है, अविनाशी है, तेरा गुण कभी नष्ट नहीं हो सकता, तेरा अंतरंग अनंत गुणों से भरा हुआ है, तू निर्दोष वीतराग स्वरूप है, एक क्षणमें केवलज्ञान और परमात्म दशा को प्रगट कर सकता है, उसे भूलकर अरे! इस परमें कहां रुका हुआ है। तेरा स्वरूप ऐसा सदोष नहीं है, उसमें दीन हीन होकर क्यों अटक रहा है? अपने स्वरूप की प्रतीति कर। ★

समयसारावलोकन

श्री रामजीभाई माणेकचंद दोशी

१—भगवान श्री कुंदकुंदाचार्य देवने विक्रम संवत् की प्रथम शताब्दि में श्री समयसार शास्त्रकी प्राकृत भाषा में रचना की थी। उसके कुल ९ अधिकार हैं जिनके नाम (गाथाओंकी संख्या के साथ) इस प्रकार हैं:—

अधिकार नाम	गाथा
१—जीवाजीव अधिकार	गाथा १ से ६८
२—कर्ताकर्म अधिकार	गाथा ६९ से १४४
३—पुण्य पाप अधिकार	गाथा १४५ से १६३
४—आस्रव अधिकार	गाथा १६४ से १८०
५—संवर अधिकार	गाथा १८१ से १९२
६—निर्जरा अधिकार	गाथा १९३ से २३६
७—बंध अधिकार	गाथा २३७ से २८७
८—मोक्ष अधिकार	गाथा २८८ से ३०७
९—सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार	गाथा ३०८ से ४१५

जीव क्या कर सकता है और क्या नहीं?

२—ऊपर गाथाओंकी जो संख्या बताई है उससे मालूम होगा कि कर्ताकर्म अधिकार और सर्वविशुद्धज्ञान अधिकारकी गाथाऐं सब से अधिक हैं। कर्ताकर्म अधिकार में ७६ और सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार में १०८ गाथाऐं हैं। सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार में ३०८ से ३८२ तककी गाथाओं में भी कर्ताकर्म का विषय लिया गया है। इस प्रकार इस शास्त्रमें ७६ गाथाऐं दूसरे अधिकार में और ७४ गाथाऐं अंतिम अधिकार में (कुल १५० गाथाऐं) कर्ताकर्म के विषय में दीगई हैं।

३—कर्ताकर्म के विषय पर जो १५० गाथाऐं दी गई हैं उनका मुख्य कारण यह है कि—जीव अनादि से अज्ञानी है इसीलिये वह यह मानता आरहा है कि मैं पर का कुछ कर सकता हूं और परको भोग सकता हूं। शरीर जीव से पर है और वह अनंत अचेतन, रूपी रजकणों का पिंड है, तथा उस शरीरमें रहनेवाला जीव शरीर से बिल्कुल भिन्न प्रकार का है अर्थात् चेतन स्वरूप स्वयं सिद्ध अनादि अनंत एक वस्तु है, फिर भी जीव शरीरको अपना मानता है इसलिये शरीर को मैं हिला डुला सकता हूं तथा अन्य पर द्रव्यों के कार्य भी जीव कर सकता है यह मानता आ रहा है। जो कार्य जीव से नहीं हो सकता हो वह मुझ से हो सकता है यह मानना बहुत बड़ी भूल है। इस महा भूलको दूर करने के लिये (अनादिकाल से आगत अपने और पर वस्तु के घोर अज्ञानको दूर करने के लिये) आचार्यदेवने इन गाथाओंकी रचना की है।

४—वर्तमान गोचर जितने देश हैं, उनमें जितने तत्त्वज्ञान संबंधी शास्त्रों का अस्तित्व है, उनमें कर्ताकर्म का विषय इतनी स्पष्टता और असरकारक रीति से नहीं समझाया गया है। समयसार शास्त्रकी अनेक विशेषताओं में से यह एक अति महत्वपूर्ण विशेषता है।

५—उपरोक्त कथनानुसार मुख्यतया यह शास्त्र अत्यंत अज्ञानियों के अनादिकाल से चले आये घोर अज्ञानको दूर करने के लिये आचार्यदेवने करुणा करके बनाया है। आचार्य भगवानने स्वयं अनेक स्थलों पर यह बताया है कि यह शास्त्र अत्यंत अज्ञानियों के अज्ञानको दूर करने के लिये है, इसलिये प्रत्येक अधिकार को लेकर उसमें आचार्य भगवान क्या कहते हैं यह कहा जाता है।

जीवाजीव अधिकार

[गाथा १ से ४]

६—इस अधिकार में ६८ गाथाऐं हैं। पहली गाथा में मंगलाचरण करके तत्काल ही दूसरी गाथा के उत्तरार्ध में 'पर समय' अर्थात् अज्ञानी कौन है? यह बताया है। तीसरी गाथामें अज्ञानदशा विसंवादिनी है—अर्थात् जीवको दुःख देनेवाली है यह कहकर चौथी गाथा में कहा है कि जीवकी अज्ञानदशा अनादि से चली आ रही है, उसमें मैं परका कुछ कर सकता हूं—परको भोग

सकता हूं ऐसी (काम भोग बंधकी) कथायें अपना अत्यंत बुरा करने वाली होने पर भी लोक के सर्व जीवोंने अनंतवार सुनी है, अनंतवार उनका परिचय किया है और अनंतवार उनका अनुभव किया है। स्वयं आचार्यत्व करके अन्य जीवोंको वे कथायें सुनाई किंतु भिन्न आत्मा के एकत्वको कभी नहीं सुना, उसका परिचय नहीं किया और उसका अनुभव भी स्वयं कभी नहीं किया। अपनी अनात्मज्ञता अनादिकाल से चली आ रही है। आत्माको जानने वालोंकी संगति स्वयं नहीं की है इसलिये आत्मा का स्व से एकत्व और पर से पृथक्त्व कभी नहीं सुना, और न उसके परिचय में ही आया है। इसीलिये कभी अपने अनुभवमें भी नहीं आया।

[गाथा ५]

७—लोक के समस्त अज्ञानी जीवोंको गाथा ५ में आचार्यदेव कहते हैं कि—आत्मा का स्व से एकत्व और पर से पृथक्त्व तुमने अनादिकाल से नहीं सुना है इसलिये मैं तुम्हें वह इस शास्त्रमें अपने आत्मा के निज ज्ञान वैभव के द्वारा दिखाता हूं। इसलिये इस शास्त्रमें जो परम सत्य कहा जायगा वह तुम्हें अपने अनुभव—प्रत्यक्ष से परीक्षा करके प्रमाण करना चाहिये। प्रथम पांच गाथाओं से निम्न लिखित बातें सिद्ध होती हैं:—

(१) जगत के अधिकांश जीव जीव के यथार्थ स्वरूप के ज्ञान से रहित हैं इसलिये वे आत्मा से अज्ञात हैं (जीव और आत्मा एकार्थ वाचक है)।

(२) उनने कभी आत्मा के स्वरूपकी सच्ची कथा नहीं सुनी।

(३) उनने आत्मा के सच्चे स्वरूप का परिचय और अनुभव नहीं किया।

(४) आत्मा के स्वरूप के सच्चे ज्ञान की संगति पहले कभी नहीं की।

(५) इसलिये आचार्य भगवान स्वयं उस स्वरूप को कहते हैं।

(६) उस कथनकी अनुभव—प्रत्यक्ष के द्वारा परीक्षा करना चाहिये क्योंकि सत्यासत्य की परीक्षा किये बिना किसी का अज्ञान दूर नहीं हो सकता।

(७) यह शास्त्र अनादिकाल से चले आये हुये अज्ञानी जीवों के अज्ञानको दूर करने के लिये उपदेश दाता है। जीव आत्मा के स्वरूप के सच्चे कथनको स्वयं विचार कर इस कालमें अज्ञानको दूर कर सकते हैं और अपने सम्यग्ज्ञान को प्रगट करके आत्मानुभव कर सकते हैं।

[गाथा ६ से १०]

८—आगे चलकर गाथा ६ में शुद्ध आत्माका स्वरूप बताकर ७ वीं गाथा में बताया है कि—आत्मा अनन्त गुणोंका अखण्ड पिण्ड है, फिर भी उसमें भेद करके 'उसके दर्शन है—ज्ञान है—चारित्र है' यह कहकर-भेद करने पर छद्मस्थ जीव के विकार हुये विना नहीं रहता। ८ वीं गाथा में कहा है कि—गुणों के भेद करके समझाये विना अज्ञानी जीव आत्मस्वरूप को नहीं समझ सकते इसलिये भेद करके समझाना पड़ता है।

अनार्य का दृष्टान्त देकर इसी बात को अधिक स्पष्ट किया है कि—जैसे अनार्य को उसकी भाषा के बिना समझाना अशक्य है उसी प्रकार अज्ञानी जीवों को (यद्यपि धर्म और धर्मी स्वभाव से अभेद हैं तथापि) भेद के द्वारा ही समझाया जा सकता है। इसलिये उन्हें तत्काल समझ में आ सकने के लिये धर्मों—गुणों के नामरूप भेद उत्पन्न करके उन्हें समझाया जाता है। जैसे ब्राह्मण को म्लेच्छ होजाना ठीक नहीं है उसी प्रकार उस भेदरूप कथन का अनुसरण करना ठीक नहीं है, किन्तु उस कथन के द्वारा आत्मा का अभेद परमार्थ स्वरूप समझ लेना चाहिये।

९—इस प्रकार आठवीं गाथा भी सिद्ध करती है कि मुख्यतया अनादि के अज्ञानी जीवों को उद्देश करके यह शास्त्र बनाया है। गाथा ९, १० में बताया है कि 'व्यवहारनय परमार्थ का ही प्रतिपादन करता है।'

[गाथा ११—१२]

१०—जब तक भेद पर दृष्टि रहती है तब तक जीव अज्ञानी रहता है। (ऐसे जीवों को शास्त्रकी परिभाषा में व्यवहार से विमोहित—पर्याय बुद्धि कहा है) उस दृष्टि को छोड़कर जीव आत्मा के त्रैकालिक एक अखण्ड शुद्ध ज्ञायक ध्रुव स्वरूप की ओर दृष्टि करे—उस का आश्रय ले तभी उसका अज्ञान दूर होकर सम्यग्दर्शन होता है; यह बात गाथा ११ में कही गई है।

इस प्रकार दृष्टि बदलने के लिये त्रैकालिक जीवका स्वरूप (निश्चयनय) और वर्तमान काल की विकारी अवस्था (व्यवहारनय) जानने योग्य है, यह १२ वीं गाथा में कहा है। संक्षेप में कहा है कि दोनों पहलुओं का (नयोंका) ज्ञान करना चाहिये, किन्तु उनमें आदरणीय त्रिकाली पहलू (निश्चयनय) है; यह समझना चाहिये।

११—इन दो गाथाओं में जीव के त्रिकाली लूपह (निश्चयनय) और वर्तमान अवस्था (व्यवहारनय) के

ज्ञान करने का उपदेश देकर अज्ञानी का अनादि कालीन अज्ञान दूर करने के लिये कहा है कि निश्चयनय का आश्रय लेने पर ही जीव सम्यग्दृष्टि हो सकता है।

[गाथा १३ से १६]

१२–अनादि के अज्ञानी के कभी भी सम्यग्दर्शन प्रगट नहीं हुआ। जो जीव सम्यग्दर्शन के प्रगट होने के लिये पुरुषार्थ नहीं करता उस जीव के धर्मका लघुतम अंश भी नहीं हो सकता। इसलिये अज्ञान को दूर करने के लिये गाथा १३–१४ में सम्यग्दर्शन का स्वरूप सविवरण समझाया है। जब सम्यग्दर्शन प्रगट होता हैं तब सम्यग्ज्ञान भी होता ही है, इस लिये १५ वीं गाथा में सम्यग्ज्ञान का स्वरूप कहा गया है।

१३–गाथा १५ में स्पष्ट बताया है कि—सम्यग्ज्ञान ही सच्चा जिनशासन है, ऐसा अनन्त ज्ञानीयों ने कहा है। अर्थात्–जो जीव सम्यग्दृष्टि नहीं है वह जिनशासन का सच्चा अनुयायी नहीं है। बहुतेरे लोग पुण्यभाव को जिनशासन मानते हैं, इसलिये अज्ञानियों के इस अज्ञान को दूर करने के लिये आचार्य देवने इस गाथा में डंके की चोट कहा है कि भावश्रुत ज्ञान ही (आत्माके शुद्ध स्वरूप का यथार्थज्ञान ही) सच्चा जिनशासन है।

१४–जिसे सम्यग्दर्शन प्रगट होजाता है उसे आंशिक सम्यक्चारित्र होता है। उस चारित्र को स्वरूपाचरण चारित्र कहा गया है। वे जीव क्रमशः सम्यक्चारित्र में आगे बढ़ते जाते हैं, इस लिये सम्यक्चारित्र का स्वरूप १६ वीं गाथा में कहा है।

[गाथा १७–१८]

१५–गाथा १७ में कहा है कि जैसे धन का इच्छुक जीव राजा को उसके लक्षणों से जानकर राजा की श्रद्धा करता है और उसका अनुसरण करता है, उसी प्रकार जो जीव सच्चे सुखका इच्छुक हो उसे सर्वप्रथम जीव को उसके लक्षणों से जानकर उसका यथार्थ प्रतीतिरूप श्रद्धान करना चाहिये। और फिर अपने में स्थिर होने रूप आचरण प्रगट करना चाहिये।

१६–आचार्यदेवने यहांपर अनादिकालीन अज्ञानी को निम्न लिखित बातें समझाई हैं :—

(१) विनाजाने श्रद्धा करना गधे के सींग के समान खोटी है इसलिये अश्रद्धा है। भला, जाने विना श्रद्धान किसका ? इसलिये आत्मा के स्वरूप को जाने विना किसी भी जीवके धर्मका अंश भी कदापि नहीं हो सकता।

(२) आत्माको स्वयं जाने विना श्रद्धान नहीं हो सकता तब फिर स्वयं स्थिरता किसमें करेगा ? इसलिये निश्चय यह समझना चाहिये कि साध्यआत्मा की प्राप्ति, सिद्धि अन्य प्रकार से कदापि नहीं हो सकती, वह सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र से ही होती है।

१७–जब तक जीव आत्म स्वरूप को नहीं जान लेता तब तक वह अज्ञानी ही है, क्यों कि उसके सदा अप्रतिबुद्धत्व विद्यमान है। वह एक क्षणभर के लिये भी यथार्थ ज्ञानको नहीं पाता, इसलिये जीवको सर्वप्रथम अज्ञान दूर करने की आवश्यकता है। यही इन गाथाओं में कहा गया है।

[गाथा १९]

१८–शिष्य एक शंका उपस्थित करता है कि—अनादिकाल से अज्ञानी जीव की अज्ञानदशा–अप्रतिबुद्धता कब तक बनी रहती है ? उसका समाधान करते हुये आचार्यदेव कहते हैं कि—

जब तक इस आत्मा के ऐसी बुद्धि बनी रहती है कि—'भावकर्म', द्रव्य कर्म, और शरीरादि नोकर्म मैं हूँ ' और मुझमें यह भावकर्म–द्रव्य कर्म–नोकर्म विद्यमान हैं, ' तब तक यह आत्मा अज्ञानी बना रहता है।

१९–अनादिकाल से जीवके जो अज्ञान चला आरहा है उसमें जीव क्या भूल कर रहा है यह इस १९ वीं गाथामें बताया गया है। यदि जीव अपनी भूलको समझले तो वह उसे टाल दे; इसलिये उस भूलको दूर करने के लिये यहाँ बताया है कि:—

(१) जीव परवस्तु को इष्ट–अनिष्ट मानता है; जीवकी यह भावकर्मरूप मूल भूल है।

(२) सूक्ष्म रजकणरूप द्रव्यकर्म आत्मा में विद्यमान हैं, और शरीरादिका जो संयोग है वह निज में है–इस प्रकार जीव मानता है। जीवकी यह अनादिकालसे चली आनेवाली द्रव्यकर्म और शरीरादि संबंधी भूल है।

[गाथा २० से २२]

२०—इन तीन गाथाओं में जीवको अपना अज्ञान दूर करने और ज्ञान प्राप्त करने के लिये ऐसे चिन्ह दिये गये हैं जिन से अज्ञानी और ज्ञानी दोनों के लक्षण जाने जा सकें।

अज्ञानीको पहचानने के चिह्न

२१—अज्ञानी को पहचानने के निम्न लिखित चिन्ह बताये गये हैं [गाथा २०–२१]

अपने से भिन्न जो परद्रव्य-सचित स्त्री पुत्रादि और अचित धनधान्यादि अथवा मिश्र ग्रामनगरादि हैं उन्हें जो जीव यह समझता है कि—१-मैं यह हूं, २-यह द्रव्य मम स्वरूप है, ३-मैं इसका हूं, ४-यह मेरा है, ५-यह पहले मेरा था, ६-मैं पहले इसका था, ७-यह भविष्य में मेरा होगा, ८-मैं भविष्य में इसका होऊंगा, सो वह अज्ञानी है।

२२—गाथा २२ के पूर्वार्ध में कहा है कि—जो जीव आत्मीयता के ऐसे झूठे विकल्प करता है वह मूढ़-मोही अज्ञानी है।

ज्ञानीको पहचानने के चिन्ह

२३—गाथा २२ के उत्तरार्ध में ज्ञानी जीव का चिन्ह बताते हुये कहा है कि-जो जीव परमार्थ [भूतार्थ] वस्तु स्वरूपको जानता हुआ ऐसा झूठा विकल्प नहीं करता वह मूढ़ नहीं है,-प्रत्युत ज्ञानी है।

२४—यह गाथा सिद्ध करती है कि-स्वयं ज्ञानी हुआ है या नहीं, यह जीव स्वयं उपरोक्त चिन्ह से निश्चय कर सकता है। इस प्रकार चिन्ह से पहचानना सो भावश्रुतज्ञान है।

कोई कहते हैं कि-'जब जीवको अवधिज्ञान हो जाता है तभी वह यह अचूक जान पाता है कि वह स्वयं ज्ञानी हुआ है। उस ज्ञान से अथवा उससे उच्चप्रकार के ज्ञान-मनःपर्यय और केवलज्ञान से जो निर्णय हो वह अचूक होता है। किन्तु श्रुतज्ञान में भूल रहित-अचूक निर्णय न भी हो यह संभव है।' यह धारणा बिलकुल मिथ्या है। भावश्रुतज्ञान प्रमाणज्ञान है और प्रमाणज्ञान सदा सत्य होता है; अर्थात् वह संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय रहित होता है। इसलिये जीव निःशंक होकर यह सत्य निर्णय कर सकता है कि वह स्वयं श्रुतज्ञान से ज्ञानी हुआ है।

२५—जिन जीवोंको केवलज्ञान होता है उनमें अवधिज्ञान रहित जीवोंकी संख्या बहुत बड़ी होती है, और अवधिज्ञानवाले जीवोंकी संख्या कम होती है। यदि अवधिज्ञान के विना यह नहीं जाना जा सकता होता कि वह स्वयं ज्ञानी हुआ है तो इस का यह अर्थ होगा कि वह जीव यह वास्तविक निर्णय नहीं कर सके थे कि वे स्वयं सम्यग्दृष्टि हुये हैं। और यह अर्थ बिलकुल मिथ्या है-भूल से भरा हुआ है।

२६—वास्तविक स्वरूप ऐसा है कि-जो जीव भाव श्रुत द्वारा भूलरहित यह यथार्थ निर्णय नहीं कर सकता कि वह स्वयं सम्यग्दृष्टि है या नहीं, उसे कदापि अवधिज्ञान हो ही नहीं सकता। हां, विभंगावधिज्ञान होता है, किन्तु वह तो मिथ्यादृष्टि के होता है।

२७—इस गाथा में यह स्पष्ट बताया है कि कौन जीव ज्ञानी कहलाता है और वह किन चिन्हो से जाना जा सकता है।

[गाथा २३ से २५]

२८—इन गाथाओं में आचार्य भगवानने अप्रतिबुद्ध को समझाने का प्रयत्न किया है। आत्माके यथार्थ स्वरूपको नहीं समझनेवाले जीवों को अज्ञानी, अप्रतिबुद्ध, पर्यायबुद्धि अथवा मिथ्यादृष्टि कहा जाता है। यह गाथायें अनादिकालीन अज्ञानियों को लक्ष करके कही गई हैं। इस गाथामें आचार्य देव कहते हैं किः—

अज्ञान से जिसकी मति मोहित हुई है वे जीव बद्ध और अबद्ध पुद्गल द्रव्य को 'यह मेरा है' इसप्रकार मानता है। (शरीरादि बद्ध पुद्गल द्रव्य हैं और धनधान्यादि अबद्ध पुद्गल द्रव्य है) वैसे जीव को कहते हैं कि वीतराग सर्वज्ञ देव के ज्ञानमें जीव सदा उपयोग लक्षण वाला—दिखाई देता है। तब फिर तेरा जीव पुद्गल कैसे हो सकता है जिससे तू यह मानता है कि 'यह मेरा है?' यदि जीव पुद्गल होजाता होता अथवा पुद्गल जीव होजाता होता तब तू यह भले मान लेता कि "पुद्गल द्रव्य मेरा है;" किन्तु ऐसा तो कभी होता नहीं है।

२९—इस प्रकार उपदेश देकर अप्रतिबुद्ध को मिथ्या मान्यता छोड़ने को समझाया है।

[गाथा २६]

३०—आचार्य भगवान के कथन को सुनने का इच्छुक जीव अज्ञानी है, किन्तु वह अपने अज्ञान को दूर करने में रुचि रखता है, इसलिये विशेष जानने के लिये वह अज्ञानी (अप्रतिबुद्ध) स्वयं प्रश्न के रूपमें यह गाथा कहता है। उस प्रश्न की गाथा में अप्रतिबुद्ध शिष्य कहता है किः—

जो जीव है वह यदि शरीर न हो तो तीर्थंकर भगवान तथा आचार्य की जो स्तुति करते है वह सब मिथ्या होजाय; इसलिये हमतो समझते हैं कि जीव शरीर ही है।

३१—अप्रतिबुद्ध उपरोक्त २३, २४, २५ वीं गाथाओं को सुनकर यह प्रश्न उपस्थित करता है, और उस प्रश्न में स्वयं कहता है कि हम तो जीव और शरीर को एक ही मानते हैं। वह इसके समर्थन में भगवान तथा आचार्यदेव के शरीर की की जाने वाली स्तुतियों को प्रमाण के रूपमें उपस्थित करता है और कहता है कि मेरी बात को शास्त्रका समर्थन प्राप्त है। यह प्रश्न स्पष्ट सूचित करता है कि यह शास्त्र मुख्यतया अज्ञानी को समझाने के लिये बनाया गया है।

[गाथा २७ से ३० : व्यवहार स्तुति का स्वरूप]

३२—अज्ञानीने गाथा २६ में जो अपनी मान्यता व्यक्त की है वह भ्रमपूर्ण है यह बताकर उसे यथार्थ स्वरूप समझाने के लिये आचार्यदेवने यह गाथायें कही हैं।

३३—यहांपर आचार्यदेव अज्ञानी से कहते हैं कि भाई! तू नय के स्वरूप को ठीक ठीक नहीं जानता, इसलिये शरीर की स्तुति के शब्दों से तूने जीव और शरीर को एक मान लिया है। जो जीव नय विभाग को भलीभांति जानते हैं वे इस स्तुति के भाव को बराबर समझते हैं। इसलिये गाथाओं में उस स्तुति का वास्तविक अर्थ बताया गया है।

३४—गाथा २७ में कहा है कि—सोना चांदी को एक पिण्डरूपमें कहने—बोलने की प्रथा है; किन्तु इसीलिये सोना चांदी एक नहीं होजाते। इसी प्रकार शरीर और जीव आकाश के एक ही भाग में स्थित हैं, इसलिये उन्हें एक क्षेत्रावगाही होने की अपेक्षा से एक कह दिया जाता है; किन्तु वास्तव में वे दोनों भिन्न हैं, इसलिये वे दोनों एक पदार्थ कदापि नहीं हो सकते। एक क्षेत्रावगाही होने की अपेक्षा को लक्ष में रख कर जो एक रूपमें कहने की रीति है उसे शास्त्र की परिभाषा में व्यवहारनय कहा जाता है; और क्योंकि वस्तु भिन्न है इसलिये वह कदापि एक नहीं हो सकती। इस कथन को शास्त्र में निश्चयनय कहा गया है।

३५—ज्ञानीजन स्तुतियों के भाव को बराबर समझते हैं, इसलिये वे उसका अर्थ इस प्रकार करते हैं कि—यद्यपि स्तुति के शब्द शरीर को लक्ष करके हैं, तथापि उनके लक्षमें तीर्थंकर देव तथा आचार्य के आत्माकी शुद्धता की स्तुति कीजाती है। उपरोक्त गाथाओं का ऐसा अर्थ है और यहां यह कहा है कि यह स्तुति व्यवहार स्तुति है। व्यवहार स्तुति कहने का अर्थ यह है कि केवली भगवान और आचार्य महाराज उस स्तुति करनेवाले जीव से पर हैं, इसलिये परकी स्तुति में राग आये बिना नहीं रहता। यद्यपि उसके द्वारा शुभभाव होता है किन्तु वह धर्म नहीं है। [देखो गाथा २८]

३६—इस विषय को स्पष्ट करने के लिये २९ वीं गाथामें कहा है कि शरीर के गुणों के द्वारा केवली की स्तुति करना सो व्यवहार स्तुति है, वह निश्चय स्तुति नहीं है। निश्चय स्तुति तो केवली के गुणों को अपने में अंशतः प्रगट करना है वह परमार्थ से केवली की स्तुति है।

३७—शरीर के गुणों द्वारा केवली भगवानकी स्तुति करना सच्ची स्तुति नहीं है, यह बताने के लिये ३० वीं गाथा में दृष्टान्त दिया है। उस दृष्टान्त में कहा है कि जैसे नगर की स्तुति करने से राजा की वास्तविक स्तुति नहीं होजाती, वैसे ही देह गुण की स्तुति करने से केवली भगवान की सच्ची स्तुति नहीं होजाती।

३८—इसप्रकार व्यवहार स्तुति का स्वरूप समझाया है (यदि प्रकारान्तर से कहा जाय तो व्यवहारनय का स्वरूप समझाया है)। इसमें कहा गया है कि व्यवहारनय से भगवान की जो स्तुति की जाती है उसमें शुभभाव होता है, इसलिये वह सच्ची स्तुति नहीं है। सच्ची स्तुति तो वह है जिसके द्वारा शुद्धभाव प्रगट हो। आचार्य भगवानने अज्ञानी का अज्ञान दूर करने के लिये गाथा ३१, ३२, ३३ में निश्चय स्तुति का स्वरूप कहा है। उसके समझ लेने पर निश्चय ही अज्ञान दूर होजाता है।

[गाथा ३१, ३२, ३३ : निश्चयस्तुतिका स्वरूप]

३९—जीवकी अनादि काल से अज्ञानदशा चली आ रही है, इसलिये जीव कभी निश्चय स्तुति के स्वरूपको नहीं समझ पाया। उस अज्ञानको दूर करने के लिये इस गाथा में निश्चय स्तुति का स्पष्ट स्वरूप कहा गया है।

४०—अनादिकाल से जीवने यह मान रखा है कि इन्द्रियां अपनी हैं, और यह मान रखा है कि उन इन्द्रियों की सहायता से ज्ञान होता है। इसीलिये इन्द्रियों के द्वारा ज्ञात पदार्थों का संग कर रखा है। यहांपर समझाया है कि:—उन द्रव्य इन्द्रियों—भावेन्द्रियों और इन्द्रियों के विषय भूत पदार्थों से तेरा स्वरूप बिलकुल भिन्न है; तू ज्ञानस्वरूप है, इसलिये निर्मल भेदाभ्यास की प्रवीणता प्राप्त करके, अन्तरंगमें प्रगट अति सूक्ष्म चैतन्य स्वभाव के बल से यह निश्चय करना चाहिये कि वे द्रव्येन्द्रियां अपने से

भिन्न हैं। और यह निश्चित करना चाहिये कि तू एक अखण्ड चैतन्य शक्तिरूप है, इसलिये तू खण्ड-खण्ड ज्ञान रूप नहीं है। तथा तू स्पर्शादि पदार्थों से असंग है। यों तीन प्रकार समझाकर कहा है कि (१) जीवको चैतन्य के अवलम्बन का ही बल है, (२) जीव अखण्ड ज्ञान-स्वरूप है, (३) जीव असंग है। इसप्रकार निश्चय करने से जितेन्द्रिय हुआ जाता है। इसलिये प्रथम इस मान्यता को प्रगट करना सो यह मान्यता ही जितेन्द्रियत्व है, और वह धर्म का प्रारंभ है।

४१—यह प्रारंभिक निश्चय स्तुति है, यह जघन्य निश्चयस्तुति है, यह भगवान की सच्ची स्तुति है।

प्रश्न—इसमें भगवानकी स्तुति कहां है? इसमें तो भगवान का नाम तक नहीं लिया गया।

उत्तर—जिसकी स्तुति की जाती है उसके गुणोंका अंश भी यदि स्वयं अपने में प्रगट किया जाय तो वह सच्ची स्तुति है। सम्यग्दर्शन भगवान में प्रगट हुये गुणों का एक अंश है, इसलिये सम्यग्दर्शन का प्रगट करना सो भगवान की अल्पातिअल्प सच्ची स्तुति है। सम्यग्दर्शन ही सच्ची स्तुति-भक्ति है। (देखिये गाथा ३१) इसप्रकार अज्ञानी को सच्ची स्तुति (सच्ची भक्ति) समझाकर इस गाथा में उसके अज्ञानको दूर करनेका प्रयत्न किया गया है।

४२—भगवान की सब से छोटी स्तुति को कहने के बाद उससे ऊपर की स्तुति ३२ वीं गाथा में बताई है। सम्यग्दृष्टि जीव अपनी शुद्धता का अभ्यासी होकर-साधुता प्राप्त करके निर्विकल्प दशा में आगे बढ़कर मोह पर विजय प्राप्त करे सो भगवान की अधिक उच्च सच्ची स्तुति है। इस स्तुति के बाद सर्वोच्च स्तुति वह है जब सम्यग्दृष्टि साधु क्षीणमोह दशा को प्राप्त करले। यह ३३ वीं गाथा में बताया गया है।

४३—क्षीणमोहदशा केवलदशा से नीचे है, इसलिये वहांतक की शुद्ध दशा को निश्चय-स्तुति कहा गया है। किन्तु केवलज्ञान के प्रगट होने पर समानता होजाती है। इसलिये उस दशाको निश्चय स्तुति नहीं कहा जा सकता इसप्रकार अज्ञानी के लिये सच्ची स्तुति के ३ प्रकार बताये हैं। पहली स्तुति चौथे गुणस्थान में प्रगट होती है। इसके प्रगट हुये बिना किसी भी जीव के ऊपर की स्तुति प्रगट नहीं हो सकती।

४४—गाथा ३१ में कही गई निश्चय स्तुति को ज्ञेय-ज्ञायक संकर दोषका परिहार, और गाथा ३२ में कही गई निश्चय स्तुति को भावक भाव्य संकर दोष का दूर होना तथा गाथा ३३ में कही गई उत्कृष्ट स्तुति को भावक भाव्य संकर दोष के अभावके नाम से भी पहचाना जाता है।

४५—गाथा २६ में अज्ञानी जीवने कहा था कि भगवान और आचार्य की स्तुति में जो वचन कहे जाते हैं उससे ज्ञात होता है कि वे यह मानते हैं कि देह और जीव एक है। इस प्रश्न के उत्तर में आचार्यदेवने उसे करुणापूर्वक नय दृष्टि से व्यवहार और निश्चय स्तुति का स्वरूप गाथा २७ से ३३ तक समझाया है। इसस्वरूप को समझने पर शिष्य के अज्ञान पटल दूर हुये और वह ज्ञानी हुआ। उसने अपने स्वरूपको जाना और आत्मस्वरूप में स्थिर होने की जिज्ञासा होनेपर प्रत्याख्यान का स्वरूप गुरु मुख से सुनने के लिये प्रत्याख्यान के संबंधमें प्रश्न किया कि-इस आत्माराम का अन्यद्रव्यों का प्रत्याख्यान (त्याग) क्या है। आचार्य देवने उसे उत्तर दिया कि—जो यह कहा जाता है कि जो प्रत्याख्यान करने योग्य परभाव हैं उनका त्याग करना चाहिये वह वास्तव में तो स्वयं ज्ञान स्वभाव से न छूटना और अपने में स्थिर होना है इसलिये यह अनुभव करना चाहिये कि प्रत्याख्यान ज्ञान ही है।

[गाथा ३५]

४६—इस गाथामें प्रत्याख्यान का स्वरूप दृढ़ता पूर्वक समझने के लिये दृष्टांत और उसका सिद्धांत कहा गया है।

दृष्टांत—जो सज्जन किसी भी अन्य की वस्तु अपने पास आई हुई जानता है वह तत्कालही उसे छोड़ देता है।

उसीप्रकार—

सिद्धांत—सभीप्रकार के विकारी भाव अपना स्वरूप नहीं है यह जाननेवाले ज्ञानी उसका परित्याग करते हैं।

४७—सम्यग्ज्ञान प्राप्त करके परभावों का त्याग करना सो सच्चा प्रत्याख्यान है इसप्रकार आचार्यदेवने यहां समझाया है।

[शेष आगामी अंकमें]

मुद्रकः—चुनीलाल माणेकचंद रवाणी, शिष्ट साहित्य मुद्रणालय, दासकुंज, मोटा आंकडिया ता. २३-११-४६
प्रकाशकः—जमनादास माणेकचंद रवाणी, आत्मधर्म कार्यालय, मोटा आंकडिया, काठियावाड.

धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है ।

वर्ष २
अँक ९
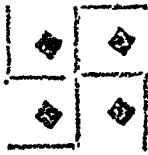
: संपादक :
रामजी माणेकचंद दोशी
वकील

पौष
२४७३

व्यर्थ का बखेड़ा

हे भाई! अनंतकाल से जो महा मूल्य बात कही जाती है उसे समझने का उत्साह होना चाहिये । जैसे मत्त सांढ़ घूरेको उखाड़ता है और उसकी धूल, राख, विष्टाको अपने ही सिर पर डालता है तथा गू, गोवर और राख इत्यादि के बहुत बड़े ढेर में अपना सिर मार-मारकर बड़े ही जोर से डकारता है और मानता है कि मैंने कितना बलप्रयोग किया, कितना सारा तोड़ा-फोड़ा और फैला दिया ।

किन्तु सांढ़ का वह व्यर्थ का बखेड़ा है, इसी प्रकार संसार के कुछ काम कर डालें इस प्रकार के अभिमान का व्यर्थ का बखेड़ा करके लोग उसमें हर्ष मानते हैं । अज्ञान भावमें संसार के घूरेको उठा फेंकने का बल करके संसार उछल कूद करता है किंतु उससे कुछ भी हाथ नहीं लगता, जहां भीतर भाव भरा हुआ है वहां झांककर जीव अपना सिर नहीं मारता ।

आत्मा एकरूप ज्ञायक ध्रुव टंकोत्कीर्ण वस्तु है. उसे विवेक का मस्तक मारकर जागृत करना है । अनादिकाल से अज्ञान में उछल कूद मनाई है, अब उस परकी ममता में सोते रहने से काम नहीं चलेगा ।

[समयसार प्रवचन (गुजराती) भाग-१ पृष्ठ २५८-२५९]

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

शाश्वत सुखका मार्ग दर्शक मासिक पत्र

एक अँक
पाँच आना

आत्मधर्म कार्यालय—मोटा आंकड़िया—काठियावाड़

आत्मधर्म वर्ष २ : २१ : पौष
अंक ९ : : २४७३

ज्ञानी कहते हैं कि सर्व प्रथम पुरुषार्थ के द्वारा यथार्थ ज्ञान करके

मिथ्यात्व भाव को छोड़ो

प्रश्न—यह जीव जैन का नामधारी त्यागी साधु अनंतवार हुआ फिर भी उसे अभी तक मोक्ष क्यों नहीं हुआ ?

उत्तर—जैन का नामधारी त्यागी साधु अनंत वार हुआ यह बात ठीक है, किंतु अंतरंगमें मिथ्यात्वरूप महापाप का त्याग एकवार भी नहीं किया इसलिये उसका संसार बना हुआ है, क्योंकि संसार का कारण मिथ्यात्व ही है।

प्रश्न—तो फिर त्यागी साधु हुआ उसका फल क्या ?

उत्तर—बाह्यमें जो पर द्रव्य का त्याग हुआ उसका फल आत्माको नहीं होता परंतु "मैं इस परद्रव्यको छोडूं" यह माने तो ऐसी परद्रव्यकी कर्तृत्व बुद्धि का महापाप आत्माको होता है और उसका फल संसार ही है। यदि कदाचित् कोई जीव बाहर से त्यागी न दिखाई दे परंतु यदि उसने सच्ची समझ के द्वारा अंतरंगमें पर द्रव्यकी कर्तृत्व बुद्धि का अनंत पाप त्याग दिया हो तो वह धर्मी है और उसके उस त्याग का फल मोक्ष है। पहले के नामधारी साधुकी अपेक्षा दूसरा मिथ्यात्व का त्यागी अनंत गुना उत्तम है। पहले को मिथ्यात्व का अत्याग होने से वह संसार में परिभ्रमण करेगा और दूसरेको मिथ्यात्व का त्याग होने से वह अल्पकाल में अवश्य मोक्ष जायगा।

प्रश्न—तब क्या हमें त्याग नहीं करना चाहिये ?

उत्तर—इस प्रश्न का उत्तर उपरोक्त कथन में आगया है। 'त्याग नहीं करना चाहिये' यह बात उपरोक्त कथनमें कहीं भी नहीं है प्रत्युत इस कथन में यह बताया है कि त्याग का फल मोक्ष और अत्याग का फल संसार किन्तु त्याग किसका ? मिथ्यात्व का या परवस्तु का ? मिथ्यात्व के ही त्याग का फल मोक्ष है, परवस्तु का ग्रहण अथवा त्याग कोई कर ही नहीं सकता तब फिर परवस्तु के त्याग का प्रश्न कहां से उठ सकता है। बाह्यमें जो पर द्रव्य का त्याग हुआ उसका फल आत्माको नहीं है। पहले यथार्थ ज्ञान के द्वारा पर द्रव्यमें कर्तृत्वकी बुद्धिको छोड़कर उस समझमें ही अनंत पर द्रव्य के स्वामीत्व का त्याग होता है। परमें कर्तृत्वकी मान्यता का त्याग करने के बाद जिस जिस प्रकार के राग भाव का त्याग करता है उस उस प्रकार के बाह्य निमित्त स्वतः ही दूर हो जाते हैं। बाह्य निमित्तों के दूर हो जाने का फल आत्माको नहीं मिलता, किन्तु भीतर जो राग भाव का त्याग किया उस त्याग का फल आत्मा को मिलता है।

इससे स्पष्टतया यह निश्चय होता है कि सर्व प्रथम 'कोई पर द्रव्य मेरा नहीं है और मैं किसी पर द्रव्य का कर्ता नहीं हूं' इस प्रकार दृष्टिमें (अभिप्रायमें, मान्यतामें) सर्व पर द्रव्यके स्वामीत्व का त्याग हो जाना चाहिये जब ऐसी दृष्टि होती है तभी त्याग का प्रारंभ होता है अर्थात् सर्व प्रथम मिथ्यात्व का ही त्याग होता है। जबतक ऐसी दृष्टि नहीं होती और मिथ्यात्व का त्याग नहीं होता तबतक किंचित् मात्र भी सच्चा त्याग नहीं होता और सच्ची दृष्टिपूर्वक मिथ्यात्व का त्याग करने के बाद क्रमशः ज्यों ज्यों स्वरूप की स्थिरता के द्वारा राग का त्याग करता हैं त्यों त्यों उसके अनुसार बाह्य संयोग स्वयं छूटते जाते हैं परद्रव्य पर आत्मा का पुरुषार्थ नहीं चलता इसलिये परद्रव्य का ग्रहण-त्याग आत्मा के नहीं है किन्तु अपने भाव पर अपना पुरुषार्थ चल सकता है और अपने भाव का ही फल आत्माको है।

ज्ञानी कहते हैं कि सर्व प्रथम पुरुषार्थ के द्वारा यथार्थ ज्ञान करके मिथ्यात्व भावको छोड़ो यही मोक्ष का कारण है।

युवकों और विद्वानों से — सत्ता स्वरूप शास्त्र के कुछ नमूने

जिज्ञासुओंको पहले क्या करना चाहिये ?

तत्त्व निर्णयरूप धर्म तो, बालक, वृद्ध, रोगी, निरोगी, धनवान, निर्धन सुक्षेत्री तथा कुक्षेत्री आदि सभी अवस्था में प्राप्त होने योग्य है, इसलिये जो पुरुष अपना हित चाहता है उसे सबसे पहले यह तत्त्व निर्णयरूप कार्य ही करना योग्य है। कहा है कि:—

न क्लेशो न धनव्ययो न गमनं देशांतरे प्रार्थना।
केषांचिन्न बलक्षयो न तु भयं पीड़ा न कस्माश्च न॥
सावद्यं न न रोग जन्म पतनं नैवान्य सेवा न हि।
चिद्रूपं स्मरणे फलं बहुतरं किन्नाद्रियंते बुधाः॥

अर्थ—चिद्रूप (ज्ञान स्वरूप) आत्मा का स्मरण करने में न तो क्लेश होता है, न धन खर्च करना पडता है, न ही देशांतर में जाना पड़ता है, न कोई पासमें प्रार्थना करनी पड़ती है, न बल का क्षय होता है, न ही किसी तरफ से भय अथवा पीड़ा होती है; और वह सावद्य भी (पाप का कार्य) नहीं है, उससे रोग अथवा जन्म मरण में पड़ना नहीं पड़ता, किसी की सेवा नहीं करनी पड़ती, ऐसी बिना किसी कठिनाई के ज्ञान स्वरूप आत्मा के स्मरण का बहुत फल है तब फिर समझदार पुरुष उसे क्यों नहीं ग्रहण करते ?

और फिर जो तत्त्व निर्णय के सन्मुख नहीं हुये हैं, उन्हें जागृत करने के लिये उलाहना दिया है कि—

साहीणे गुरु जोगे जेण सुणंतीह धम्मवयणाई।
ते धिट्ठदुट्ठ चित्ता अह सुहडा भवभय विहुणा॥

अर्थ—गुरु का योग स्वाधीन होने पर भी जो धर्म वचनोंको नहीं सुनते वे धृष्ठ और दुष्ट चित्तवाले हैं अथवा वे भवभयरहित (जिस संसार भय से तीर्थंकरादि डरे उससे भी नहीं डरनेवाले उल्टे) सुभट हैं।

जो शास्त्राभ्यास के द्वारा तत्त्व निर्णय नहीं करते और विषय कषाय के कार्यों में ही मग्न रहते हैं वे अशुभोपयोगी मिथ्यादृष्टि हैं तथा जो सम्यग्दर्शन के बिना पूजा, दान, तप, शील, संयमादि व्यवहार धर्म में (शुभभावमें) मग्न हैं वे शुभोपयोगी मिथ्यादृष्टि है।

इसलिये भाग्योदय से जिनने मनुष्य पर्याय पाई है उनको तो सर्व धर्म का मूल कारण सम्यग्दर्शन और उसका कारण तत्त्व-निर्णय तथा उसका भी जो मूल कारण शास्त्राभ्यास है वह अवश्य करना चाहिये।

किंतु जो ऐसे अवसर को व्यर्थ गंवाते हैं उनपर बुद्धिमान करुणा करके कहते हैं कि:—

प्रज्ञैव दुर्लभा सुष्ठु दुर्लभा सान्यजन्मने।
तां प्राप्त ये प्रमाद्यंति ते शोच्याः खलु धीमताम्॥

(आत्मानुशासन गाथा—९४)

अर्थ:—संसारमें बुद्धिका होना ही दुर्लभ है और फिर उसमें भी परलोक के लिये बुद्धि का होना तो और भी दुर्लभ है ऐसी बुद्धि पाकर जो प्रमाद करते हैं उन जीवों को ज्ञानी बहुत ही शोचनीय दृष्टि से देखते हैं।

इसलिये जिसे सच्चा जैनी होना है उसे तो शास्त्रके आधार से तत्त्व निर्णय करना उचित है किन्तु जो तत्त्व निर्णय तो नहीं करता और पूजा स्तोत्र दर्शन, त्याग, तप, वैराग्य, संयम, संतोष आदि सभी कार्य करता है उसके यह सब कार्य असत्य हैं।

इसलिये आगम का सेवन, युक्ति का अवलंबन, परंपरा से गुरुओं के उपदेश और स्वानुभव के द्वारा तत्त्व का निर्णय करना चाहिये। जिन वचन तो अपार है उसका पार तो श्री गणधर देव भी प्राप्त नहीं कर सके इसलिये जो मोक्षमार्ग की प्रयोजनभूत रकम है उसे निर्णय पूर्वक अवश्य जाननी चाहिये। कहा भी हैं कि—

अंतोणत्थि सुईणं कालो थोआवयं च दुम्मेहा।
तंणवर सिक्खियवं जिं जरमरण क्खयं कुणहि॥

(पाहुड दोहा ९८)

अर्थ:—श्रुतियों का अंत नहीं है काल थोडा है और हम निर्बुद्धि (अल्पबुद्धिवाले) हैं इसलिये हे जीव ! तुझे तो वह सीखना चाहिये जिससे तू जन्म मरण का नाश कर सके।

आत्महित के लिये सर्वप्रथम सर्वज्ञका निर्णय करना चाहिये

तुम्हें यदि अपना भला करना हो तो सर्व आत्महित का मूलकारण जो आप्त है उसके सच्चे स्वरूप का निर्णय करके ज्ञान में लाओ क्योंकि सर्व जीवों को

सुख प्रिय है। सुख भावकर्मों के नाश से प्राप्त होता हैं, भाव कर्मों का नाश सम्यक्चारित्र से होता है, सम्यक्चारित्र सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान पूर्वक होता है, सम्यग्ज्ञान आगमसे होता है, आगम किसी वीतराग पुरुष की वाणी से उत्पन्न होता है और वह वाणी किसी वीतराग पुरुष के आश्रित है इसलिये जो सत्पुरुष हैं उन्हें अपने कल्याण के लिये सर्व सुख का मूलकारण जो आप्त—अरहंत सर्वज्ञ है उनका युक्तिपूर्वक भलीभांति सर्व प्रथम निर्णय करके आश्रय लेना चाहिये।

अब जिनका उपदेश सुनते हैं और जिनके कहे हुये मार्ग पर चलना चाहते हैं तथा जिनकी सेवा पूजा, आस्तिकता, जाप, स्मरण, स्तोत्र, नमस्कार और ध्यान करते हैं ऐसे जो अरहंत सर्वज्ञ है उनका स्वरूप पहले अपने ज्ञान में जो प्रतिभासित हुआ ही नहीं है तब फिर तुम निश्चय किये विना किसका सेवन करते हो।

लोक में भी इसी प्रकार—अत्यंत निष्प्रयोजन बात का निर्णय करके प्रवृत्ति की जाती है और इधर तुम आत्महित के मूल आधारभूत अरहंतदेव का निर्णय किये विना ही प्रवृत्ति कर रहे हो यह बड़े ही आश्चर्य की बात है।

और फिर तुम्हें तो निर्णय करने योग्य ज्ञान भी प्राप्त हुआ है इसलिये तुम इस अवसर को वृथा न गंवाओ। आलस्य आदि छोड़कर उसके निर्णय में अपने को लगाओ, जिससे तुम्हें वस्तु का स्वरूप, जीवादि का स्वरूप, स्वपरका भेद विज्ञान, आत्मा का स्वरूप, हेय-उपादेय और शुभ-अशुभ-शुद्ध अवस्थारूप, अपने पद-अपद का स्वरूप सर्वप्रकारसे यथार्थ ज्ञात हो सके। इसलिये सर्व मनोरथ सिद्ध करने का उपाय जो अर्हंत-सर्वज्ञ का यथार्थ ज्ञान है वह जिस प्रकार से सिद्ध हो वह प्रथम करना योग्य है।

सबसे पहले अर्हंत सर्वज्ञ का निर्णय करने रूप कार्य करना चाहिये यही श्री गुरुकी मूल शिक्षा है।

सच्चा ज्ञान सम्यग्दृष्टि के होता है

अपने अपने प्रकरण में अपना अपना ज्ञेय संबंधी यथार्थ जानने का अल्प अथवा विशेष ज्ञान सर्वज्ञ के होता है क्योंकि लौकिक कार्य तो सभी जीव यथार्थ ही करते हैं इसलिये लौकिक सम्यग्ज्ञान सभी जीवों के थोड़ा बहुत बना ही रहता है किन्तु मोक्षमार्ग में प्रयोजनभूत जो आप्त आगम आदि पदार्थ हैं उनका यथार्थ ज्ञान सम्यग्दृष्टि को ही होता है तथा सर्वज्ञेय का ज्ञान केवली भगवान को ही होता है, यह जानना चाहिये।

जिनमत की आज्ञा

कोई कहता है कि सर्वज्ञ की सत्ता का निश्चय हम से नहीं हुआ तो क्या हुआ? यह देव तो सच्चे हैं, इनकी पूजन आदि करना निष्फल थोड़े ही जाता है?

उत्तर—जो तुम्हारी किंचित् मंद कषाय रूप परिणति होगी तो पुण्य बंध तो होगा किन्तु जिनमत में तो देव के दर्शन से आत्मदर्शन रूप फल होना कहा है वह तो नियम से सर्वज्ञ की सत्ता जानने से ही होगा अन्य प्रकार से नहीं यही श्री प्रवचनसार में कहा है।

और फिर तुम लौकिक कार्यों में तो इतने चतुर हो कि वस्तु की सत्ता आदि का निश्चय किये विना सर्वथा प्रवृत्ति नहीं करते और यहां तुम सत्ता का निश्चय भी न करके सयाने अनध्यवसायी (विना निर्णय के) होकर प्रवृत्ति करते हो यह बड़ा आश्चर्य है? श्री श्लोक-वार्तिक में कहा है कि—जिसके सत्ता का निश्चय नहीं हुआ, परीक्षकको उसकी स्तुति आदि कैसे करना उचित है। इसलिये तुम सर्व कार्यों से पहले अपने ज्ञानमें सर्वज्ञ की सत्ता को सिद्ध करो, यही धर्मका मूल है और यही जिनाम्नाय है।

आत्मकल्याण के अभिलाषियों से अनुरोध

जिन्हें आत्मकल्याण करना है उन्हें पहले जिनवचन के आगम का सेवन, युक्ति का अवलंबन, परंपरा गुरु का उपदेश, तथा स्वानुभव इत्यादि के द्वारा प्रमाण नय निक्षेप आदि उपाय से वचन की सत्यता का अपने ज्ञानमें निर्णय करके गम्यमान हुये सत्यरूप साधन के बल से उत्पन्न जो अनुमान है उससे सर्वज्ञ की सत्ता को सिद्ध करके उनका श्रद्धान ज्ञान-दर्शन पूजन भक्ति और स्तोत्र नमस्कारादि करना चाहिये।

अपना भला बुरा अपने परिणामों से ही होता है इसप्रकार माननेवाला भगवान का सच्चा सेवक है

जो यह मानता है कि अपना भला बुरा होना अपने परिणामों पर निर्भर है और उसी रूप स्वयं प्रवृत्ति करता है तथा अशुद्ध कार्यों को छोड़ता है वही जिनदेव का सच्चा सेवक है।

जिसे जिनदेव का सच्चा सेवक होना हो तथा जिनदेव के द्वारा उपदिष्ट मार्गरूप प्रवृत्ति करना हो उसे सबसे पहले जिनदेव के सच्चे स्वरूप का अपने ज्ञानमें निर्णय करके उसका श्रद्धान करना चाहिये, उसका यही कर्तव्य है।

: : अरिहंतोंने क्या किया और क्या कहा है ? : :

——परम पूज्य श्री कानजी स्वामी का (गुजराती) मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ ३२७ पर प्रवचन——

अरिहंतपना तो आत्मा की पूर्ण पवित्रदशा है; शरीर में अथवा वाणी में अरिहंतपना नहीं है किन्तु अपने ज्ञानादिगुणों की जो पूर्ण प्रगट दशा होगई है उसी पूर्णदशा में ही अरिहंतपना है। उस अरिहंत दशा को प्रगट करने वाली आत्माओंने पहले क्या किया था और कौनसे उपाय करने से उनके अरिहंत दशा प्रगट हुई थी? वह पहले जानने की जरूरत है।

जिन जीवों के अरिहंतदशा प्रगट हुई है वे जीव पहले संसारदशामें थे पीछे आत्म स्वभाव की यथार्थ रुचि होनेपर सच्चे ज्ञानके द्वारा अपना परिपूर्ण आत्म स्वरूप उनने जाना और सच्ची श्रद्धा की। 'मैं शुद्ध स्वभावी आत्मा हूं, परवस्तु से मैं भिन्न हूं, मेरी शुद्धता मेरे स्वभाव के अवलंबन से प्रगट होती है किन्तु परवस्तु से मेरी शुद्ध दशा प्रगट नहीं होती तथा जो राग होता है वह मेरा मूल स्वरूप नहीं है, परवस्तु मेरा कुछ नहीं करती और मैं परवस्तु का कुछ नहीं करता' इसप्रकार उन आत्माओंने यथार्थतया जाना और माना, उसके बाद उसी श्रद्धा और ज्ञानको घोंटते घोंटते क्रमशः स्वभाव की ओर की स्थिरता बढ़ती गई और रागद्वेष छूटता गया। अंतमें परिपूर्ण पुरुषार्थ के द्वारा संपूर्ण स्वरूप की स्थिरता करके उन आत्माओंने वीतरागता और केवलज्ञान प्रगट किया संपूर्ण वीतरागता और संपूर्ण ज्ञान ही आत्मा की अरिहंतदशा है। इस-प्रकार अरिहंत दशा को प्रगट करने-वाले आत्माओंने सर्वप्रथम आत्मा की रुचि के द्वारा सच्ची श्रद्धा और ज्ञान किया, तत्पश्चात् स्थिरता के द्वारा वीतरागता और संपूर्णज्ञान रूप अरिहंत दशा प्रगट की। अरिहंत दशा प्रगट होनेपर पूर्व के पुण्य के कारण दिव्यध्वनि खिरी, उस दिव्य-ध्वनि में भगवानने क्या कहा?

यह ध्यान रखना चाहिये कि दिव्यध्वनि अरिहंत भगवान के आत्मा का गुण नहीं है किन्तु जड़ परमाणुओं की अवस्था है। वास्तव में उस दिव्य-ध्वनि का कर्ता आत्मा नहीं है। आत्मा अपने संपूर्ण ज्ञान और वीतरागता का कर्ता है। दिव्यध्वनि तो परमाणुओंकी अवस्था है किंतु भगवान की पूर्णदशा का निमित्त पाकर उस वाणीमें भी पूर्ण कथन आता है। जो उपाय करने से भगवान ने अपनी पूर्ण अरिहंतदशा प्रगट की उस उपाय का कथन उस वाणी में आता है। जैसा आत्म-स्वभाव स्वयं जाना वैसा परिपूर्ण आत्म स्वभाव का स्वरूप उस वाणी में कहा है और उस स्वरूपकी प्राप्ति क्या करने से होती है? वह भी उस वाणी में आता है। अरिहंत भगवान दिव्यध्वनि द्वारा कहते हैं कि:—

जैसा मैं परिपूर्ण आत्मा हूं वैसे ही जगत् के सभी जीव परिपूर्ण स्वभाव है। मैने अपनी परिपूर्ण सर्वज्ञ वीतरागदशा प्रगट की है उसी प्रकार सभी जीव प्रगट कर सकते हैं। मैंने अपनी परिपूर्ण दशा अपने स्वभाव में से प्रगट की है वह किसी परवस्तु में से नहीं आई है तथा जगत् के सभी जीवों की दशा अपने स्वभाव में से ही प्रगट होती है। मैं पर द्रव्यों से भिन्न हूं किसी पर वस्तुको मैं नहीं कर सकता इसी प्रकार जगत् के सभी जीवों का स्वरूप भी रागरहित संपूर्ण है इसप्रकार प्रथम स्वाधीन स्वरूपको जानकर उस की श्रद्धा करो उसी स्वभावकी श्रद्धा ओर ज्ञान के दृढ़ अभ्यास से स्थिरता करके राग का नाश करने पर वीत-रागता प्रगट होकर केवलज्ञान दशा प्रगट होती है यही अरिहंत दशा प्रगट करने का उपाय है। इसप्रकार श्री अरिहंत भगवान ने कहा है।

इसप्रकार अरिहंत भगवानने क्या किया और कहा यदि जीव उसे भलीभांति पहचान ले तो स्वयं वे उपाय करे और उन से विरुद्ध उपायों को छोड़दे।

सार

(१) अरहंतदशा को प्रगट करने से पूर्व अरिहंत भगवान का सच्चा स्वरूप जानना चाहिये।

(२) अरिहंत भगवान आत्मा थे और आत्मा में से ही उनने अरिहंत दशा प्रगट की है।

(३) जैसा अरिहंत का आत्मा है वैसे ही समस्त आत्मा हैं, और सभी आत्मा सच्चे उपाय से पूर्ण दशा प्रगट कर सकते है।

(४) अरिहंत के आत्मा ने पहले आत्मा का सच्चा ज्ञान और सच्ची श्रद्धा की थी. एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ नहीं कर सकता और राग

मेरा स्वभाव नहीं है इसप्रकार स्वभाव को जानने के बाद उन्होंने स्थिरता के द्वारा रागको छोड़ा था और केवलज्ञान-अरिहंत दशा प्रगट की थी। इसलिये जीवोंको पहले सच्ची श्रद्धा और सच्चा ज्ञान ही करना चाहिये। तत्पश्चात् स्थिरता के द्वारा राग के त्याग का प्रयत्न करना चाहिये।

इसप्रकार श्री अरिहंत भगवान का संदेश जगत् के सर्व जीवोंको सच्चे धर्मकी वृद्धि करने के लिये है।

कार्य में निमित्त और उपादान के कितने प्रतिशत होते हैं?

प्रश्न—आत्मा के विकार भाव में कर्म निमित्तरूप तो है न? कर्म निमित्त है इसलिये पचास प्रतिशत कर्म कराता है और पचास प्रतिशत आत्मा करता है इसप्रकार दोनों मिलकर विकार करते हैं? शास्त्रों में कहा है कि कार्य में उपादान कारण और निमित्त कारण दोनों होते हैं तब क्या दोनों ५०—५० प्रतिशत कार्य करते हैं?

उत्तर—निमित्त है इतनी बात सत्य है किन्तु कार्य का ५० प्रतिशत निमित्त से हो और ५० प्रतिशत उपादान से हो यह बात तीनकाल और तीनलोक में सर्वथा असत्य है। कार्य में निमित्त का एक भी प्रतिशत नहीं है। उपादान का शत प्रतिशत उपादान में और निमित्त का शत प्रतिशत निमित्त में है। एक का दूसरे में एक भी प्रतिशत नहीं है दोनों द्रव्य स्वतन्त्र हैं। दो द्रव्य एक साथ मिलकर-एकरूप होकर कोई कार्य नहीं कर सकते किन्तु वे पृथक् ही हैं। यदि दो द्रव्यों से ५०-५० प्रतिशत कार्य हुआ माना जाय तो वे दोनों द्रव्य एकत्रित होकर कार्यरूप परिणत होना चाहिये किन्तु यह तो असंभव है। कार्यरूप में अकेला उपादान स्वयं परिणत होता है, वहां निमित्त अलग उपस्थित रूपमें ही होता है। निमित्त वस्तु उपादान के कार्यरूप में किंचित्मात्र भी परिणमित नहीं होती। जो कार्यरूपमें स्वयं परिणमित नहीं होती उसे कर्ता कैसे कहा जा सकता है? जो द्रव्य कार्यरूप परिणमित होता है वह द्रव्य ही कार्य का शत प्रतिशत कर्ता है।

उपादान निमित्त कारणकी व्याख्या निम्नप्रकार है—

उपादानकारण—जो पदार्थ स्वयं कार्यरूप में परिणत होता है उसे उपादान कारण कहते हैं।

निमित्तकारण—जो पदार्थ परमें स्वयं कार्यरूप न परिणमे किन्तु उपादान कार्यकी उत्पत्ति में अनुकूल रूप उपस्थित हो उसे निमित्त कारण कहते हैं।

यहां स्पष्ट है कि उपादान अकेला ही कार्यरूपमें परणमित होता है, निमित्त कार्यरूपमें परमें नहीं परिणमता। जो कार्यरूपमें परिणमित होता है वही कर्ता है ऐसा नियम है। भगवान श्री अमृतचंद्राचार्यदेव समयसार की टीका में कहते हैं कि—

१—"जो परिणमित होता है वह कर्ता है (परिणमन करने वाले का) जो परिणमन है वह कर्म है और जो परिणति है वह क्रिया है ये तीनों वस्तुएं भिन्न नहीं है।" [कलश ५१]

(कर्ताकर्म भिन्न नहीं होते किन्तु उपादान निमित्त तो भिन्न भिन्न होते हैं इसलिये उपादान निमित्त के कोई कर्ताकर्म संबंध नहीं है)

२—"वस्तु एक ही सदा परिणमती है एक को ही सदा परिणाम होते हैं (अर्थात् एक अवस्था से दूसरी अवस्था एक ही होती है) और एक की ही परिणति-क्रिया होती है; कारण कि अनेकरूप होने पर भी एक ही वस्तु है, भेद नहीं।" [कलश ५२]

एक ही वस्तु अवस्था रूपमें होती है जो वस्तु अवस्थारूप में होती है वही वस्तु कर्ता है, दूसरी कोई वस्तु कर्ता नहीं है।

३—दो द्रव्य एक होकर के परिणमित नही होते। दो द्रव्यों का एक परिणाम नहीं होता और दो द्रव्यों की एक परिणति-क्रिया नहीं होती; कारण कि अनेक द्रव्य हैं वे अनेक ही हैं पलटकर एक नहीं होते। [कलश ५३]

प्रत्येक वस्तु प्रथक् पृथक् है, कभी दो वस्तुएं मिल नहीं जाती और दो वस्तुएं जुदी होने से दोनों का कार्य भिन्न ही है। यदि यह कार्य दो वस्तुएं एकमेक होकर करें तो दो वस्तुएं प्रथक न रहें अर्थात् वस्तु के नाश का प्रसंग आजाय, वह असंभव है।

४—"एक द्रव्य के दो कर्ता नहीं होते और एक द्रव्य के दो कर्म नहीं होते तथा एक द्रव्य से दो क्रियाएं नहीं होती क्योंकि एक द्रव्य अनेक द्रव्यरूप नहीं होता।" [कलश ५४]

दे। द्रव्य जुदेजुदे रहकर एक कार्य करें यह भी नहीं बनता क्योंकि एक कार्य के दो कर्ता नहीं हो सकते।

५—"इस जगतमें मोही (अज्ञानी) जीव के 'पर द्रव्य को मैं करता हूं' इस प्रकार पर द्रव्य के कर्तृत्व का महा अहंकाररूप अज्ञानांधकार-जो कि अत्यंत दुर्निवार है वह अनादि संसारसे चला आता है।" [कलश ५५]

६—"निश्चयसे दो क्रियावादी (अर्थात् एक द्रव्य के दो क्रियाएं माननेवाला) आत्मा के परिणाम को और पुद्गल के परिणामको स्वयं (आत्मा) करता है इस प्रकार मानता है, इस लिये वह मिथ्यादृष्टि ही है ऐसा सिद्धांत है। [गाथा ८६ टीका]

७—"आत्मा अपने ही परिणाम से कर्ता हुआ प्रतिभासित होता है, पुद्गल के परिणाम को कर्ता हुआ कभी भी प्रतिभासित नही हुआ आत्माकी और पुद्गल की—दोनों की क्रिया एक आत्मा ही करता है इस प्रकार माननेवाले मिथ्यादृष्टि हैं। यदि जड़ चेतन की क्रिया एक हो तो सर्व द्रव्यों के पलट जानेसे सबका लोप हो जायगा। इस प्रकारका यह बहुत बड़ा दोष उत्पन्न होता है।" [गाथा ८६ का भावार्थ]

[समयसारजी का कर्ता कर्म अधिकार इसी विषय पर है]

ऊपर के कथन से यह सिद्धांत स्पष्टतया निश्चित होता है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कुछभी नहीं कर सकता। उपादान और निमित्त ये दोनों जुदे द्रव्य हैं इसलिये वे एक दूसरे में कुछभी कार्य सहायता अथवा असर नहीं कर सकते। यदि निमित्त उपादान का कार्य ५० प्रतिशत कर देता हो तो उपादान को निमित्तकी वाट जोहनी पडे-प्रतीक्षा करनी पड़े-अर्थात् एक द्रव्यको निज के कार्य में परवस्तु की ५० प्रतिशत जरूरत पड़े तो इस तरह वस्तु की ही पराधीनता होगी किंतु वस्तुका स्वरूप पराधीन नहीं है वस्तु स्वतंत्र रूपसे अपना कार्य करती है।

कोई निमित्तकी ऐसी व्याख्या कहते हैं कि—

"अपने अस्तित्वकालमें उपादान कारण के रहते हुये उपादान कारणको कार्यरूप परिणत करा देवे उसका नाम सहकारी कारण अर्थात् निमित्त कारण है" यदि ऐसी निमित्त की व्याख्या की जाय तो वह बिल्कुल गलत है। यह ऊपर के कथन से बराबर सिद्ध होता है। यदि निमित्त कारण अपने में रहकर उपादानको कार्यरूपमें परिणमादे तो वह निमित्त स्वयंही कर्ता ठहरे तो फिर उपादान द्रव्य ने अपनी अवस्थामें क्या किया? क्या उपादान विना कार्य का रहा? यदि कार्य का अभाव माना जाय तो कार्य विना कारणका (उपादान का) भी अभाव होजायगा......और बड़ा दोष आजायगा।

उपादान का कार्य ५० प्रतिशत और निमित्त का कार्य ५० प्रतिशत हो यह भी नहीं हैं, क्योंकि कार्यरूपमें उपादान द्रव्य परिणमित होता है, निमित्तका कोई भी अंश उपादान के कार्यरूप में परिणमित नहीं होता। वस्तु की शक्तियां परकी अपेक्षा नहीं रखतीं। उपादान वस्तु स्वयं अपनी शक्तिसे कार्यरूपमें परिणमनशील होनेसे किसी दूसरे परिणमन करानेवालीकी अपेक्षा उसके नहीं है अर्थात् उपादान स्वयं अपनेमें स्वतंत्ररूपसे शत प्रतिशत कार्य करता है, निमित्त निमित्तमें शत प्रतिशत कार्य करता है किंतु उपादानमें निमित्त एक प्रतिशत भी कार्य नहीं कर सकता। इस प्रकार दोनों वस्तुएं संपूर्ण स्वाधीन हैं। ★

卐 भव्य जीवों को प्रेरणा 卐

— मालिनी छंद —

त्यजतु जगदिदानीं मोहमाजन्मलीनं
रसयतु रसिकानां रोचनं ज्ञानमुद्यत्।
इह कथमपि नात्मानात्मना साकमेकः
किलकलयति काले क्वापितादात्म्यवृत्तिम्॥

(समयसार कलश २२)

अर्थ:—जगत् अर्थात् जगत के जीवो! अनादि संसार से लेकर आजतक अनुभव किये हुये मोह को अब तो छोड़ो और जो रसिकजनों को रुचिकर है ऐसे उदयोन्मुख ज्ञान का आस्वादन करो क्योंकि इस जगत् में जो आत्मा है वह वास्तव में किसी भी प्रकार से अनात्मा (परद्रव्य)के साथ कदापि तादात्म्यवृत्ति (एकत्व) को प्राप्त नहीं होता, क्योंकि आत्मा एक है वह अन्य द्रव्य के साथ एकरूप नहीं होता।

भावार्थ:—आत्मा परद्रव्य के साथ किसी भी प्रकार किसी भी काल में एकता के भाव को प्राप्त नहीं होता इसप्रकार आचार्य देवने अनादि काल से परद्रव्य के प्रति लगे हुये मोहका भेदविज्ञान कराया है और प्रेरणा की है इस एकत्वरूप मोह को अब छोड़ो और ज्ञानका आस्वादन करो। जो मोह है सो वृथा है, झूठा है, दुःख का कारण है।

श्री सनातन जैन शिक्षावर्ग

[इस वर्ग में पढनेवाले १३२ विद्यार्थियों की परीक्षा ली गई थी जिसमे १२१ उत्तीर्ण हुये थे, उनसे पूछे गये कुछ प्रश्न और उनके यथार्थ उत्तर यहां दिये जा रहे हैं] : : : :

प्रश्न १ (क)—संसार वृक्ष का मूल क्या है और उस जड़ को काटने के लिये मुमुक्षुओं को क्या करना चाहिये ? स्पष्टतया समझाओ ।

उत्तर— मिथ्यादर्शन संसार रूपी वृक्षकी जड़ है। मिथ्यादर्शन अर्थात् विपरीत मान्यता। मुमुक्षुओंको उस जड़ को छेदने के लिये विपरीत मान्यता का त्याग कर देना चाहिये। मिथ्यादर्शन के दो भेद हैं अगृहीत और गृहीत। अग्रहीत-अर्थात् जो अनादिकालसे (किसी के उपदेश के विना ग्रहण किया हुआ) चला आरहा है और ग्रहीत अर्थात् जो दूसरे के उपदेशसे (जन्मधारण करने के वाद) नया ग्रहण किया जाता है।

अगृहीत मिथ्यादर्शन अर्थात् जिनेन्द्र भगवान के द्वारा कहे गये ७ तत्त्वों की (जीव, अजीव, आस्रव, वंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष की) विपरीत श्रद्धा करना। सात तत्त्वों की विपरीत श्रद्धा इसप्रकार होती है- जीव यह मानता है कि जो शरीर है वह मैं हूं मैं उसे हिला डुला सकता हूं ऐसा मानते हैं अर्थात् वह जीव को अजीव मानता है जो अपना स्वभाव नहीं है उसे अपना मानता हैं यह जीव तत्त्व की भूल है ॥१॥ अजीव शरीर के उत्पन्न होने से और नाश होनेसे अपनी उत्पत्ति और नाश मानता है यह अजीव तत्त्वकी भूल है। स्वयं तो अनादि अनंत है, उसकी उत्पत्ति और नाश नहीं होता ॥२॥ रागद्वेष आत्माकी विकारीदशा है, विपरीतदशा है, उससे आत्मा को दुःख होता है किन्तु ऐसा न मानकर उसमें सुख मानता है यह आस्रव तत्त्वकी भूल है ॥३॥ शुभकर्म के वंध के फलमें प्रेम करता है और अशुभ कर्म के वंध के फल में द्वेष करता है परंतु हेय जो विकारी भाव है जिससे कर्मों का वंध होता है तथा आदरणीय जो अविकारीभाव है उसे वैसा न मानकर शुभ के फलको अच्छा और अशुभ के फलको बुरा मानता है यह वंधतत्त्व की भूल है ॥४॥ सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्रसे आत्मा का सुख प्रगट होता है किंतु आत्मज्ञानकी समझ उसे कष्टदायक मालूम होती है अर्थात् वह धर्मको दुःखदायक मानता है यह संवर तत्त्वकी भूल है ॥५॥ शुभाशुभ इच्छाको रोकनेसे तप होता है और ऐसे सम्यक तप से निर्जरा अर्थात् आत्मा की शुद्धि की वृद्धि होती है और कर्म खिर जाते हैं और यही सच्चे सुखका कारण है किंतु ऐसा न मानकर पंचेन्द्रियों के विषय की इच्छा करता है यद्यपि वह अशुभ को छोड़ देता है किंतु शुभको पकड़ रखता है लेकिन वह यह नहीं मानता कि शुभभी इच्छा है यह निर्जरा तत्त्व की भूल है ॥६॥ आकुलता का अभाव ही सच्चा सुख है परंतु तीव्र आकुलता की अपेक्षा मंद आकुलता में सुख मानता है अर्थात अनाकुलता को आकुलता मानता है यह मोक्ष तत्त्व की भूल है ॥७॥

मनुष्य होने के बाद वह कुदेव, कुगुरु और कुधर्म को मानता है जिससे अनंतसंसार में परिभ्रमण करना पड़ता है और बहुत दुःख सहन करना होता है यह गृहीत मिथ्यादर्शन है। इससे अगृहीत मिथ्यात्व को पुष्टि मिलती है। कुगुरु और कुदेव मिथ्यात्व-राग द्वेष युक्त होते हैं और वहिरंग परिग्रह धन, मकान, कपड़ा तथा स्त्री, शस्त्र सहित होते हैं। कुधर्म में भावहिंसा और द्रव्यहिंसा सहित क्रिया होती है।

मुमुक्षुओं को यदि संसार वृक्ष का मूल काटना हो तो उन्हें उपरोक्त गृहीत और अगृहीत मिथ्यादर्शन से मुक्त होजाना चाहिये और सम्यग्दर्शन प्राप्त करना चाहिये

प्रश्न १ (ख)—धर्म करना किसे सरल है ? धनवान् को या निर्धन को ? और वह क्यों ?

उत्तर—धर्म तो आत्मा का स्वभाव है उसका परद्रव्य के साथ कोई संबंध नहीं है इसलिये धनवान् अथवा निर्धन किसी के लिये भी धर्म सरल हो यह नहीं कहा जा सकता। धर्म पैसे से नहीं होता, आत्मा को पहिचानने से ही धर्म होता है। आत्माको पहिचानने के लिये सच्चे ज्ञान की आवश्यकता है पैसे की नहीं ।

प्रश्न १ (ग)—श्री समयसार का कोई कलश अर्थसहित लिखो।

उत्तर— आत्माज्ञानं स्वयंज्ञानं ज्ञानादन्यत् करोतिकिम्। परभावस्य कर्तात्मा मोहोऽयं व्यवहारिणाम् ॥

(समयसार कलश ६२)

आत्मा ज्ञान स्वरूप है, स्वयं ज्ञान ही है तब वह ज्ञान (जानने) के अतिरिक्त दूसरा क्या कर सकता है। आत्मा दूसरे के भाव को (अवस्था को) करनेवाला है यह मानना अज्ञानीलोगों का मूढ़भाव है।

प्रश्न २ (क)-निम्नलिखित पदार्थों में से द्रव्य गुण और पर्यायों को पहचानो।

(१) केवलज्ञान (२) मिठास (३) निश्चयकाल (४) अरूपित्व (५) ज्वर (६) ज्वर पर द्वेष (७) समुद्घात (८) गति हेतुत्व।

उत्तर—(१) केवलज्ञान पर्याय है (२) मिठास पर्याय है (३) निश्चयकाल द्रव्य है (४) अरूपित्व गुण है (५) ज्वर पर्याय है (६) ज्वर पर द्वेष पर्याय है (७) समुद्घात पर्याय है (८) गतिहेतुत्व गुण है।

प्रश्न २ (ख)-उपरोक्त आठ पदार्थों में जो द्रव्य हों उनके मुख्य लक्षण बताओ?

उत्तर—कालद्रव्य है उसका मुख्य लक्षण परिणमन हेतुत्व है।

प्रश्न २ (ग)—उपरोक्त पदार्थों में जो गुण हों वे कौन से द्रव्यों के हैं?

उत्तर—अरूपित्व जीव, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन पांच द्रव्यों का गुण है और गतिहेतुत्व धर्मास्तिकाय का गुण है।

प्रश्न २ (घ)-उपरोक्त पदार्थों में जो पर्यायें हैं वे किन गुणोंकी हैं?

उत्तर—(१) केवलज्ञान पर्याय जीव के ज्ञान गुणकी पर्याय है (२) मिठास पुद्गल के रसगुण की पर्याय है (३) ज्वर पुद्गल के स्पर्श गुणकी पर्याय है (४) ज्वर पर द्वेष आत्मा के चारित्र गुण की विपरीत पर्याय है (५) समुद्घात जीव के प्रदेशत्व गुण की पर्याय है।

प्रश्न ३ (क)—निश्चय चारित्र किसे कहते हैं? उसे कष्टदायक क्यों माना गया है?

उत्तर—परद्रव्यों से और परभावों से भिन्न अपने शुद्धात्मा की प्रतीति और ज्ञानसहित अपने शुद्ध आत्मा में एकाग्र होना सो निश्चय चारित्र है। चारित्र तो अपने शुद्धात्मा की लीनतारूप अर्थात् सुखरूप है उसे कष्टदायक मानना व्यवहारी-अज्ञानी लोगोंकी विपरीत मान्यता है। ऐसा माननेवाले के सच्चा चारित्र भी नहीं होता।

प्रश्न ३ (ख)—जघन्य, मध्य और उत्तम अंतरात्मा किसे कहते हैं?

उत्तर—चौथे गुणस्थानवर्ती अविरत सम्यग्दृष्टि को जघन्य अंतरात्मा कहा गया है।

पंचम गुणस्थानवर्ती १२ व्रतों के धारक श्रावकको तथा शुभोपयोगी ग्रहादि परिग्रह से रहित छठे गुणस्थानमें प्रवर्तमान दिगम्बर मुनि को मध्यम अंतरात्मा कहा गया है।

एक मिथ्यात्व, ४ कषाय ९ नोकषायरूप अंतरंग और ग्रहवस्त्रादि बहिरंग परिग्रह से रहित ७-८-९-१०-११-१२ वें गुणस्थानवर्ती शुद्धोपयोगी अध्यात्मज्ञानी दिगम्बर मुनिको उत्तम अंतरात्मा कहा गया है।

प्रश्न ३ (ग)— चारित्र महाकष्टदायक है ऐसा मानकर चारित्र को पालनेवाले पंचमहाव्रतधारी मुनि अंतरात्मा के तीन भेदों में से किसमें समविष्ट होते हैं

उत्तर—धर्म को कष्टदायक मानकर चारित्र को पालनेवाले महामूढ़ मिथ्यादृष्टि होते हैं तब उन्हें पंच महाव्रत हो ही कहां से सकते हैं। वे प्रति समय मिथ्यात्व के अनंत पाप को सेवन करते रहते हैं। अर्थात् चारित्र को कष्टदायी माननेवाले तो बहिरात्मा अविवेकी अथवा घोर मिथ्यादृष्टि होते हैं।

प्रश्न ३ (घ)—आठ कर्म के नाम लिखो।

उत्तर-(१) ज्ञानावरणी (२) दर्शनावरणी (३) वेदनीय (४) मोहनीय (५) आयु (६) नाम (७) गोत्र (८) अंतराय यह अष्ट कर्म हैं।

प्रश्न ३ (ङ)—ज्ञानावरणी कर्म आत्मापर जोर कर उसके ज्ञान को रोकता है या नहीं स्पष्ट समझाओ।

उत्तर—एक द्रव्य को दूसरा द्रव्य कुछ कर नहीं सकता, इसलिये ज्ञानावरणी कर्म आत्मा के ज्ञानगुण को बिल्कुल नहीं रोक सकता। जब आत्मा स्वयं अपनी विपरीतता से ज्ञान को रोकता है तब ज्ञानावरणी कर्म उपस्थित होता है अर्थात् यह कहा जाता है कि उसे रोकने में वह निमित्त मात्र है। वास्तव में कर्म ज्ञान को नहीं रोक सकता क्योंकि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य पर अपना जोर नहीं डाल सकता।

प्रश्न ३ (च)—तीनइंद्रिय जीवों के कितने द्रव्यप्राण होते हैं? नौ प्राण किन जीवों के होते हैं? किस जीव के एक भी द्रव्यप्राण नहीं होता?

उत्तर—तीनइंद्रिय जीवों के ७ द्रव्यप्राण होते हैं। (१) स्पर्शनेन्द्रिय (२) रसनेन्द्रिय (३) घ्राणेन्द्रिय (४) वचन (५) काय (६) श्वासोच्छ्वास और (७) आयु।

असैनी पंचेन्द्रिय के ९ द्रव्य प्राण होते हैं।

सिद्ध परमात्मा को छोड़कर कोई भी जीव ऐसा नहीं है जिसके एक भी द्रव्य प्राण न हो।

प्रश्न ३ (छ)—निकल द्रव्यात्मा किसे कहते हैं ? उसे किसी पर द्रव्य का संग न होने पर भी सुख क्यों कर होता है ?

उत्तर—ज्ञान मात्र ही जिसका शरीर है औदारिक नोकर्म ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म और रागद्वेषादि भावकर्मों से जो रहित है, जिसके अनंत ज्ञान-दर्शन सुख और वीर्य प्रगट हुआ है ऐसे निर्दोष और पूज्य सिद्ध भगवान निकल परमात्मा हैं ।

परद्रव्यों से सुख होता है यह मान्यता ही गलत है सुख तो अरूपी आत्माका गुण है और वह सिद्ध परमात्मा के संपूर्णतया प्रगट होता है इसलिये उनके संपूर्ण सुख है। परद्रव्य के संगसे तीनकाल और तीनलोकमें सुख नहीं हो सकता।

प्रश्न ४ (क)—अनादिकाल से आत्मा की जीवतत्त्व संबंधी और बंध तत्त्व संबंधी कौन कौनसी भूलें होतीं हैं ? उदाहरण सहित स्पष्ट समझाओ ।

उत्तर—(१) जीवने अनादिकाल से उसका जैसा स्वरूप है उसे वैसा न मानकर उससे विपरीत माना है. यह जीवतत्त्व की भूल है। जैसे जो शरीर है सो मैं हूं, मैं शरीर को हिला सकता हूं, चला सकता हूं, मैं मूर्ख हूं, मैं चतुर हूं, मैं सुंदर हूं इत्यादि ।

(२) शुभकर्म के फल को इष्ट मानता है और अशुभकर्म के फल को अनिष्ट मानता है यह बंध तत्त्व की भूल है अर्थात् स्त्री पुत्र घर इत्यादि जो अपने अनुकूल होते हैं उन्हें ठीक मानता है और जब वे ही पदार्थ प्रतिकूल होते हैं तब उनके प्रति द्वेष करके उन्हें अनिष्ट मानता है। किन्तु वास्तव में तो (शुभ-अशुभ) दोनों बंध स्वरूप हैं तथापि शुभ को ठीक और अशुभ को खराब मानना बंध तत्त्व की भूल है।

प्रश्न ४ (ख)—कितने द्रव्य अनादि अनंत हैं ? और वे किन गुणों के कारण ? जीव के अनुजीवी विशेष गुणों में से ५ के नाम लिखो।

उत्तर—छहों द्रव्य अनादि अनंत हैं क्योंकि प्रत्येक द्रव्यमें अस्तित्व नाम का गुण विद्यमान है।

चेतना, सम्यक्त्व, सुख, वीर्य और भव्यत्व यह पांच जीव द्रव्य के अनुजीवी विशेष गुण हैं ।

प्रश्न ४ (ग)—आंख से श्रीसीमंधर स्वामी के दर्शन करना सो दर्शन चेतना का व्यापार है या ज्ञान चेतना का ? दर्शन चेतना के चार भेदों में से अथवा ज्ञान चेतना के ५ भेदों में से कौनसा भेद उस समय वर्तमान होता है ?

उत्तर—आंख से श्री सीमंधर प्रभु के दर्शन करना सो ज्ञान चेतना का व्यापार है। उस समय ज्ञान चेतना का मतिज्ञान-भेद वर्तमान है।

प्रश्न ४ (घ)—अनेकांत को समझाने के लिये दो उदाहरण दो। 'आत्मा किसी भी पुद्गल को नहीं हिला सकता यह मानने से एकांत हो जाता है, आत्मा सूक्ष्म पुद्गल को भले न हिला सके परंतु स्थूल पुद्गलरूप टेकरियों को तो खोद सकता है, इसप्रकार मानना सो अनेकांत की सच्ची मान्यता है' यह कथन ठीक हैं या नहीं ? सो समझाओ ।

उत्तर— अनेकांतः-(१) आत्मा अपनी अपेक्षा से है और परापेक्षा से नहीं है इसप्रकार की दृष्टि ही सच्ची अनेकांतदृष्टि है। (२) आत्मा द्रव्यापेक्षा से नित्य है और पर्यायापेक्षा से बदलता है इसीदृष्टि अनेकांत है।

'आत्मा किसी भी पुद्गल को नहीं हिला सकता यों मानने से एकांत हो जाता है' यह बात बिल्कुल असत्य है। 'आत्मा किसी भी पुद्गल को नहीं हिला सकता' यह कथन एकांत नहीं है किन्तु अनेकांत है क्योंकि आत्मा अपना सबकुछ कर सकता है किन्तु पर का कुछ भी नहीं कर सकता। 'आत्मा सूक्ष्म पुद्गल को-परमाणु को भले न हिला सके किन्तु स्थूल पुद्गलरूप टेकरियों तो खोद सकता है इसप्रकार मानना सो अनेकांत की सच्ची मान्यता है' उपरोक्त कथन भी असत्यार्थ है यह कथन मिथ्यादृष्टि का है क्योंकि अरूपी आत्मा एक रूपी परमाणु को भी नहीं हिला सकता तथा अनेक-अनंत पुद्गल को भी नहीं हिला सकता क्योंकि तीनकाल और तीनलोक में एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का करता हरता नहीं हो सकता। ★

जिज्ञासुको धर्म कैसे करना चाहिये ?

समयसार——गाथा १४४ पर पूज्य श्री कानजी स्वामी का——प्रवचन

जो जीव जिज्ञासु होकर स्वभावको समझने के लिये आया है वह सुख लेनेको और दुःख दूर करनेको आया है। सुख अपना स्वभाव है और वर्तमानमें जो दुःख है वह क्षणिक है इसलिये वह दूर हो सकता है। वर्तमान दुखरूप अवस्थाको दूर करके स्वयं सुखरूप अवस्थाको प्रगट कर सकता है। जो सत्‌को समझने के लिये आया है उसने इतना तो स्वीकार कर ही लिया है। आत्मा को अपने भावमें पुरुषार्थ करके विकाररहित स्वरूप का निर्णय करना चाहिये। वर्तमान विकार होने पर भी विकार रहित स्वभावकी श्रद्धा की जा सकती है अर्थात् यह निश्चय हो सकता है कि यह विकार और दुःख मेरा स्वरूप नहीं है।

पात्र जीव का लक्षण

जिज्ञासु जीवों को स्वरूप का निर्णय करने के लिये शास्त्रों ने पहली ही ज्ञान क्रिया बताई है। स्वरूप का निर्णय करने के लिये अन्य कोई दान, पूजा, भक्ति, व्रत, तपादि करनेको नहीं कहा है परंतु श्रुतज्ञान से आत्माका निर्णय करना ही कहा है। कुगुरु, कुदेव और कुशास्त्र का आदर और उस ओर का खिंचाव तो दूर हो ही जाना चाहिये, तथा विषयादि परवस्तु में जो सुख बुद्धि है वह दूर होजाना चाहिये। सब ओर से रुचि दूर होकर अपनी ओर रुचि होनी चाहिये। देव, गुरु और शास्त्र को यथार्थ रीत्या पहचान कर उस ओर आदर करे और यदि यह सब स्वभाव के लक्ष्य से हुआ हो तो उस जीव के पात्रता हुई कही जा सकती है, इतनी पात्रता भी सम्यग्दर्शन का मूल कारण नहीं है। सम्यग्दर्शन का मूल कारण तो चैतन्य स्वभाव का लक्ष्य करना है। परंतु पहले कुदेवादि का सर्वथा त्याग तथा सच्चे देव गुरु शास्त्र और सत्समागम का प्रेम तो पात्र जीवों के होता ही है, ऐसे पात्र जीवों को आत्मा का स्वरूप समझने के लिये क्या करना चाहिये, यह इस समयसार में स्पष्टतया बतलाया है।

सम्यग्दर्शनके उपायके लिये समयसार में बताई गई क्रिया

'पहले श्रुतज्ञान के अवलंबन से ज्ञानस्वभावी आत्मा का निश्चय करके पश्चात आत्मा की प्रगट प्रसिद्धि के लिये परपदार्थ की प्रसिद्धि के कारण जो इंद्रियों के द्वारा और मन के द्वारा प्रवर्तमान बुद्धि है उसे मर्यादा में लाकर जिसने मतिज्ञान तत्त्व को आत्मसन्मुख किया है ऐसा, तथा नानाप्रकार के पक्षों के अवलंबन से होने वाले अनेक विकल्पों के द्वारा आकुलता को उत्पन्न करनेवाली श्रुतज्ञान की बुद्धियों को भी मर्यादा में लाकर श्रुतज्ञान तत्त्व को भी आत्म सन्मुख करता हुआ अत्यंत विकल्प रहित होकर तत्काल परमात्मारूप समयसार का जब आत्मा अनुभव करता है उस समय ही आत्मा सम्यक्तया दिखाई देता है (अर्थात् श्रद्धा की जाती है) और मालूम होता है इसलिये समयसार ही सम्यक्‌दर्शन और सम्यग्ज्ञान है।'

[समयसार गाथा १४४ की टीका]

अब यहांपर इसका स्पष्टीकरण किया जाता है।

श्रुतज्ञान किसे कहना चाहिये ?

'प्रथम श्रुतज्ञान के अवलंबन से ज्ञानस्वभावी आत्मा का निर्णय करना' कहा है। श्रुतज्ञान किसे कहना चाहिये ? सर्वज्ञ भगवान के द्वारा कहा गया श्रुतज्ञान अस्ति नास्ति के द्वारा वस्तु स्वरूप सिद्ध करता है। अनेकांत स्वरूप वस्तु को 'स्व अपेक्षा से है और पर अपेक्षा से नहीं है' इसप्रकार जो स्वतंत्र सिद्ध करता है वह श्रुतज्ञान है।

बाह्यत्याग श्रुतज्ञान का लक्षण नहीं है

परवस्तु को छोड़ने के लिये कहे अथवा पर के ऊपर के रागको कम करने के लिये कहे इसप्रकार भगवान के द्वारा कहा गया श्रुतज्ञान का लक्षण नहीं है। एक वस्तु अपनी अपेक्षा से है और यह वस्तु अनंत पर द्रव्यों से पृथक् है इस प्रकार अस्ति नास्तिरूप परस्पर विरुद्ध दो शक्तियों को प्रकाशित करके जो वस्तुस्वरूपको बतलाता है वह अनेकांत है और वही श्रुतज्ञान का लक्षण है। वस्तु स्व अपेक्षा से है और परापेक्षा से नहीं है, इसमें वस्तुको ध्रुवरूप में सिद्ध किया है।

श्रुतज्ञान का वास्तविक लक्षण—अनेकांत

एक वस्तु में 'है' और 'नहीं है' ऐसी परस्पर विरुद्ध दो शक्तियां भिन्न भिन्न अपेक्षा से प्रकाश कर वस्तु का

परसे भिन्न स्वरूप बताती है, यही श्रुतज्ञान भगवान के द्वारा कहा गया शास्त्र है। इस प्रकार आत्मा सर्व पर द्रव्यों से प्रथक् वस्तु है, इस प्रकार पहले श्रुतज्ञान से निश्चय करना चाहिये।

अनंत पर वस्तुओं से यह आत्मा भिन्न है, इस प्रकार सिद्ध होने पर अब अपनी द्रव्य पर्याय में देखना चाहिये। मेरा त्रिकाल द्रव्य एक समयमात्र की अवस्था रूप नहीं है अर्थात् विकार क्षणिक पर्याय के रूप में है परंतु त्रिकाल स्वरूप के रूपमें नहीं है। इस प्रकार विकाररहित स्वभाव की सिद्धि भी अनेकांत से होती है भगवान के द्वारा कहे गये सत् शास्त्रोंकी महत्ता अनेकांत से ही है। भगवान ने पर जीवों की दया पालन करने को कहा है और अहिंसा बतलाकर कर्मों का वर्णन किया है। यह कहीं भगवान को अथवा भगवान के द्वारा कहे गये शास्त्र को पहचानने का वास्तविक लक्षण नहीं है।

भगवान भी दूसरे का नहीं कर सके

भगवानने अपना कार्य परिपूर्ण किया और दूसरे का कुछ भी नहीं किया क्योंकि एक तत्त्व अपने रूपमें है और पररूपमें नहीं है इसलिये वह किसी अन्यका कुछ नहीं कर सकते। प्रत्येक द्रव्य भिन्न भिन्न स्वतंत्र है, कोई किसी का कुछ नहीं कर सकता, इस प्रकार जानना ही भगवान के शास्त्र की पहिचान है, यही श्रुत-ज्ञान है। यह तो अभी स्वरूप को समझने वाले की पात्रता कही गई है।

जैनशास्त्रमें कथित प्रभावना का सच्चा स्वरूप

कोई परद्रव्य की प्रभावना नहीं कर सकता परंतु जैनधर्म अर्थात् आत्मा का जो वीतराग स्वभाव है उसकी प्रभावना धर्मी जीव कर सकते हैं आत्मा को जाने विना आत्मा के स्वभाव की वृद्धिरूप प्रभावना किस प्रकार करे? प्रभावना करने का जो विकल्प उठता है वह भी परके कारण नहीं, क्योंकि दूसरे के लिये कुछ भी अपने में होता है यह कहना जैनशासन की मर्यादा में नहीं है। जैनशासन तो वस्तु को स्वतंत्र स्वाधीन परिपूर्ण स्थापित करता है।

भगवानने परजीव की दया का पालन करना नहीं कहा

भगवानने अन्य जीवों की दया की स्थापना की है यह बात गलत है। यह जीव पर जीव की क्रिया कर ही नहीं सकता तो फिर भगवान उसे बचाने के लिये क्यों कहेंगे भगवानने तो आत्म स्वभाव को पहचानकर अपने आत्मा को कषाय भाव से बचाने को कहा है यही सच्ची दया है। अपने आत्मा का निर्णय किये विना कोई क्या करेगा। भगवान के श्रुतज्ञान में तो यह कहा है कि तू अपने से परिपूर्ण वस्तु है प्रत्येक तत्त्व अपने आप ही स्वतंत्र है। किसी तत्त्व को दूसरे तत्त्व का आश्रय नहीं है। इसप्रकार वस्तु के स्वरूप को प्रथक् रखना सो अहिंसा है। और एक दूसरे का कुछ कर सकता है, इसप्रकार वस्तु को पराधीन मानना सो हिंसा है।

आनंद प्रगट करने की भावना वाला क्या करे?

जगत् के जीवों को सुख चाहिये है सुख कहो या धर्म कहो, धर्म करना है इसलिये आत्मशांति चाहिये है। अच्छा करना है किन्तु अच्छा कहां करना है? आत्मा की अवस्था में दुःख का नाश करके वीतराग आनंद प्रगट करना है। यह आनंद ऐसा चाहिये कि जो स्वाधीन हो जिसके लिये पर का अवलंबन न हो ऐसा आनंद प्रगट करने की जिसकी यथार्थ भावना हो वह जिज्ञासु कहलाता है। अपना पूर्णानंद प्रगट करने की भावना वाला जिज्ञासु पहले यह देखे कि ऐसा पूर्णानंद किसे प्रगट हुआ। निजको अभी वैसा आनंद प्रगट नहीं हुआ क्योंकि यदि अपने को वैसा आनंद प्रगट हो तो प्रगट करने की उसे भावना न हो। तात्पर्य यह है कि अभी निजको वैसा आनंद प्रगट नहीं हुआ किन्तु अपने में जैसी भावना है वैसा आनंद अन्य किसी को प्रगट हो चुका है और जिन्हें वैसा आनंद प्रगट हुआ है उनके निमित्त से स्वयं वह आनंद प्रगट करने का यथार्थ मार्ग जाने। अर्थात् इसमें सच्चे निमित्तों की पहचान भी आगई जबतक इतना करता है तबतक अभी जिज्ञासु है।

अपनी अवस्थामें अधर्म-अशांति है उसे दूर करके धर्म--शांति प्रगट करना है वह शांति अपने आधारपर और परिपूर्ण होना चाहिये। जिसे ऐसी जिज्ञासा हो वह पहले यह निश्चय करे कि मैं एक आत्मा अपना परि-पूर्ण सुख प्रगट करना चाहता हूं तो वैसा परिपूर्ण सुख किसी के प्रगट हुआ होना चाहिये। यदि परिपूर्ण सुख-आनंद प्रगट न होतो दुःखी कहलायगा। जिसे परिपूर्ण और स्वाधीन आनंद प्रगट हुआ है वही संपूर्ण सुखी है। ऐसे सर्वज्ञ ही हैं। इस प्रकार जिज्ञासु अपने ज्ञान में सर्वज्ञ का निर्णय करता है पर के करने धरनेकी बात तो

है ही नहीं। जब वह परसे किंचित् प्रथक् हुआ है तब तो आत्माकी जिज्ञासा हुई है। यह तो परसे अलग होकर अब जिसको अपना हित करने की तीव्र आकांक्षा जागृत हुई है ऐसे जिज्ञासु जीवकी यह बात है। पर द्रव्य के प्रति जो सुख बुद्धि है और जो रुचि है उसे दूर कर देना सो पात्रता है तथा स्वभावकी रुचि और पहचान का होना सो पात्रता का फल है।

दुःख का मूल भूल है जिसने अपनी भूल से दुःख उत्पन्न किया है यदि वह अपनी भूलको दूर करदे तो उस का दुःख दूर होजाय। अन्य किसीने वह भूल नहीं कराई है इसलिये दूसरा कोई अपना दुःख दूर करने में समर्थ नहीं है।

श्रुतज्ञान का अवलंबन ही प्रथम क्रिया है

जो आत्मकल्याण करने के लिये तैयार हुआ है ऐसे जिज्ञासु को पहले क्या करना चाहिये? सो बताया जाता है। आत्मकल्याण अपनेआप नहीं हो जाता किंतु अपने ज्ञानमें रुचि और पुरुषार्थ से आत्म कल्याण होता है। अपना कल्याण करने के लिये जिनके पूर्ण कल्याण प्रगट हुआ है वे कौन हैं? वे क्या कहते हैं? उनने पहले क्या किया था? इसका अपने ज्ञानमें निर्णय करना होगा अर्थात् सर्वज्ञ के स्वरूप को जानकर उनके द्वारा कहे गये श्रुतज्ञान के अवलंबन से अपने आत्माका निर्णय करना चाहिये, यही प्रथम कर्तव्य है। किसी पर के अवलंबन से धर्म प्रगट नहीं होता तथापि जब स्वयं अपने पुरुषार्थ से समझता है तब सामने निमित्त के रूपमें सच्चे देव और गुरु ही होते हैं।

इसप्रकार पहला निर्णय यही हुआ कि कोई पूर्ण पुरुष संपूर्ण सुखी है और संपूर्ण ज्ञाता है वही पुरुष पूर्णसुख का पूर्ण सत्यमार्ग कह सकता है। इसे स्वयं समझकर अपने पूर्ण सुख को प्रगट किया जा सकता है और जब स्वयं समझता है तब सच्चे देव शास्त्र गुरु ही निमित्त होते हैं। जिसे स्त्री पुत्र पैसाइत्यादि की अर्थात् संसार के निमित्तोंकी तीव्र रुचि होगी उसे धर्म के निमित्तों-देव, शास्त्र, गुरु के प्रति रुचि नहीं होगी अर्थात् उसके श्रुतज्ञान का अवलंबन नहीं होगा और श्रुतज्ञान के अवलंबन के बिना आत्मा का निर्णय नहीं होता क्योंकि आत्मा के निर्णय में सत् निमित्त ही होते हैं परंतु कुगुरु, कुदेव, कुशास्त्र आत्मा के निर्णय में निमित्तरूप नहीं हो सकते। जो कुदेवादिको मानता है उसके आत्म निर्णय हो ही नहीं सकता।

जिज्ञासु यह तो मानता ही नहीं है कि दूसरे की सेवा करने से धर्म होता है किंतु वह यथार्थ धर्म कैसे होता है इसके लिये पहले पूर्ण ज्ञानी भगवान और उनके द्वारा कहे गये शास्त्र के अवलंबन से ज्ञान स्वभावी आत्मा का निर्णय करने के लिये उद्यमी होता है। जगत् धर्म की कलाको ही नहीं समझ पाया यदि धर्मकी एक ही कला को सीख ले तो उसे मोक्ष हुये बिना न रहे।

जिज्ञासु जीव पहले सुदेवादि का और कुदेवादि का निर्णय करके कुदेवादिको छोड़ता है और उसे सच्चे देव, गुरु की ऐसी लगन लगी है कि उसका यही समझने की ओर लक्ष्य है कि सत् पुरुष क्या कहते हैं। इसलिये अशुभ से तो वह हट ही गया है। यदि सांसारिक रुचि से अलग न हो तो श्रुत के अवलंबनमें टिक नहीं सकता।

धर्म कहां है और वह कैसे होता है?

बहुत से जिज्ञासुओं के यही प्रश्न उठता है कि धर्म के लिये पहले क्या करना चाहिये। पर्वत पर चढ़ा जाय, सेवा पूजा की जाय, गुरु की भक्ति करके उनकी कृपा प्राप्त की जाय अथवा दान किया जाय? इसके उत्तर में कहते हैं कि इसमें कहीं भी आत्मा का धर्म नहीं है, धर्म तो अपना स्वभाव है धर्म पराधीन नहीं है किसी के अवलंबन से धर्म नहीं होता धर्म किसी के देने से नहीं मिलता किन्तु आत्माकी पहिचान से ही धर्म होता है। जिसे अपना पूर्णानंद चाहिये है उसे पूर्ण आनंद का स्वरूप क्या है वह किसे प्रगट हुआ है यह निश्चय करना चाहिये। जो आनंद मैं चाहता हूं उसे पूर्ण अबाधित चाहता हूं। अर्थात् कोई आत्मा वैसी पूर्णानंद दशाको प्राप्त हुये हैं और उन्हें पूर्णानंददशा में ज्ञान भी पूर्ण ही है क्योंकि यदि पूर्ण ज्ञान न हो तो रागद्वेष रहे और रागद्वेष रहे तो दुःख रहे। जहां दुःख होता है वहां पूर्णानंद नहीं हो सकता इसलिये जिन्हें पूर्णानंद प्रगट हुआ है ऐसे सर्वज्ञ भगवान हैं उनका और वे क्या हैं इसका जिज्ञासुको निर्णय करना चाहिये। इसीलिये कहा है कि—पहले श्रुतज्ञान के अवलंबन से आत्मा का निर्णय करना चाहिये, इसमें उपादान निमित्तकी संधि विद्यमान है। ज्ञानी कौन है? सत् बात कौन कहता है? यह सब निश्चय करने के लिये निवृत्ति लेनी चाहिये। यदि स्त्री, कुटुंब, लक्ष्मी का प्रेम और संसारकी रुचि में कमी न हो तो सत्

समागम के लिये निवृत्ति नहीं ली जा सकती। जहां श्रुत का अवलंबन लेने की बात कही गई है वहां तीव्र अशुभभाव के त्यागकी बात अपने आप आगई और सच्चे निमित्तोंकी पहचान करने की बात भी आगई है।

सुख का उपाय ज्ञान और सत्समागम है

तुझे सुख चाहिये है न? यदि सचमुचमें तुझे सुख चाहिये हो तो पहले यह निर्णय कर और यह ज्ञान कर कि सुख कहां है और वह कैसे प्रगट होता है? सुख कहां है और कैसे प्रगट होता है इसका ज्ञान हुये बिना प्रयत्न करते करते सूख जाय तो भी सुख नहीं मिलता—धर्म नहीं होता। सर्वज्ञ भगवान के द्वारा कहे गये श्रुतज्ञानके अवलंबनसे यह निर्णय होता है। और यह निर्णय करना ही प्रथम धर्म है जिसे धर्म प्राप्त करना हो वह धरमी को पहचानकर वे क्या कहते हैं इसका निर्णय करने के लिये सत्समागम करे। सत्समागम से जिसे श्रुतज्ञान का अवलंबन हुआ कि अहो! पूर्ण आत्म वस्तु उत्कृष्ट महिमावान् है ऐसा परम स्वरूप मैं ने अनंत कालमें कभी सुना भी नहीं था। ऐसा होने पर उसके स्वरूपकी रुचि जागृत होती है और सत्समागम का रंग लग जाता है, इसलिये उसे कुदेवादि अथवा संसार के प्रति रुचि नहीं होती।

यदि वस्तुको पहचाने तो प्रेम जागृत हो और उस ओर पुरुषार्थ झुके। आत्मा अनादि से स्वभावको भूल कर परभावरूपी परदेशमें चक्कर लगाता है, स्वरूप से बाहर संसार में परिभ्रमण करते करते परम पिता सर्वज्ञ परमात्मा और परम हितकारी श्री परम गुरु मिले और वे सुनाते हैं कि पूर्ण हित कैसे हो सकता है और आत्मा के स्वरूप की पहचान कराते हैं तब अपने स्वरूपको सुनकर किस धर्मीको उल्लास न आयगा, आता ही है। आत्मस्वभावकी बातको सुनकर जिज्ञासु जीवों के महिमा जागृत होती ही है। अहो! अनंत कालसे यह अपूर्व ज्ञान न हुआ, स्वरूपसे बाहर परभाव में परिभ्रमण करके अनंत काल तक वृथा दुःख उठाया। यदि पहले यह अपूर्व ज्ञान प्राप्त किया होता तो यह दुःख न होता इस प्रकार स्वरूपकी आकांक्षा जागृत करे रुचि उत्पन्न करे और इस महिमाको यथार्थतया रटते हुये स्वरूपका निर्णय करे। इसप्रकार जिसे धर्म करके सुखी होना हो उसे पहले श्रुतज्ञान का अवलंबन लेकर आत्मा का निर्णय करना चाहिये। भगवानकी श्रुतज्ञानरूपी डोरीको दृढ़ता से पकड़कर उसके अवलंबन से स्वरूपमें पहुंचा जा सकता है। श्रुतज्ञान के अवलंबन का अर्थ है सच्चे श्रुतज्ञान की रुचि का होना और अन्य कुश्रुतज्ञान में रुचि का न होना। जिसकी संसार संबंधी बातोंकी तीव्र रुचि दूर हो गई है और श्रुतज्ञानमें तीव्र रुचि जम गई है और जो श्रुतज्ञान के अवलंबन से ज्ञान स्वभावी आत्मा का निर्णय करने के लिये तैयार हुआ है उसे अल्पकाल में ही आत्मभान हो जायगा। जिसके हृदयमें संसार संबंधी तीव्र रंग जमा है उसके परम शांत स्वभाव की बातको समझने की पात्रता जागृत नहीं हो सकती। यहां जो 'श्रुत का अवलंबन' शब्द रखा है वह अवलंबन तो स्वभाव के लक्ष्य से है, वापिस न होने के लक्ष्य से है। समयसारजीमें अप्रतिहत शैली से ही बात है। ज्ञान स्वभावी आत्मा का निर्णय करने के लिये जिसने श्रुत का अवलंबन लिया है वह आत्म स्वभाव का निर्णय करता ही है। वापिस होने की बात ही समयसार में नहीं है।

संसारकी रुचिको कम करके आत्मा का निर्णय करने के लक्ष्य से जो यहां तक आया है उसे श्रुतज्ञान के अवलंबन से निर्णय अवश्य होगा। निर्णय न हो यह हो ही नहीं सकता। साहूकार के वहीखाते में दिवाले की बात ही नहीं होती इसी प्रकार यहां दीर्घ संसारकी बात ही नहीं है। यहां तो एक दो भवमें अल्पकालमें ही मोक्ष जानेवाले जीवों की बात है। सभी बातोंकी हां हां कहा करे और अपने ज्ञानमें एक भी बात का निर्णय न करे ऐसे 'ध्वज पुच्छल' जीवों की बात यहां नहीं है। यहां तो सुहागा जैसी स्पष्ट बात है। जो अनंत संसार का अंत लाने के लिये पूर्ण स्वभाव के लक्ष्य से प्रारंभ करनेको निकले हैं ऐसे जीवों का किया हुआ प्रारंभ वापिस नहीं होता, ऐसे लोगों की ही यहां बात है। यह तो अप्रतिहत मार्ग है, पूर्णता के लक्ष्य से किया गया प्रारंभ वापिस नहीं होता। पूर्णता के लक्ष्य से पूर्णता होती ही है।

रुचि की रटन

यहां पर एक ही बात को अदल बदल कर बारंबार कहा है। इसलिये रुचिवान् जीव उकताता नहीं है। नाटक की रुचिवाला आदमी नाटक में 'वंशमोर' कहके भी अपनी रुचि की वस्तुको बारंबार देखता है। इसी प्रकार जिन भव्य जीवोंको आत्माकी रुचि हो गई है

और जो आत्मा का भला करने के लिये निकले हैं वे बारंबार रुचिपूर्वक प्रति समय-खाते पीते, चलते सोते, बैठते बोलते, और विचार करते हुये निरंतर श्रुतका ही अवलंबन स्वभाव के लक्ष्य से करते हैं। उसमें कोई काल अथवा क्षेत्र की मर्यादा नहीं करता। उन्हें श्रुतज्ञान की रुचि और जिज्ञासा ऐसी जम गई है कि वह कभी भी दूर नहीं होती। अमुक समय तक अवलंबन करके फिर उसे छोड़ देने की बात नहीं है परंतु श्रुतज्ञान के अवलंबन से आत्मा का निर्णय करने को कहा गया है। जिसे सच्चे तत्त्वकी रुचि है वह अन्य समस्त कार्यों की प्रीति को गौण कर देता है।

प्रश्न—तब क्या सत् की प्रीति होने पर खाना पीना और धंधा व्यापार इत्यादि सब छोड़ देना चाहिये? क्या श्रुतज्ञानको सुनते ही रहना चाहिये और फिर उसे सुनकर किया क्या जाय?

उत्तर—सत् की प्रीति होने पर तत्काल खाना पीना इत्यादि सब छूट ही जाता हो सो बात नहीं है किंतु उस ओर से रुचि अवश्य ही कम होजाती है। पर में से सुखबुद्धि उठजाय और सर्वत्र एक आत्मा ही आगे हो तो निरंतर आत्मा की ही चाह स्वतः होगी, मात्र श्रुतज्ञान को सुनते ही रहना चाहिये ऐसा नहीं कहा किन्तु श्रुतज्ञान के द्वारा आत्मा का निर्णय करना चाहिये। श्रुतके अवलंबन की धुनि लगने पर देव, गुरु, शास्त्र, धर्म, निश्चय व्यवहार इत्यादि अनेक पहलुओं की बातें आती हैं उन सब पहलुओं को जानकर एक ज्ञानस्वभावी आत्मा का निश्चय करना चाहिये इसमें भगवान कैसे हैं, उनके शास्त्र कैसे हैं और वे क्या कहते हैं? इन सबका अवलंबन यह निर्णय कराता है कि तू ज्ञान है, आत्मा-ज्ञानस्वरूप ही है, तू ज्ञान के सिवाय दूसरा कुछ नहीं कर सकता।

इसमें यह बताया गया है कि देव शास्त्र गुरु कैसे होते हैं और उन देव शास्त्र गुरु को पहचान कर उनका अवलंबन लेनेवाला स्वयं क्या समझा होता है। तू ज्ञान स्वभावी आत्मा है, तेरा जानना ही स्वभाव है किसी पर का कुछ करना अथवा पुण्यपाप के भाव करना तेरा स्वरूप नहीं है। यह सब जो बतलाते हों वे सच्चे देव शास्त्र गुरु हैं और इसप्रकार जो समझता है वही देव शास्त्र गुरु के अवलंबन से श्रुतज्ञान को समझा है किन्तु जिस राग से धर्मको मनवाते हों और शरीराश्रित क्रिया आत्मा करता है यह मनवाते हों तथा जो यह कहते हों कि जड़ कर्म आत्मा को परेशान करते हों वे सच्चे देव, शास्त्र, गुरु नहीं हो सकते।

जो शरीरादि सर्व परसे भिन्न ज्ञान स्वभावी आत्मा का स्वरूप बताते हों और यह बताते हों कि पुण्य-पाप का कर्तव्य आत्मा का नहीं है वही सच्चा शास्त्र है, वही सच्चे देव हैं और वही सच्चे गुरु हैं। जो पुण्य से धर्म बतलाते हैं और जो यह बतलाते हैं कि शरीर की क्रियाका करता आत्मा है तथा जो राग से धर्म होना बतलाते है वे सब कुगुरु, कुदेव और कुशास्त्र हैं क्योंकि वे यथावत् वस्तु स्वरूप के ज्ञाता नहीं हैं और वे विपरीत स्वरूप ही बतलाते हैं। जो वस्तु स्वरूप जैसा है वैसा न बताये और किंचित् मात्र भी विरुद्ध बताये, वह सचा देव, सचा शास्त्र या सचा गुरु नहीं हो सकता।

श्रुतज्ञान के अवलंबन का फल—आत्मानुभव है

मैं आत्मा तो ज्ञायक हूं, पुण्य पापकी वृत्तियां मेरी ज्ञेय हैं, वे मेरे ज्ञान से भिन्न हैं। इस प्रकार पहले विकल्प के द्वारा देव, गुरु, शास्त्र के अवलंबन से यथार्थ निर्णय करता है, ज्ञान स्वभाव का अनुभव होने से पहले की यह बात है। जिसने स्वभाव के लक्ष्य से श्रुत अवलंबन लिया है वह अल्प कालमें ही आत्मानुभव अवश्य करेगा। पहले विकल्पमें यह निश्चय किया कि मैं पर से भिन्न हूं, पुण्य पाप भी मेरा स्वरूप नहीं है मेरे शुद्ध स्वभाव के अतिरिक्त देव, गुरु, शास्त्र का भी अवलंबन परमार्थतः नहीं है। मैं तो स्वाधीन ज्ञान स्वभाव वाला हूं इस प्रकार जिसने निर्णय किया उसे अनुभव हुये बिना कदापि नहीं रह सकता। यहां प्रारंभ ही ऐसे बलपूर्वक किया है कि पीछे हटने की बात ही नहीं है।

पुण्य-पाप मेरा स्वरूप नहीं है, मैं ज्ञायक हूं, इस प्रकार जिसने निर्णय पूर्वक स्वीकार किया है अर्थात् उसका परिणमन पुण्य-पापकी ओर से हटकर ज्ञायक स्वभाव की ओर गया है, उसके पुण्य पाप के प्रति आदर नहीं रहा, इसलिये वह अल्प कालमें ही पुण्य पाप रहित स्वभाव का निर्णय करके और उसकी स्थिरता करके वीतराग होकर पूर्ण हो जायगा। यहां पूर्ण की ही बात है। प्रारंभ और पूर्णता के बीच कोई भेद रखा ही नहीं है। जो प्रारंभ हुआ है वह पूर्णता को लक्ष्य में लेकर ही हुआ है। सुनानेवाले और सुनने

वाले दोनों की पूर्णता ही है। जो पूर्ण स्वभाव की बात करते हैं वे देव, शास्त्र, गुरु तो पवित्र ही हैं, उनके अवलंबन से जिनने स्वीकार किया है वे भी पूर्ण पवित्र हुये बिना कदापि नहीं रह सकते। पूर्ण को स्वीकार करके आया है तो पूर्ण अवश्य होगा, इसप्रकार उपादान निमित्त की संधि साथ ही साथ है।

सम्यग्दर्शन होने से पूर्व...

आत्मानंद को प्रगट करने की पात्रता का स्वरूप कहा जाता है। तुझे धर्म करना है न तो तू अपने को पहिचान. सर्वप्रथम सच्चा निर्णय करने की बात है। अरे! तू है कौन. क्या क्षणिक पुण्य पाप को करनेवाला तू ही है; नहीं नहीं। तू तो ज्ञान का कर्ता ज्ञान स्वभावी है। परको ग्रहण करनेवाला अथवा छोड़ने वाला नहीं है, तू तो मात्र ज्ञाता ही है। ऐसा निर्णय ही धर्म के प्रथम प्रारंभ (सम्यग्दर्शन) का उपाय है। प्रारंभ में अर्थात् सम्यग्दर्शन होने से पूर्व ऐसा निर्णय न करे तो वह पात्रतामें भी नहीं है। मेरा सहज स्वभाव जानना है इस प्रकार श्रुत के अवलंबन से जो निर्णय करता है वह पात्र जीव है। जिसे पात्रता प्रगट होगई उसे अंतरंग अनुभव अवश्य होगा। सम्यग्दर्शन होने से पूर्व जिज्ञासु जीव, धर्म सन्मुख हुआ जीव, सत्समागम को प्राप्त हुआ जीव श्रुतज्ञान के अवलंबन से ज्ञान स्वभावी आत्मा का निर्णय करता है।

मैं ज्ञान स्वभावी जाननेवाला हूं। कहीं भी रागद्वेष करके ज्ञेयमें अटक जाना मेरा स्वभाव नहीं है। चाहे जो हो, मैं तो मात्र उसका ज्ञाता हूं, मेरा ज्ञाता स्वभाव परका कुछ करनेवाला नहीं है जैसे मैं ज्ञानस्वभावी हूं वैसे ही जगत् के सब आत्मा ज्ञान स्वभावी हैं, वे स्वयं अपने ज्ञान स्वभाव का निर्णय भूले हैं इसलिये दुःखी हैं। यदि वे स्वयं निर्णय करें तो उनका दुःख दूर हो। मैं किसी के बदलने में समर्थ नहीं हूं, मैं पर जीवों के दुःखों को दूर नहीं कर सकता। क्योंकि दुःख उनने अपनी भूल से किया है, इसलिये वे यदि अपनी भूलको दूर करें तो उनका दुःख दूर हो सकता है। ज्ञान का स्वभाव किसी परके लक्ष्य से अटकना नहीं है।

पहले जो श्रुतज्ञान का अवलंबन बताया है उसमें पात्रता आ चुकी है अर्थात् श्रुत के अवलंबन से आत्माका अव्यक्त निर्णय हो चुका है। तत्पश्चात् प्रगट अनुभव कैसे होता है? यह अब कहते हैं।—

सम्यग्दर्शन से पूर्व श्रुतज्ञान के अवलंबन के बल से आत्मा के ज्ञान स्वभाव को अव्यक्त रूप में लक्ष्य में लिया है। अब प्रगटरूपमें लक्ष्य में लेते हैं, अनुभव करते हैं, आत्मसाक्षात्कार अर्थात् सम्यग्दर्शन करते हैं सो कैसे? उसकी बात यहां कहते हैं। पश्चात् आत्मा की प्रगट प्रसिद्धि के लिये पर पदार्थ की प्रसिद्धि का कारण जो इन्द्रिय और मन के द्वारा प्रवर्तमान बुद्धियां हैं उनको मर्यादा में लेकर जिसने मतिज्ञान तत्त्व को आत्मसन्मुख किया है ऐसा अप्रगटरूप निर्णय हुआ था, वह अब प्रगटरूप कार्य को लाता है। जो निर्णय किया था उसका फल प्रगट होता है।

यह निर्णय जगत् के सभी आत्मा कर सकते हैं। सभी आत्मा परिपूर्ण भगवान ही हैं, इसलिये सब अपने ज्ञान स्वभाव का निर्णय कर सकने में समर्थ हैं। जो आत्मा का कुछ करना चाहता है उसके वह हो सकता है। किंतु अनादि काल से अपनी पर्वाह नहीं की। हे भाई! तू कौनसी वस्तु है यह जाने बिना तू क्या करेगा? पहले इस ज्ञानस्वभावी आत्मा का निर्णय करना चाहिये। यह निर्णय होनेपर अव्यक्त रूपमें आत्मा का लक्ष्य हुआ फिर पर के लक्ष्य और विकल्प से हटकर स्व का लक्ष्य प्रगटरूप में, अनुभवरूप में कैसे करना चाहिये? सो बताते हैं।

आत्माकी प्रगट प्रसिद्धि के लिये इन्द्रिय और मन से जो परलक्ष्य होता है उसे बदलकर मतिज्ञानको स्व में एकाग्र करते हुये आत्मा का लक्ष्य होता है अर्थात् आत्मा की प्रगट रूपमें प्रसिद्धि होती है। आत्मा का प्रगट रूप में अनुभव होना ही सम्यग्दर्शन है और सम्यग्दर्शन ही धर्म है।

धर्म के लिये पहले क्या करना चाहिये?

यह कर्ताकर्म अधिकारकी अंतिम गाथा है, इस गाथामें जिज्ञासुको मार्ग बताया है। लोक कहते हैं कि आत्मा के संबंधमें कुछ समझ में न आये तो पुण्य के शुभभाव करना चाहिये या नहीं?

उत्तर—पहले स्वभाव को समझना ही धर्म है धर्म के द्वारा ही संसार का अंत है, शुभभाव से धर्म नहीं होता और धर्म के बिना संसार का अंत नहीं होता। धर्म तो अपना स्वभाव है, इसलिये पहले स्वभावको समझना चाहिये।

प्रश्न—स्वभाव समझमें न आये तो क्या करना चाहिये ? समझने में देर लगे और एकाध भव हो तो क्या अशुभभाव करके मर जाय ?

उत्तर—पहले तो यह हो ही नहीं सकता कि यह बात समझ में न आये। समझने में विलंब हो तो वहां समझने के लक्ष्य से अशुभभाव को दूर करके शुभभाव करने से इनकार नहीं है, परंतु यह जानलेना चाहिये कि शुभभाव से धर्म नहीं होता। जबतक किसी भी जड़ वस्तु की क्रिया और राग की क्रिया को जीव अपनी मानता है तबतक वह यथार्थ समझ के मार्गपर नहीं है।

सुखका मार्ग सच्ची समझ और विकारका फल जड़ है

यदि आत्मा की सच्ची रुचि हो तो समझ का मार्ग लिये विना न रहें। सत्य चाहिये हो, सुख चाहिये हो तो यही मार्ग है। समझने में भले विलंब होजाय किंतु मार्ग तो सच्ची समझ का ही लेना चाहिये न ? सच्ची समझ का मार्ग ग्रहण करे तो सत्य समझमें आये विना न रहे। यदि ऐसे मनुष्य शरीर में और सत्समागम के योगसे भी सत्य समझमें न आये तो फिर सत्य का ऐसा सुयोग नहीं मिलता। जिसे यह खबर नहीं है कि मैं कौन हूं और यहीं स्वरूप को भूलकर जाता है वह जहां जायगा वहां क्या करेगा ? शांति कहां से लायेगा ? आत्मा की प्रतीति के विना कदाचित् शुभभाव किये हों तो भी उस शुभ का फल जड़ में जाता है। आत्मा में पुण्य का फल नहीं आता। जिसने आत्मा की परवाह नहीं की और यहीं से जो मूढ़ होगया है उसने यदि शुभभाव किया भी तो रजकणों का बंध हुआ और उन रजकणों के फल में भी उस रजकणों का ही संयोग मिलेगा। रजकणों का संयोग मिला तो उसमें आत्मा के लिये क्या है ? आत्मा की शांति तो आत्मा में है किन्तु उसकी परवाह तो की नहीं।

असाध्य कौन है और शुद्धात्मा कौन है?

यहींपर जड़ का लक्ष्य करके जड़ जैसा होगया है, मरने से पूर्व ही अपने को भूलकर संयोग दृष्टि से मरता है असाध्यभाव से वर्तन करता है इसलिये चैतन्य स्वरूप की प्रतीति नहीं है। वह जीते जी असाध्य ही है। भले ही शरीर हिले डुले और बोले, किन्तु यह जड़ की क्रिया है उसका मालिक हुआ, किन्तु अंतरंग में साध्य जो ज्ञान स्वरूप है उसकी जिसे खबर नहीं है, वह असाध्य (जीवित मुर्दा) है। वस्तु का स्वभाव यथार्थतया सम्यग्दर्शन पूर्वक जो ज्ञान है उससे न समझे तो जीव को स्वरूप का किंचित् मात्र भी लाभ नहीं है। सम्यग्दर्शन और ज्ञान से स्वरूपकी पहिचान और निर्णय करके जो स्थिर हुआ, उसीको 'शुद्ध आत्मा' का नाम प्राप्त होता है और शुद्ध आत्मा ही सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान है। 'मैं शुद्ध हूं' ऐसा विकल्प छूटकर अकेला आत्मानुभव रह जाय सो यही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है; सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान कहीं आत्मा से प्रथक् नहीं है।

जिसे सत्य चाहिये हो ऐसे जिज्ञासु समझदार जीव को यदि कोई असत्य बताये तो वह असत्य को स्वीकार नहीं कर लेता। जिसे सत्स्वभाव चाहिये हो वह स्वभाव से विरुद्ध भावको स्वीकार नहीं करता—उसे अपना नहीं मानता। वस्तु का स्वरूप शुद्ध है, उसका बराबर निर्णय किया और वृत्ति के छूट जाने पर जो अभेद शुद्ध अनुभव हुआ वही समयसार है और वही धर्म है। ऐसा धर्म कैसे हो धर्म करने के लिये पहले क्या करना चाहिये ? इसके संबंध में यह कथन चल रहा है।

धर्मकी रुचिवाले जीव कैसे होते हैं ?

धर्म के लिये सर्व प्रथम श्रुतज्ञान का अवलंबन लेकर श्रवण-मनन से ज्ञान स्वभावी आत्मा का निश्चय करना कि मैं एक ज्ञान स्वभाव हूं। ज्ञान में ज्ञान के अतिरिक्त कुछ भी करने धरने का स्वभाव नहीं है। इस प्रकार सत्को समझने में जो समय जाता है वह भी अनंतकाल में कभी नहीं किया गया अपूर्व अभ्यास है। जीव की सत्की ओर रुचि होती है अर्थात् वैराग्य जागृत होता है और समस्त संसार के ओर की रुचि उड़ जाती है। चौरासी के अवतार का त्रास अनुभव होने लगता है कि यह त्रास कैसा ? स्वरूपकी प्रतीति नहीं होती और प्रतिक्षण पराश्रय भावमें लगा रहना पड़ता है, यह भी कोई मनुष्य का जीवन है ! तिर्यंच इत्यादि के दुःखों की तो बात ही क्या, परंतु इस मानव का भी ऐसा दुःखी जीवन ! और यह अंतमें स्वरूप की प्रतीति के विना असाध्य होकर मरता है ? इस प्रकार संसार के त्रास का अनुभव होने पर स्वरूप को समझने की रुचि होती है। वस्तुको समझने के लिये जो समय जाता है वह भी ज्ञान की क्रिया है सत्का मार्ग है।

जिज्ञासुओंको पहले ज्ञान स्वभावी आत्मा का निर्णय करना चाहिये। मैं एक ज्ञाता हूं, मेरा स्वरूप ज्ञान है, वह जाननेवाला है, पुण्य पाप कोई मेरे ज्ञान का स्वरूप

नहीं है। पुण्य पाप के भाव अथवा स्वर्ग नरकादि कोई मेरा स्वभाव नहीं है। इसप्रकार श्रुतज्ञान के द्वारा आत्मा का प्रथम निर्णय करना ही प्रथम उपाय है।

उपादान निमित्त और कार्य कारण

सच्चे श्रुतज्ञान के अवलंबन के बिना और श्रुतज्ञान से ज्ञान स्वभावी आत्मा का निर्णय किये बिना आत्मा अनुभव में नहीं आता। इसमें आत्मा का अनुभव करना सो कार्य है। आत्मा का निर्णय उपादान कारण है और श्रुतका अवलंबन निमित्त है। श्रुत के अवलंबन से ज्ञान-स्वभाव का जो निर्णय किया उसका फल उस निर्णय के अनुसार आचरण अर्थात् अनुभव करना है। आत्मा का निर्णय कारण है और आत्मा का अनुभव कार्य है। अर्थात् जो निर्णय करता है उसे अनुभव होता ही है।

अंतरंग अनुभवका उपाय अर्थात् ज्ञानकी क्रिया

अब आत्मा का निर्णय करने के बाद यह बताते हैं कि उसका प्रगट अनुभव कैसे करना चाहिये। निर्णयानुसार श्रद्धा का जो आचरण सो अनुभव है। प्रगट अनुभव में शांति का वेदन लाने के लिये अर्थात् आत्मा की प्रगट प्रसिद्धि के लिये परपदार्थ की प्रसिद्धि के कारण को छोड़ देना चाहिये। मैं ज्ञानानंद स्वरूपी आत्मा हूं इसप्रकार प्रथम निश्चय करने के बाद आत्मा के आनंद का प्रगट उपभोग करने के लिये (वेदन–अनुभव करने के लिये) पर पदार्थकी प्रसिद्धि के कारण–जो इन्द्रिय और मन के द्वारा पर लक्ष्य में प्रवर्तमान ज्ञान है उसे अपनी ओर उन्मुख करना चाहिये। देव, गुरु, शास्त्र इत्यादि पर पदार्थ की ओर का लक्ष्य तथा मन के अवलंबन से प्रवर्तमान बुद्धि अर्थात् मतिज्ञान को संकुचित करके–मर्यादा में लाकर अपनी ओर ले आना सो अंतरंग अनुभव का पंथ है, सहज शीतल स्वरूप अनाकुल स्वभाव की छाया में बैठने का प्रथम मार्ग है।

पहले आत्मा ज्ञान स्वभाव है ऐसा बराबर निश्चय करके पश्चात् प्रगट अनुभव करने के लिये परकी ओर झुकते हुये भाव जो मति और श्रुतज्ञान हैं उन्हें स्व की ओर एकाग्र करना चाहिये और जो ज्ञान परमें विकल्प करके अटक जाता है उसी ज्ञानको वहां से हटाकर स्वभावकी ओर लाना चाहिये। मति और श्रुतज्ञान के जो भाव हैं वे तो ज्ञान में ही रहते है, परंतु पहले वे परकी ओर झुकते थे, परंतु अब उन्हें आत्मोन्मुख करते हुये स्वभाव की ओर लक्ष्य होता है। आत्मा के स्वभाव में एकाग्र होने की यह क्रमिक सीढ़ियां हैं।

ज्ञानमें भव नहीं

जिसने मन के अवलंबन से प्रवर्तमान ज्ञानको मन से छुड़ाकर अपनी ओर किया है अर्थात् जो मतिज्ञान परकी ओर जाता था उसे मर्यादा में लेकर आत्मसन्मुख किया है उसके ज्ञान में अनंत संसार का नास्ति-भाव और ज्ञान स्वभाव का अस्ति भाव है। ऐसी समझ और ऐसा ज्ञान करने में अनंत पुरुषार्थ है। स्वभावमें भव नहीं है इसलिये जिसके स्वभाव की ओर का पुरुषार्थ जागृत हुआ है उसे भवकी शंका नहीं रहती। जहां भव की शंका है वहां सच्चा ज्ञान नहीं है और जहां सच्चा ज्ञान है वहां भवकी शंका नहीं है, इस प्रकार ज्ञान और भवकी एक दूसरे में नास्ति है।

पुरुषार्थ के द्वारा सत्समागम से मात्र ज्ञान स्वभावी आत्मा का निर्णय किया, पश्चात् मैं अबंध हूं या बंध वाला हूं, शुद्ध हूं या अशुद्ध हूं, त्रिकाल हूं या क्षणिक हूं इत्यादि जो वृत्तियां उठती हैं उनमें भी अभी आत्म शांति नहीं है। वे वृत्तियां आकुलतामय आत्म शांति की विरोधिनी हैं। नय पक्ष के अवलंबन से होने वाले मन संबंधी अनेक प्रकार के जो विकल्प हैं उन्हें भी मर्यादा में लाकर अर्थात् उन विकल्पों को रोकने के पुरुषार्थ के द्वारा श्रुतज्ञान को भी आत्म सन्मुख करने पर शुद्धात्मा का अनुभव होता है। इसप्रकार मति और श्रुतज्ञान को आत्मसन्मुख करना ही सम्यग्दर्शन है। इंद्रिय और मन के अवलंबन से मतिज्ञान पर लक्ष्यमें प्रवृत्ति कर रहा था उसे तथा मन के अवलंबन से श्रुतज्ञान अनेक प्रकार के नयपक्षों के विकल्प में अटक जाता था उसे अर्थात् परावलंबन से प्रवर्तमान मतिज्ञान और श्रुतज्ञान को मर्यादा में लाकर—अंतरंग स्वभाव सन्मुख करके उन ज्ञानों के द्वारा एक ज्ञान स्वभाव को पकड़कर (लक्ष्यमें लेकर) निर्विकल्प होकर तत्काल निज रस से ही प्रगट होने वाले शुद्धात्मा का अनुभव करना सो सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है।

इसप्रकार अनुभवमें आनेवाला शुद्धात्मा कैसा है? सो कहते हैं।

आदि मध्य और अंत से रहित त्रिकाल एकरूप है उसमें बंध मोक्ष नहीं है, अनाकुलता स्वरूप है। मैं शुद्ध

हूं या अशुद्ध हूं ऐसे विकल्प से होनेवाली आकुलता से रहित है। लक्ष्यमें से पुण्य पाप का आश्रय छूटकर मात्र आत्मा ही अनुभवरूप है, मात्र एक आत्मा में पुण्य-पाप के कोई भाव नहीं हैं. मानों समस्त विश्व के ऊपर तैर रहा हो अर्थात् समस्त विभावों से प्रथक् होगया हो ऐसा चैतन्य स्वभाव प्रथक् अखंड प्रतिभासमय अनुभव होता है। आत्मा का स्वभाव पुण्य पाप के ऊपर तैरता है। तैरता है अर्थात् उसमें एकमेक नहीं होजाता, उसरूप नहीं होजाता परंतु उससे अलग का अलग ही रहता है। अनंत है अर्थात् जिसके स्वभाव में कभी अंत नहीं है; पुण्य पाप तो अंतवाले हैं, ज्ञानस्वरूप अनंत है और विज्ञान घन है—मात्र ज्ञान का ही पिंड है। मात्र ज्ञानपिंडमें किंचित् मात्र भी रागद्वेष नहीं हैं। अज्ञानभाव से राग का कर्ता था परंतु स्वभाव भाव से राग का कर्ता नहीं है। अखंड आत्म स्वभाव का अनुभव होनेपर जो जो अस्थिरता के विभाव थे उन सब से छूटकर जब यह आत्मा विज्ञानघन अर्थात् जिसमें कोई विकल्प प्रवेश नहीं कर सकते ऐसे ज्ञान का निविड़ पिंडरूप परमात्म स्वरूप समयसार हूं उसका अनुभव करता है तब वह स्वयं ही सम्यग्दर्शन स्वरूप है।

निश्चय और व्यवहार

इसमें निश्चय—व्यवहर दोनों आ जाते हैं। अखंड विज्ञानघन स्वरूप ज्ञानस्वभावी जो आत्मा है सो निश्चय है और परिणति को स्वभाव के सन्मुख करना सो व्यवहार है। मतिश्रुतज्ञान को अपनी ओर करनेकी पुरुषार्थरूपी जो पर्याय है सो व्यवहार है और जो अखंड आत्मस्वभाव सो निश्चय है जब मतिश्रुतज्ञान को स्व की ओर किया और आत्माका अनुभव किया उसी समय आत्मा सम्यक्रूपसे दिखाई देता है और उसकी श्रद्धा की जाती है यह सम्यग्दर्शन प्रगट होने के समय की बात की है।

सम्यग्दर्शन होने पर क्या होता है ?

सम्यग्दर्शन होनेपर स्वरस का अपूर्व आनंद अनुभवमें आता है। आत्माका सहज आनंद प्रगट होता है, आत्मीक आनंदका उछाल आता है अंतरंगमें आत्मशांति का संवेदन होता है आत्मा का सुख अंतरंगमें है वह अनुभवमें आता है, इस अपूर्व सुख का मार्ग सम्यग्दर्शन ही है 'मैं भगवान आत्मा समयसार हूं' इसप्रकार जो निर्विकल्प शांतरस अनुभवमें आता है वही समयसार और सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान है। यहां तो सम्यग्दर्शन और आत्मा दोनों अभेद किये गये हैं। आत्मा स्वयं सम्यग्दर्शन स्वरूप है।

वारंवार ज्ञानमें एकाग्रता का अभ्यास करना चाहिये

सर्वप्रथम आत्मा का निर्णय करके पश्चात् अनुभव करने को कहा है। सर्वप्रथम जबतक यह निर्णय न हो कि मैं निश्चय ज्ञान स्वरूप हूं अन्य कोई रागादि मेरा स्वरूप नहीं है तबतक सच्चे श्रुतज्ञान को पहचानकर उसका परिचय करना चाहिये, सत् श्रुत के परिचय से ज्ञानस्वभावी आत्मा का निर्णय करने के बाद मति श्रुतज्ञान को उस ज्ञान स्वभाव की और झुकाने का प्रयत्न करना चाहिये तथा निर्विकल्प होने का पुरुषार्थ करना चाहिये यही पहला अर्थात् सम्यकत्व का मार्ग है। इसमें तो वारंवार ज्ञान में एकाग्रता का अभ्यास ही करना है बाह्य कुछ नहीं करना है किन्तु ज्ञानमें ही समझ और एकाग्रता का प्रयास करना है। ज्ञानमें अभ्यास करते करते जहां एकाग्र हुआ वहां उसी समय सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के रूपमें यह आत्मा प्रगट होता है, यही जन्म मरण को दूर करने का उपाय है। मात्र ज्ञायक स्वभाव है, उसमें अन्य कुछ करने का स्वभाव नहीं है। निर्विकल्प अनुभव होने से पूर्व ऐसा निश्चय करना चाहिये। इसके अतिरिक्त यदि अन्य कुछ माने तो व्यवहार से भी आत्मा का निश्चय नहीं है। अनंत उपवास करे तो भी आत्मा का ज्ञान नहीं होता। बाहर दौड़ धूप करे तो उससे भी ज्ञान नहीं होता किन्तु ज्ञान स्वभाव को पकड़से ही ज्ञान होता है। आत्माकी ओर लक्ष्य और श्रध्धा किये बिना सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान कहांसे हो सकता है ? पहले देवशास्त्रगुरु के निमित्तों से अनेक प्रकार श्रुतज्ञान को जाने और उसमें से एक आत्मा को पहिचाने, फिर उसका लक्ष्य करके प्रगट अनुभव करने के लिये मतिश्रुतज्ञानसे बाहर झुकती हुई पर्यायोंको स्वसन्मुख करनेपर तत्काल निर्विकल्प निज स्वभावरस आनंदका अनुभव होता है। आत्मा जिस समय परमात्म स्वरूप का दर्शन करता है उसी समय स्वयं सम्यग्दर्शनरूप प्रगट होता है। जिसे आत्माकी प्रतीति होगई उसे बाद में विकल्प उठता है तब भी जो आत्मदर्शन होगया है उसकी प्रतीति तो रहती ही है अर्थात् आत्मानुभव होने के बाद विकल्प उठनेसे सम्यग्दर्शन चला नहीं जाता। किसी वेष या मर्यादामें सम्यग्दर्शन नहीं है, किंतु स्वरूप ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है।

सम्यग्दर्शनसेज्ञान स्वभावी आत्माका निश्चय करने के बाद भी शुभभाव आते तो हैं परंतु आत्महित ज्ञान स्वभाव का निश्चय करने से ही होता है। जैसे जैसे ज्ञान स्वभाव की दृढ़ता बढ़ती जाती है वैसे वैसे शुभभाव भी दूर होते जाते हैं। बाह्य लक्ष्य से जो वेदन होता है वह सब दुःखरूप है। आत्मा आंतरिक शांतरस की ही मूर्ति है, उसके लक्ष्य से जो वेदन होता है वही सुख है। सम्यग्दर्शनआत्मा का गुण है; गुण गुणी से प्रथक् नहीं होता। एक अखंड प्रतिभासमय आत्मा का अनुभव ही सम्यग्दर्शन है।

अंतिम अनुरोध

आत्म कल्याण का यह छोटेसे छोटा (जो सबसे हो सकता है) उपाय है। अन्य सब उपायों को छोड़कर इसी को करना है। बाह्य में हित का साधन लेशमात्र भी नहीं है। सत्समागम से एक आत्मा का ही निश्चय करना चाहिये. वास्तविक तत्त्व की श्रद्धा के विना आंतरिक संवेदन का आनंद नहीं जमता। पहले अंतरंग से सत् की स्वीकृति आये विना सत् स्वरूप का ज्ञान नहीं हो सकता और सत् स्वरूप का ज्ञान हुये विना भवबंधन की बेड़ी नहीं टूट सकती और भवबंधन के अंत से रहित जीवन किस कामका ? भव के अंत की श्रद्धा के विना कदाचित् पुण्य करे तो उसका फल राजपद अथवा इंद्रपद हो सकता है परंतु उससे आत्मा को क्या लाभ है? आत्माकी प्रतीति के विना यह पुण्य और यह इन्द्रपद सब व्यर्थ ही हैं, उसमें आत्म शांति का अंशभी नहीं है इसलिये पहले श्रुतज्ञान के द्वारा ज्ञान स्वभाव का दृढ़ निश्चय करने पर प्रतीतिमें भव की शंका ही नहीं रहती और जितनी ज्ञानकी दृढ़ता होती है उतनी शांति बढ़ती जाती है।

भाई ! तू कैसा है, और तेरी प्रभुता की महिमा कैसी है इसे तूने नहीं जाना। तू अपनी प्रभुता की भान के विना बहार जिस तिस के गीत गाया करे तो इससे तुझे अपनी प्रभुता का लाभ नहीं होगा। पर के गीत तो गाये परंतु अपने गीत नहीं गाये। भगवान की प्रतिमा के समक्ष कह कि 'हे नाथ ! हे भगवान ! आप अनंत ज्ञान के धनी हो' वहां सामने से भी यही प्रति ध्वनि हो कि' हे नाथ ! हे भगवान ! आप अनंत ज्ञान के धनी हो' तभी तो अंतरंग में पहचान करके अपने को समझेगा। विना पहचान के अंतरंग में सच्ची प्रतिध्वनि जागृत नहीं हो सकती।

शुद्धात्मस्वरूप का संवेदन कहो, ज्ञान कहो, श्रद्धा कहो, चारित्र कहो, अनुभव कहो या साक्षात्कार कहो— जो भी कहो यह एक आत्मा ही है। अधिक क्या कहा जाय? जो कुछ है वह एक आत्मा ही है। उसी को भिन्न भिन्न नाम से कहा जाता है। केवलीपद, सिद्धपद अथवा साधुपद यह सब एक आत्मा में ही समा जाते हैं। समाधि मरण, आराधना इत्यादि नाम भी स्वरूप की स्थिरता ही है। इसप्रकार आत्मस्वरूप की समझ ही सम्यग्दर्शन है, और यह सम्यग्दर्शन ही सर्वधर्म का मूल है। सम्यग्दर्शन ही आत्मा का धर्म है। ★

समयसारावलोकन [गतांक से संपूर्ण]

[गाथा ३६-३७]

४६—प्रत्याख्यान के स्वरूप को अधिक दृढ़ करने के लिये यह दे।गाथायें कहीं गई हैं।

गाथा ३६ में कहा है कि-मोह किसी भी प्रकार से मेरा संबंधी नहीं हैं। मैं एक उपयोग मात्र हूं, इसप्रकार जानकर उसमें स्थिर हुआ और भावकभाव (रागादि) से अपना स्वभाव भिन्न है यह भेद ज्ञान होगया.

गाथा ३७ में कहा है कि शरीर पर जीव और अन्यद्रव्य मेरे कुछ भी नहीं लगते, मैं एक उपयोग मात्र हूं यह जानकर अपने ज्ञानमें स्थिर हुआ सो यह ज्ञेयभावका भेदज्ञान है उसी को प्रत्याख्यान कहा जता है, यह कह कर सच्चे प्रत्याख्यान का विषय पूरा किया है। [गाथा ३८]

४७—जो पहले अत्यंत अज्ञानी था वह इस शास्त्र की प्रारंभिक ३३ गाथाओं में आचार्यदेव के द्वारा दियेगये उपदेश को सुनकर सम्यग्ज्ञानी होगया, फिर अपने स्वरूप में स्थिर रहने की भावना की, इसलिये उसे गुरुदेवने उसका स्वरूप गाथा ३४-३७ तक सुनाया। उसजीव को अर्थात् सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र स्वरूप परिणित हुये आत्माका स्वरूपका कैसा लक्ष्य होता है यह बात इस गाथामें कह कर जीवाधिकार पूर्ण किया गया है।

४८—जीवाधिकार की यह अंतिम गाथा है उसमें आचार्यदेव कहते हैं कि यह (प्रत्याख्यान करनेवाला) जीव जानता है कि मैं वास्तवमें एक हूं, शुद्ध हूं, दर्शन ज्ञान मय हूं, सदा अरूपी हूं, कोइ भी अन्यद्रव्य परमाणु मात्र-पुण्य पाप-रागद्वेष मेरे नहीं है।

४९-इसगाथामें जीव का अनेकांत स्वरूप कहा है अर्थात् यह समझाया है कि जीव क्या है और क्या नहीं ?

जीव क्या है ? (अस्ति स्वरूप)

(१) स्वयं एक है (२) शुद्ध है (३) ज्ञानदर्शनमय है (४) सदा अरूपी है।

जीव क्या नहीं है ?– (नास्तिस्वरूप)

कोई भी अन्य द्रव्य परमाणुमात्र अर्थात् पुण्य पापका-रागका, द्वेपका, अथवा पर वस्तुका सूक्ष्मातिसूक्ष्म भाग भी जीव नहीं है। इसप्रकार आचार्यदेवने यहांपर अनेकांत के द्वारा वस्तु स्वरूप को समझाकर यह विपय पूर्ण किया है।

धर्मका मूल सम्यग्दर्शन है।

आत्म धर्म

वर्ष २ अंक १०

: संपादक :
रामजी माणेकचंद दोशी
वकील

माघ २४७३

चेत, चेत, प्रभु! चेत

भगवान कहते हैं कि विचार कर, विचार कर। अनादि संसारमें परिभ्रमण करते हुये तूने एकेन्द्रियादि पर्यायमें कैसे कैसे दुःख सहन किये, इसकी तुझे खबर नहीं है किन्तु हम जानते हैं। भाई! इन दुःखों का वर्णन नहीं किया जा सकता अब तू मनुष्य हुआ है तो ध्यान रख और स्वरूपको समझ ले, इस अपूर्व अवसर को मत चूक जाना। यदि अभी भी स्वरूपकी चिंता नहीं करेगा तो तेरे दुःखोंका अंत नहीं है। निगोद से इतना ऊपर चढकर आया है तो अब अपने सिद्ध स्वरूप का शीघ्र ही आधार ग्रहण कर ले। यदि स्वरूप का आधार ग्रहण नहीं किया तो फिर नीचे गिरकर वहीं निगोदमें पहुंचेगा और यदि स्वरूप का आश्रय ग्रहण करेगा तो अनंत अक्षय सुखकी प्राप्ति होगी।

भगवान कहते हैं कि चेत, चेत, प्रभु चेत। आत्मा का स्वभाव पूर्ण जानना-देखना है। जहां पूर्ण जानना-देखना होता है वहां पूर्ण सुख अवश्य होता है। स्वभाव ही सुख है अतः सुख के लिये स्वभावकी श्रद्धा करना चाहिये।

[मोक्षमार्ग प्रकाशक]

वार्षिक मूल्य तीन रुपया

शाश्वत सुखका मार्ग दर्शक मासिक पत्र

एक अंक पाँच आना

आत्मधर्म कार्यालय—मोटा आंकड़िया—काठियावाड़

आत्मधर्म : वर्ष २ : अंक १० : २२ : माघ २४७३ :

महा पाप

" मिथ्यात्व के समान अन्य कोई पाप नहीं है, मिथ्यात्व का सद्भाव रहते हुये अन्य अनेक उपाय करने पर भी मोक्ष नहीं होता, इसलिये प्रत्येक उपायों के द्वारा सब तरह से इस मिथ्यात्व का नाश करना चाहिये । " [मोक्षमार्ग प्रकाशक अध्याय ७ पृष्ठ २७०]

" यह जीव अनादिकाल से मिथ्यादर्शन ज्ञान चारित्ररूप परिणमन कर रहा है और इसी परिणमन के द्वारा संसार में अनेक प्रकार के दुःख उत्पन्न करनेवाले कर्मों का संबंध होता है । यही भाव सर्व दुःखों का बीज है, अन्य कोई नहीं । इसलिये हे भव्य जीवो ! यदि तुम दुःखों से मुक्त होना चाहते हो तो सम्यग्दर्शनादि के द्वारा मिथ्यादर्शनादिक विभावों का अभाव करना ही अपना कार्य है । इस कार्य को करते हुये तुम्हारा परम कल्याण होगा । " [मोक्षमार्ग प्रकाशक अध्याय ४ पृष्ठ ९८]

उपरोक्त कथन पर

—पूज्य श्री कानजी स्वामी का प्रवचन—

इस मोक्षमार्ग प्रकाशक में अनेक प्रकार से मिथ्यादृष्टियों के स्वरूप निरूपण करने का हेतु यह है कि मिथ्यात्व के स्वरूपको समझ कर यदि अपने में वह महान् दोष हो तो उसे दूर किया जाय । स्वयं अपने दोषोंको दूर करके सम्यक्त्व ग्रहण किया जाय । यदि अन्य जीवोंमें वह दोष हो तो उसे देखकर उन जीवों पर कषाय नहीं करना चाहिये । दूसरे के प्रति कषाय करने के लिये यह नहीं कहा गया है । हां, यह सच है कि यदि दूसरों में मिथ्यात्वादिक दोष हों तो उनका आदर-विनय न किया जांय किन्तु उन पर द्वेष करने को भी नहीं कहा है ।

अपने में यदि मिथ्यात्व हो तो उसका नाश करने के लिये ही यहां पर मिथ्यात्व का स्वरूप बताया गया है क्योंकि अनंत जन्म-मरण का मूल कारण ही मिथ्यात्व है । क्रोध, मान, माया, लोभ अथवा हिंसा, झुठ, चोरी इत्यादि कोई भी अनंत संसार का कारण नहीं है, इसलिये वास्तवमें वह महापाप नहीं है किन्तु विपरीत मान्यता ही अनंत अवतारों प्रगट होनेकी जड़ है इसलिये वही महापाप है, उसी में समस्त पाप समा जाते हैं । जगत् में मिथ्यात्व के बराबर अन्य कोई पाप नहीं हैं विपरीत मान्यतामें अपने स्वभाव की अनंत हिंसा है । कुदेवादि को मानने में तो गृहीतमिथ्यात्व का अत्यंत स्थूल महापाप है।

कोई लडाईमें करोड़ों मनुष्यों के संहार करने के लिये खड़ा हो उसके पापकी अपेक्षा एक क्षण के मिथ्यात्व सेवन का पाप अनंतगुणा अधिक है । सम्यक्त्वी लड़ाई में खड़ा हो तथापि उसके मिथ्यात्व का सेवन नहीं है इसलिये उस समय भी उसके अनंत संसार के कारण रूप बंधन का अभाव ही है । सम्यग्दर्शन के होते ही ४१ प्रकार के कर्मों का तो बंध होता ही नहीं है । मिथ्यात्व का सेवन करने वाला महापापी है । जो मिथ्यात्व का सेवन करता है और शरीरादिकी क्रिया को अपने आधीन मानता हैं वह जीव त्यागी होकर भी यदि कोमल पींछी से पर जीवकी यतना कर रहा हो तो उस समय भी उसके अनंत संसार का बंध ही होता है और उसके समस्त प्रकृतियां बंधती हैं और शरीरकी कोई क्रिया अथवा एक विकल्प भी मेरा स्वरूप नहीं है, मैं उसका कर्ता नहीं हूं इस प्रकारकी प्रतीति के द्वारा जिसने मिथ्यात्व का नाश करके सम्यग्दर्शन प्रगट कर लिया है वह जीव लड़ाई में हो अथवा विषय सेवन कर रहा हो तथापि उस समय उसके संसारकी वृद्धि नहीं होती और ४१ प्रकृतियों के बंध का अभाव ही है । इस जगत्में मिथ्यात्वरूपी विपरीत मान्यता के समान दूसरा कोई पाप नहीं है ।

आत्माकी भान करने से अपूर्व सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। इस सम्यग्दर्शन से युक्त जीव लड़ाई में होने पर भी अल्प पाप का बंध करता है और वह पाप उसके संसारकी वृद्धि नहीं कर सकता क्योंकि उसके मिथ्यात्व का अनंत पाप दूर होगया है और आत्माकी अभानमें मिथ्यादृष्टि जीव पुण्यादिकी क्रियाको अपना स्वरूप मानता है तब वह भले ही पर जीवकी यतना कर रहा हो तथापि उस समय उसे लड़ाई लडते हुये और विषय भोग करते हुये सम्यग्दृष्टि जीवकी अपेक्षा अनंत गुणा पाप मिथ्यात्व का है मिथ्यात्व का ऐसा महान् पाप है। सम्यग्दृष्टि जीव अल्पकाल में ही मोक्षदशा को प्राप्त कर लेगा ऐसा महान् धर्म सम्यग्दर्शन में है।

जगत् के जीव सम्यग्दर्शन और मिथ्यादर्शन के स्वरूपको ही नहीं समझे वे पाप का माप बाहर के संयोगों पर से निकालते हैं किंतु वास्तविक पाप-त्रिकाल महापाप तो एक समय के विपरीत अभिप्राय में है। उस मिथ्यात्व का पाप जगत् के ध्यानमें ही नहीं आता और अपूर्व आत्म प्रतीति के प्रगट होने पर अनंत संसार का अभाव हो जाता है तथा अभिप्राय में सर्व पाप दूर होजाते हैं। यह सम्यक्दर्शन क्या वस्तु है इस जगत् के जीवोंने सुना तक नहीं हैं।

मिथ्यात्वरूपी महान पाप के रहते हुये अनंत व्रत करे, तप करे, देव दर्शन, भक्ति पूजा इत्यादि सब कुछ करे और देश सेवा के भाव करे तथापि उसका संसार किंचित् मात्र भी दूर नहीं होता। एक सम्यग्दर्शन (आत्मस्वरूपकी सच्ची पहिचान) के उपाय के अतिरिक्त अन्य जो अनंत उपाय हैं वे सब उपाय करने पर भी मिथ्यात्वको दूर किये विना धर्म का अंश भी प्रकट नहीं होता और एक भी जन्म मरण दूर नहीं होता, इसलिये प्रत्येक उपाय के द्वारा-सर्व प्रकार के उपाय करके मिथ्यात्व का नाश करके शीघ्र ही सम्यक्त्व को प्राप्त कर लेना आवश्यक है। सम्यक्त्व का उपाय ही सर्व प्रथम कर्तव्य है।

यह खास ध्यानमें रखना चाहिये कि कोई भी शुभभाव की क्रिया अथवा व्रत तप इत्यादि सम्यक्त्व के प्रगट करने का उपाय नहीं है किन्तु अपने आत्मस्वरूप का ज्ञान और अपने आत्मा की रुचि तथा लक्ष्यपूर्वक सत्समागम ही उसका उपाय है, दूसरा कोई उपाय नहीं है।

'मैं पर का कुछ कर सकता हूं और पर मेरा कर सकता है तथा पुण्य के करते करते धर्म होता है' इसप्रकार की मिथ्यात्वपूर्ण विपरीत मान्यता में एक क्षणभर में अनंत हिंसा है, अनंत असत्य है, अनंत चोरी है, अनंत अब्रह्मचर्य (व्यभिचार) है और अनंत परिग्रह है। एक मिथ्यात्व में एक ही साथ जगत् के अनंत पापों का सेवन है।

१—मैं पर द्रव्य का कुछ कर सकता हूं इस का अर्थ यह है कि जगत् में जो अनंत पर द्रव्य हैं उन सब को पराधीन माना है और पर मेरा कुछ कर सकता है। इसका अर्थ यह है कि अपने स्वभाव को पराधीन माना है। इस मान्यता में जगत् के अनंत पदार्थों की और अपने अनंत स्वभाव की स्वाधीनता की हत्या की गई है इसलिये उसमें अनंत हिंसा का महान पाप होता है।

२—जगत् के समस्त पदार्थ स्वाधीन हैं उसकी जगह उन सब को पराधीन—विपरीत स्वरूप माना तथा जो अपना स्वरूप नहीं है उसे अपना स्वरूप माना, इस मान्यता में अनंत असत् सेवन का महा पाप है।

३—पुण्य का विकल्प अथवा किसी भी परवस्तुको जिसने अपना माना है उसने त्रिकालकी परवस्तुओं और विकारभावको अपना स्वरूप मानकर अनंत चोरी का महापाप किया है।

४—एक द्रव्य दूसरे का कुछ कर सकता है, यों माननेवाले ने स्वद्रव्य परद्रव्यको भिन्न न रखकर उन दोनों के बीच व्यभिचार करके दोनों में एकत्व माना है और ऐसे अनंत पर द्रव्यों के साथ एकतारूप व्यभिचार किया है यही अनंत मैथुन सेवन का महा पाप है।

५—एक रजकण भी अपना नहीं है ऐसा होने पर भी जो जीव मैं उसका कुछ कर सकता हूं इसप्रकार मानता है वह परद्रव्यको अपना मानता है। जो तीनों जगत् के पर पदार्थ हैं उन्हें अपना मानता है इसलिये इस मान्यतामें अनंत परिग्रह का महा पाप है।

इस प्रकार जगत् के सर्व महापाप एक मिथ्यात्व में ही समाविष्ट होजाते हैं इसलिये जगत् का सबसे महा पाप मिथ्यात्व ही है और सम्यग्दर्शन के होने पर ऊपर के समस्त महा पापों का अभाव होजाना है इसलिये जगत् का सर्व प्रथम धर्म सम्यक्त्व ही है। अतः मिथ्यात्वको छोड़ो और सम्यक्त्वको प्रगट करो।
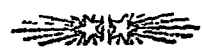
सम्यग्दर्शन

समयसार गाथा १४२ पर पूज्य श्री कानजी स्वामीका प्रवचन

सम्यग्दर्शन क्या है और उसका अवलंबन क्या है ?

सम्यग्दर्शन अपने आत्मा के श्रद्धा गुणकी निर्विकारी पर्याय है। अखंड आत्मा के लक्ष्य से सम्यग्दर्शन प्रगट होता है, सम्यग्दर्शनको किसी विकल्प का अवलंबन नहीं है किन्तु निर्विकल्प स्वभाव के अवलंबन से सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। यह सम्यग्दर्शन ही आत्मा के सर्व सुख का कारण है। 'मैं ज्ञानस्वरूप आत्मा हूं, बंध रहित हूं' ऐसा विकल्प करना सो भी शुभराग हैं, उस शुभराग का अवलंबन भी सम्यग्दर्शन के नहीं है उस शुभ विकल्पको उल्लंघन करने पर सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। सम्यग्दर्शन स्वयं राग और विकल्प रहित निर्मल गुण है उसके किसी विकार का अवलंबन नहीं है किन्तु समूचे आत्मा का अवलंबन है वह समूचे आत्मा को स्वीकार करता है।

एकवार विकल्प रहित होकर अखंड ज्ञायक स्वभाव को लक्ष्यमें लिया कि सम्यक् प्रतीति हुई। अखंड स्वभाव का लक्ष्य ही स्वरूप की सिद्धि के लिये कार्यकारी है अखंड सत्यस्वरूपको जाने विना-श्रद्धा किये विना 'मैं ज्ञानस्वरूप आत्मा हूं, अवद्ध स्पृष्ट हूं' इत्यादि विकल्प भी स्वरूपको शुद्धि के लिये कार्यकारी नहीं है। एकवार अखंड ज्ञायक स्वभाव का लक्ष्य करने के बाद जो वृत्तियां उठती हैं वे वृत्तियां अस्थिरता का कार्य करती हैं परंतु वे स्वरूपको रोकने के लिये समर्थ नहीं है क्योंकि श्रद्धा में तो वृत्ति-विकल्परहित स्वरूप है इसलिये जो वृत्ति उठती है वह श्रद्धाको नहीं बदल सकती है जो विकल्प में ही अटक जाता है वह मिथ्यादृष्टि है विकल्परहित होकर अभेद का अनुभव करना सो सम्यग्दर्शन है और यही समयसार है। यही बात निम्न लिखित गाथा में कही हैं:—

> कम्मं बद्धमबद्धं जीवे एवं तु जाण णय पक्खं।
> पक्खातिक्कंतो पुण भण्णदि जो सो समयसारो ॥१४२॥

'आत्मा कर्म से बद्ध है या अबद्ध' इस प्रकार दो भेदों के विचारमें लगना सो नय का पक्ष है। 'मैं आत्मा हूं, परसे भिन्न हूं' इस प्रकारका विकल्प भी राग है। इस रागकी वृत्तिको—नय के पक्षको उल्लंघन करे तो सम्यग्दर्शन प्रगट हो।

'मैं बंधा हुआ हूं अथवा मैं बंध रहित मुक्त हूं' इस-प्रकार की विचार श्रेणी को उल्लंघन करके जो आत्माका अनुभव करता है सो सम्यग्दृष्टि है और वही समयसार अर्थात् शुद्धात्मा है। मैं अबंध हूं-बंध मेरा स्वरूप नहीं है इसप्रकार के भंग की विचार श्रेणी के कार्य में जो लगता है वह अज्ञानी है और उस भंग के विचार को उल्लंघन करके अभंगस्वरूप को स्पर्श करना [अनुभव करना] सो प्रथम आत्मधर्म अर्थात् सम्यग्दर्शन है। मैं पराश्रय रहित अबंध शुद्ध हूं' ऐसे निश्चयनय के पक्ष का जो विकल्प है सो राग है और उस राग में जो अटक जाता है (राग को ही सम्यग्दर्शन मानले किन्तु राग रहित स्वरूप का अनुभव न करे) वह मिथ्यादृष्टि है।

भेद का विकल्प उठता तो है तथापि उससे सम्यग्दर्शन नहीं होता

अनादि कालसे आत्म स्वरूप का अनुभव नहीं है, परिचय नहीं है, इसलिये आत्मानुभव करने से पूर्व तत्संबंधी विकल्प उठे विना नहीं रहते। अनादिकाल से आत्मा का अनुभव नहीं है इसलिये वृत्तियों का उत्थान होता है कि—मैं आत्मा कर्म के संबंध से युक्त हूं अथवा कर्म के संबंध से रहित हूं इसप्रकार दो नयों के दो विकल्प उठते हैं परंतु 'कर्म के संबंध से युक्त हूं अथवा कर्म के संबंध से रहित हूं अर्थात् बद्ध हूं या अबद्ध हूं' ऐसे दो प्रकार के भेद का भी एक स्वरूप में कहां अवकाश है? स्वरूप तो नय पक्ष की अपेक्षाओं से परे है, एकप्रकार के स्वरूप में दो प्रकार की अपेक्षायें नहीं हैं। मैं शुभाशुभभाव से रहित हूं इसप्रकार के विचार में लगना भी एक पक्ष है, इससे भी उसपार स्वरूप है, स्वरूप तो पक्षातिक्रांत है यही सम्यग्दर्शन का विषय है अर्थात् उसीके लक्ष्य से सम्यग्दर्शन प्रगट होता है, इसके अतिरिक्त सम्यग्दर्शन का दूसरा कोई उपाय नहीं है।

सम्यग्दर्शन का स्वरूप क्या है, देह की किसी क्रिया से सम्यग्दर्शन नहीं होता, जड़कर्मों से नहीं होता, अशुभराग अथवा शुभराग के लक्ष्य से भी सम्यग्दर्शन नहीं होता और 'मैं पुण्य पापके परिणामों से रहित ज्ञायक स्वरूप हूं' ऐसा विचार भी स्वरूप का

अनुभव कराने के लिये समर्थ नहीं है। 'मैं ज्ञायक हूं' इसप्रकारके विचारमें जो अटका सो वह भेदके विचारमें अटक गया किन्तु स्वरूप तो ज्ञाताद्रष्टा है उसका अनुभव ही सम्यग्दर्शन है। भेदके विचारमें अटक जाना सम्यग्दर्शन का स्वरूप नहीं है।

जो वस्तु है वह अपने आप परिपूर्ण स्वभावसे भरी हुई है आत्मा का स्वभाव परकी अपेक्षा से रहित एकरूप है कर्मोंके संबंधसे युक्त हूं अथवा कर्मों के संबंध से रहित हूं, इसप्रकार की अपेक्षाओंसे उस स्वभावका लक्ष्य नहीं होता। यद्यपि आत्मस्वभाव तो अबंध ही है परंतु 'मैं अबंध हूं' इस प्रकार के विकल्प को भी छोड़कर निर्विकल्प ज्ञाताद्रष्टा निरपेक्ष स्वभाव का लक्ष्य करते ही सम्यग्दर्शन प्रगट होता है।

हे प्रभु! तेरी प्रभुताकी महिमा अंतरंगमें परिपूर्ण है अनादिकाल से उसकी सम्यक् प्रतीति के विना उसका अनुभव नहीं होता। अनादिकाल से पर लक्ष्य किया है किन्तु स्वभाव का लक्ष्य नहीं किया है। शरीरादिमें तेरा सुख नहीं है, शुभराग में तेरा सुख नहीं है और 'शुभरागरहित मेरा स्वरूप है' इस प्रकार के भेद विचारमें भी तेरा सुख नहीं है इसलिये उस भेद के विचारमें अटक जाना भी अज्ञानी का कार्य है और उस नय पक्ष के भेद का लक्ष्य छोड़कर अभेद ज्ञाता स्वभाव का लक्ष्य करना सो सम्यग्दर्शन है और उसीमें सुख है। अभेदस्वभाव का लक्ष्य कहो, ज्ञातास्वरूपका अनुभव कहो, सुख कहो, धर्म कहो अथवा सम्यग्दर्शन कहो वह सब यही है।

विकल्प रख कर स्वरूप का अनुभव नहीं हो सकता।

अखंडानंद अभेद आत्मा का लक्ष्य नयके द्वारा नहीं होता। कोई किसी महलमें जाने के लिये चाहे जितनी तेजी से मोटर दौड़ाये किन्तु वह महल के दरवाजे तक ही जा सकती है, मोटर के साथ महल के अंदर कमरे में नहीं घुसा जा सकता। मोटर चाहे जहां तक भीतर ले जाय किन्तु अंतमें तो मोटर से उतरकर स्वयं ही भीतर जाना पड़ता है, इसी प्रकार नयपक्ष के विकल्पोंवाली मोटर चाहे जितनी दौड़ाये 'मैं ज्ञायक हूं, अभेद हूं, शुद्ध हूं' ऐसे विकल्प करे तो भी स्वरूप के आंगन तक ही जाया जा सकता है किन्तु स्वरूपानुभव करते समय तो वे सब विकल्प छोड़ देना ही पड़ते हैं। विकल्प रखकर स्वरूपानुभव नहीं हो सकता। नय पक्षका ज्ञान उस स्वरूप के आंगन में आने के लिये आवश्यक है।

"मैं स्वाधीन ज्ञान स्वरूपी आत्मा हूं, कर्म जड़ हैं, जड़ कर्म मेरे स्वरूपको नहीं रोक सकते, मैं विकार करूं तो कर्मोंको निमित्त कहा जा सकता है, किन्तु कर्म मुझे विकार नहीं कराते क्योंकि दोनों द्रव्य भिन्न हैं, वे कोई एक दूसरे का कुछ नहीं करते, मैं जड़ का कुछ नहीं करता और जड़ मेरा कुछ नहीं करता, जो रागद्वेष होता है उसे कर्म नहीं कराता तथा वह पर वस्तुमें नहीं होता किन्तु मेरी अवस्था में होता है, वह रागद्वेष मेरा स्वभाव नहीं है, निश्चय से मेरा स्वभाव राग रहित ज्ञान स्वरूप है" इस प्रकार सभी पहलुओं का (नयों का) ज्ञान पहले करना चाहिये किन्तु जबतक इतना करता है तबतक भी भेद का लक्ष्य है। भेद के लक्ष्य से अभेद आत्म स्वरूप का अनुभव नहीं हो सकता तथापि पहले उन भेदोंको जानना चाहिये, जब इतना जानले तब समझना चाहिये कि वह स्वरूप के आंगन तक आया है बादमें जब अभेदका लक्ष्य करता है तब भेद का लक्ष्य छूट जाता है और स्वरूपका अनुभव होता है अर्थात् अपूर्व सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। इस प्रकार यद्यपि स्वरूपोन्मुख होने से पूर्व नयपक्ष के विचार होते तो हैं परंतु वे नयपक्ष के कोई भी विचार स्वरूपानुभव में सहायक तक नहीं होते।

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान का संबंध किसके साथ है?

सम्यग्दर्शन निर्विकल्प सामान्य गुण है उसका मात्र निश्चय—अखंड स्वभाव के साथ ही संबंध है अखंड द्रव्य जो भंग-भेद रहित है वही सम्यग्दर्शन को मान्य है। सम्यग्दर्शन पर्याय को स्वीकार नहीं करता किन्तु सम्यग्दर्शन के साथ जो सम्यग्ज्ञान रहता है उसका संबंध निश्चय-व्यवहार दोनों के साथ है। अर्थात् निश्चय—अखंड स्वभाव को तथा व्यवहार में पर्याय के जो भंग—भेद होते हैं उन सबको सम्यग्ज्ञान जानलेता है।

सम्यग्दर्शन एक निर्मल पर्याय है किन्तु सम्यग्दर्शन स्वयं अपने को यह नहीं जानता कि मैं एक निर्मल पर्याय हूं। सम्यग्दर्शन का एक ही विषय अखंड द्रव्य है, पर्याय सम्यग्दर्शन का विषय नहीं है।

प्रश्न—सम्यग्दर्शन का विषय अखंड है और वह पर्याय को स्वीकार नहीं करता तब फिर सम्यग्दर्शन के समय पर्याय कहां चली गई? सम्यग्दर्शन स्वयं पर्याय है, क्या पर्याय द्रव्य से भिन्न होगई?

उत्तर—सम्यग्दर्शन का विषय तो अखंड द्रव्य ही है। सम्यग्दर्शन के विषय में द्रव्य गुण पर्याय का भेद

नहीं है। द्रव्य गुण पर्याय से अभिन्न वस्तु ही सम्यग्दर्शन को मान्य है (अभेद वस्तु का लक्ष्य करने पर जो निर्मल पर्याय प्रगट होती है वह सामान्य वस्तु के साथ अभेद होजाती है) सम्यग्दर्शनरूप जो पर्याय है उसे भी सम्यग्दर्शन स्वीकार नहीं करता एक समय में अभेद परिपूर्ण द्रव्य ही सम्यग्दर्शन को मान्य है, मात्र आत्मा तो सम्यग्दर्शन की प्रतीति में लेता है किन्तु सम्यग्दर्शन के साथ प्रगट होनेवाला सम्यग्ज्ञान सामान्य विशेष सब को जानता है। सम्यग्ज्ञान पर्याय को और निमित्त को भी जानता है, सम्यग्दर्शन को भी जानने वाला सम्यग्ज्ञान ही है।

श्रद्धा और ज्ञान कब सम्यक् हुये?

उदय, उपशम, क्षयोपशम अथवा क्षायिक भाव इत्यादि कोई भी सम्यग्दर्शन का विषय नहीं है क्योंकि वे सब पर्यायें हैं। सम्यग्दर्शन का विषय परिपूर्ण द्रव्य है। पर्याय को सम्यग्दर्शन स्वीकार नहीं करता, मात्र वस्तु का जब लक्ष्य किया तब श्रद्धा सम्यक् हुई परंतु ज्ञान सम्यक् कब हुआ? ज्ञान का स्वभाव सामान्य-विशेष सब को जानना है जब ज्ञानने सारे द्रव्य को, प्रगट पर्याय को और विकार को तदवस्थ जानकर इसप्रकार का विवेक किया कि 'जो परिपूर्ण स्वभाव है सो मैं हूं और जो विकार है सो मैं नहीं हूं' तब वह सम्यक् हुआ। सम्यक्ज्ञान सम्यग्दर्शनरूप प्रगट पर्याय को और सम्यग्दर्शन की विषयभूत परिपूर्ण वस्तु को तथा अवस्था की कमी को तदवस्थ जानता है, ज्ञानमें अवस्था की स्वीकृति है। इसप्रकार सम्यग्दर्शन तो एक निश्चय को ही (अभेद स्वरूप को ही) स्वीकार करता है और सम्यग्दर्शन का अविनाभावी (साथ ही रहने वाला) सम्यग्ज्ञान निश्चय और व्यवहार दोनों को बराबर जानकर विवेक करता है। यदि निश्चय व्यवहार दोनों को न जाने तो ज्ञान प्रमाण (सम्यक्) नहीं हो सकता। यदि व्यवहार को लक्ष्य करे तो दृष्टि खोटी (विपरीत) ठहरती है और जो व्यवहार को जाने ही नहीं तो ज्ञान मिथ्या ठहरता है। ज्ञान निश्चय व्यवहार का विवेक करता है इसलिये वह सम्यक् है (समीचीन है) और दृष्टि व्यवहार के लक्ष्य को छोड़कर निश्चय को स्वीकार करे तो सम्यक् है।

सम्यग्दर्शन का विषय क्या है? और मोक्षका परमार्थ कारण कौन है?

सम्यग्दर्शन के विषय में मोक्षपर्याय और द्रव्य से भेद ही नहीं है, द्रव्य ही परिपूर्ण है वह सम्यग्दर्शन को मान्य है। बंध मोक्ष भी सम्यग्दर्शन को मान्य नहीं बंध-मोक्ष की पर्याय, साधकदशा का भंगभेद इन सभी को सम्यग्ज्ञान जानता है।

सम्यग्दर्शन का विषय परिपूर्ण द्रव्य है, वही मोक्ष का परमार्थ कारण है। पंचमहाव्रतादि को अथवा विकल्प को मोक्ष का कारण कहना सो स्थूल व्यवहार है और सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्ररूप साधक अवस्था को मोक्ष का कारण कहना सो भी व्यवहार है क्यों कि उस साधक अवस्था का भी जब अभाव होता है तब मोक्ष दशा प्रगट होती है। अर्थात् वह अभावरूप कारण है इसलिये व्यवहार है।

त्रिकाल अखंड वस्तु ही निश्चय मोक्ष का कारण है किंतु परमार्थतः तो वस्तु में कारण कार्य का भेद भी नहीं है, कार्य कारण का भेद भी व्यवहार है। एक अखंड वस्तु में कार्य कारण के भेद के विचार से विकल्प होता है इसलिये वह भी व्यवहार है। तथापि व्यवहार से भी कार्य कारण भेद हैं अवश्य। यदि कार्य कारण भेद सर्वथा न हों तो मोक्षदशा को प्रगट करने के लिये भी नहीं कहा जा सकता। इसलिये अवस्था में साधक साध्य का भेद है, परंतु अभेद के लक्ष्य के समय व्यवहार का लक्ष्य नहीं होता क्योंकि व्यवहार के लक्ष्य में भेद होता है और भेद के लक्ष्य में परमार्थ-अभेद स्वरूप लक्ष्य में नहीं आता, इसलिये सम्यक्दर्शन के लक्ष्य में भेद ही होते. एकरूप अभेद वस्तु ही सम्यग्दर्शन का विषय है।

सम्यग्दर्शन ही शांति का उपाय है

अनादि से आत्मा के अखंड रस को सम्यग्दर्शन पूर्वक नहीं जाना, इसलिये परमें और विकल्प में जीव रस को मान रहा है। परंतु मैं अखंड एकरूप स्वभाव हूं उसीमें मेरा रस है। पर में कहीं भी मेरा रस नहीं है। इसप्रकार स्वभावदृष्टि के बल से एकबार सब को नीरस बनादे, जो शुभविकल्प उठते हैं वे भी मेरी शांति के साधक नहीं हैं। मेरी शांति मेरे स्वरूप में है, इसप्रकार स्वरूप के रसानुभव में समस्त संसार को नीरस बनादे तो तुझे सहजानंद स्वरूप के अमृत रस की अपूर्व शांति का अनुभव प्रगट होगा, उसका उपाय सम्यग्दर्शन ही है।

संसार का अभाव सम्यग्दर्शन से ही होता है

अनंतकाल से अनंत जीव संसार में परिभ्रमण कर रहे हैं और अनंत काल में अनंत जीव सम्यग्दर्शन के द्वारा पूर्ण स्वरूप को प्रतीति करके मुक्ति को प्राप्त हुये हैं इस जीव ने संसार पक्ष तो अनादि से ग्रहण किया

है परंतु सिद्ध का पक्ष कभी ग्रहण नहीं किया, अब सिद्ध का पक्ष करके अपने सिद्ध स्वरूप को जानकर संसार के अभाव करने का अवसर आया है और उसका उपाय एक मात्र सम्यग्दर्शन ही है। ★

जब आत्मा स्वयं अवस्थामें भूल करता है तब कर्म निमित्तरूप कहलाता है—किंतु वे दोनों पृथक् है।

——श्री समवशरण प्रतिष्ठा महोत्सव के समय परम पूज्य श्री कानजी स्वामी का प्रवचन——

आत्म प्रतीति के बिना प्रत्येक जीव अनंतकाल में शुभ करनी करके नवमें ग्रैवेयक तक गया है। जैन त्यागी—साधु होकर २८ मूलगुणों का बिल्कुल ठीक पालन करके स्वर्ग में गया परंतु यह सब पुण्यभाव हैं. पुण्यपाप रहित आत्मा ज्ञानानंद मूर्ति है उसकी भान हुये बिना कभी भी धर्म नहीं हुआ। आत्मा ज्ञानानंद मूर्ति है और इसकी श्रद्धाज्ञान ही मोक्षमार्ग का साधक है। व्रत, तप इत्यादि सभी शुभभाव की क्रियाऐं हैं, वे मोक्षमार्ग में बाधक हैं, आत्मा की सच्ची श्रद्धा ज्ञान और स्थिरता ही साधक है इसप्रकार जो जीव नहीं समझता वह आत्मा को भी नहीं जानता और वह मिथ्यात्व के महा-पाप का सेवन करता है।

विकार मात्र एक समय के लिये है

यह ज्ञानस्वरूपी भगवान आत्मा देह मन वाणी से प्रथक् और जड़कर्मों से अलग ही है। इस प्रकार सर्व पर द्रव्यों से प्रथक् जानकर आत्मा में देखने पर वर्तमान आत्माकी अवस्था में एक समय मात्र के लिये विकार है और सारा अविकार स्वभाव है विकार आत्मा में एक समय मात्र के लिये ही है। आत्मा चिद्घन मूर्ति वस्तु है, विकार आत्मा का स्वभाव नहीं है परंतु पर लक्ष्य से होनेवाला विरुद्ध भाव है। वह विकार दो समय का कभी भी एकत्रित नहीं होता और त्रैकालिक निर्विकार स्वभाव कभी विकार रूप नहीं होता। छद्मस्थ के ज्ञान के उपयोग में वह विकार असंख्य समय आता है क्योंकि छद्मस्थ का ज्ञान स्थूल होता है इसलिये वह एक समय के परिणमनको नहीं पकड़ सकता, तथापि विकार तो एक समय मात्र का ही है। जब एक समय का विकार व्यय होजाता है तब दूसरे समय का विकार उत्पन्न होता है किंतु दो समय का विकार एक साथ आत्म द्रव्यमें नहीं हो सकता। इस प्रकार क्योंकि विकार एक ही समय का होता है इसलिये संसार भी एक ही समय का है। विकार ही संसार है।

विकारी भाव का कर्ता जड़ कर्म नहीं है

पुण्य पाप के भाव 'भाव कर्म' है वह आत्मा की अवस्था में होनेवाला विकार है, अविकार भाव का कर्ता वास्तव में जड़कर्म नहीं है किंतु आत्मा की अवस्था में वह होता है इसलिये उसका कर्ता आत्मा की वर्तमान योग्यता ही है। शास्त्रों में निमित्त की मुख्यता बताने के लिये भले ही यह लिखा हो कि मोहनीय कर्म को लेकर आत्मा में मिथ्यात्व होता है परंतु वास्तवं में ऐसा नहीं है। मोहकर्म तो जड़—अचेतन है, वह आत्मा की अवस्था में कुछ भी नहीं कर सकता। जब आत्मा स्वयं अवस्था में भूल करता है तब कर्म निमित्तरूप कहलाता है किंतु वे दोनों प्रथक् हैं। भूल आत्मा की अवस्था है और कर्म जड़ की अवस्था है। आत्मा में जड़कर्म नहीं है और जड़कर्म में आत्मा नहीं है इसलिये कोई किसी का कुछ नहीं करता, दोनों अपनी अपनी अवस्था में अस्तिरूप और परकी अवस्था में नास्तिरूप प्रवृत्ति करते हैं।

आत्मा की अवस्था में विकार एक समय मात्र के लिये है। तीन काल और तीन लोक में भी पर वस्तु से विकार नहीं हो सकता। जो यह मानता है कि पर वस्तु से आत्मा में विकार होता है वह मिथ्यादृष्टि है और मिथ्यादृष्टि रागको कम करे तो भी वह धर्मात्मा नहीं है। धर्मात्मापन तो मिथ्यात्व के दूर होते ही होता है उसके बिना नहीं होता।

विकार भाव का कर्ता आत्मा है

भाव कर्म आत्मा की अवस्थामें होनेवाला विकार है वह आत्माकी अवस्थामें ही होता है इसलिये अशुद्ध निश्चय नय से आत्मा का ही है पुण्य पाप के विकारी भाव आत्माकी अवस्थामें होते हैं, कहीं जड़ की अवस्था में नहीं होते। जड़ परमाणुओंमें चेतनपना नहीं है, उसके तो स्वयं क्या है इसकी कोई खबर भी नहीं है. पुद्गल द्रव्य तो चेतन रहित है। जो पुण्य पाप का भाव है वह

चेतनका विकार है, जड़ में पुण्य पाप का भाव नहीं है, कर्म भी जड़ हैं वे कर्म आत्माको विकार नहीं कराते। शास्त्रमें यह कथन आता है कि 'ज्ञानावरणी कर्म ज्ञानको रोकता है, मोहनीय कर्म राग-द्वेष कराता है' वहां उसका वास्तविक अर्थ यों समझना चाहिये कि वास्तवमें जड़ कर्मकी आत्मा में कोई सत्ता ही नहीं है, जड़ कर्म चेतनको कुछ कराते नहीं हैं। जब आत्मा स्वयं अपनी अवस्था में उल्टाभाव करके अज्ञानरूप परिणमन करता है उस समय कर्म की उपस्थिति है, इसलिये वह निमित्त का कथन है, परंतु निमित्त ने उपादान में कोई कार्य नहीं किया वास्तवमें आत्मा की अवस्था में कर्म कुछ भी नहीं करता है अज्ञानी जीव अपने विपरीत पुरुषार्थ से अपनी दशा में विकार करता है वहां अपना ही अपराध है परंतु अज्ञानी जीव अपनी तरफ न देखकर परके ऊपर दोष डालता है कि कर्म विकार कराते हैं. इसप्रकार मानने से वह अपने दोष को दूर नहीं करता। यदि अपनी अवस्था में दोष है उसको जाने तो क्षणिक दोष को त्रिकाली दोष रहित स्वभाव के बल से दूर करे। विकार एक समय मात्र अवस्था में है द्रव्य में अथवा गुण में तो विकार नहीं है और वर्तमानपर्याय का विकार भी बाद की पर्याय में आता नहीं है इसप्रकार जाना वहां विकार के स्वभाव का आसरा (आधार) नहीं रहा, क्षणिक अवस्था में जो विकार है वह दूर हो ही जाता है।

व्रत, तप, पूजा, भक्ति का शुभभाव और हिंसा चोरी इत्यादि का अशुभभाव वह सब आस्रव है, राग है, वह राग आत्माकी अवस्था में होता है परंतु वह आत्माका त्रिकाल स्वभाव नहीं है इसलिये वह दूर हो सकता है, राग दूर हो सकता है इस अपेक्षा से आत्मा का नहीं है परंतु वह होता तो आत्माकी ही अवस्थामें है और आत्मा करे तभी वह होता है, कर्म राग नहीं कराता क्योंकि कर्म और आत्मा पृथक् वस्तु है, भिन्न वस्तु एक दूसरे का कुछ भी नहीं कर सकती, यह सिद्धांत है।

एक वस्तु दूसरी वस्तु का कुछ नहीं कर सकती सो कैसे?

विश्वकी प्रत्येक वस्तु स्व अपेक्षा से है और पर अपेक्षा से नहीं है "स्व अपेक्षा से है पर अपेक्षा से नहीं" इसका क्या अर्थ है? जैसे आत्मा वस्तु आत्मा के रूपमें है और जड कर्म के रूपमें नहीं है, इसी प्रकार मेरा आत्मा मेरी अपेक्षा से है दूसरी आत्मा रूप मेरा आत्मा नहीं है; और जो जड़ कर्म हैं वे जड़रूप हैं आत्मा रूप नहीं है। इस प्रकार जो जो वस्तुएं हैं वे सब अपने रूप से हैं, पर रूप से नहीं हैं, ऐसा वस्तु का स्वरूप है, वह 'अनेकांत स्वरूप' कहलाता है इस प्रकार प्रत्येक वस्तुएं भिन्न हैं और जो वस्तु भिन्न होती है वह वस्तु दूसरी वस्तु की अवस्थामें कुछ कार्य नहीं कर सकती। यदि एक वस्तु दूसरी का कुछ करे तो वे दोनों वस्तुएं एक हो जाय और दो वस्तुएं भिन्न न रहें। परंतु दो वस्तुएें त्रिकाल जुदी हैं, इसलिये एक दूसरे का कुछ नहीं कर सकतीं। कर्ता और कार्य दोनों एक ही वस्तु में होते हैं भिन्न भिन्न वस्तु में नहीं होते, ऐसा नियम है। आत्मा का कार्य तो आत्मा की ही अवस्था में होता है और कर्मका कार्य जड़ की अवस्थामें होता है।

निश्चय और व्यवहार

प्रश्न—निश्चय से तो कर्म आत्मा को विकार नहीं कराते परंतु व्यवहार से कर्म आत्मा को विकार कराते हैं न? जैसा कर्म का जोर होता है वैसा आत्मा में विकार होता है—यह व्यवहार से तो है न?

उत्तर—निश्चय से अथवा व्यवहार से किसी भी तरह से एक वस्तु दूसरी वस्तु का कुछ नहीं कर सकती। कर्म किसी अपेक्षा से आत्मा का कुछ कर ही नहीं सकते। 'निश्चय से कर्म आत्मा का कुछ नहीं करता और व्यवहार से कर्म आत्मा का करता है' यह निश्चय व्यवहार का स्वरूप नहीं है। आत्मा जब अपनी अवस्था में भूल करता है तब वहां कर्मकी उपस्थिति होती है, वह हाजिरी बताने के लिये उपचार से 'यह कर्म आत्मा को विकार कराते हैं' ऐसा बोलना सो व्यवहार है और व्यवहार के कथन का अर्थ उस भाषा के अनुसार नहीं होता। व्यवहार में जहां 'कर्म आत्मा का करता है' ऐसा बोला जाता है वहां निश्चय से (वास्तव में) 'कर्म आत्मा का कुछ नहीं करता' ऐसा समझना चाहिये।

आत्माकी स्वतंत्रता

आत्मा और कर्म वे दोनों जुदी वस्तुएें हैं इसलिये कर्म आत्माको कुछ नहीं कर सकते। शुभ अथवा अशुभ भाव कर्म कराता है-ऐसा नहीं है, जब अशुभभाव स्वयं करता है तब होता है और कषायकी मंदता करके शुभ भाव भी जब स्वयं करता है तब होता है। "कर्म में लिखा होगा तो शुभभाव होगा" यह बात असत्य है, शुभभाव मैं करूं तो हो, और मुझे शुभभाव करने से कोई कर्म रोक नहीं सकता, ऐसी स्वतंत्रता है। आत्मा जो भाव

करे वह भाव कर सकता है, कर्मकी उपस्थिति होने पर भी उसने आत्मामें कुछ किया नहीं है।

परवस्तु का असर आत्मामें नहीं होता

आत्मा में पर वस्तु का असर नहीं होता। पर जीव मरे अथवा बचे उसका पाप अथवा पुण्य आत्मा को नहीं है, परंतु जीव स्वयं अपने को भूलकर परलक्ष्य में जैसा शुभ या अशुभ भाव करता है उसके अनुसार पुण्य या पाप होता है। परद्रव्य की क्रिया का फल आत्मा में नहीं है क्योंकि आत्मा उसका कर्ता नहीं है आत्मा अपने विकारी या अविकारी भाव का कर्ता है और उसीका फल आत्मा को है। आत्मा की विकारी अथवा अविकारी अवस्था कर्म नहीं कराता, किंतु आत्मा ही उसका कर्ता है। 'घी का घड़ा' जैसे बोलना मात्र है, वास्तव में घड़ा घी का बना हुआ नहीं होता, इसीप्रकार शास्त्र में जहां 'कर्म आत्मा को विकार कराता है' ऐसा लिखा होता है वहां समझना चाहिये कि वह कथन मात्र है परंतु व्यवहार में भी कर्मने आत्मा को कुछ कराया नहीं है मात्र विकार के समय उसकी उपस्थिति होती है। जिस समय आत्मा विकार करता है उस समय कर्मकी हाजिरी होती है यह बताने के लिये व्यवहार से कथन मात्र है, फिर भी जो व्यवहारकी भाषा के शब्दानुसार वस्तु का स्वरूप मान ले तो वह जीव मिथ्यादृष्टि है, उसे वस्तु के सच्चे स्वरूपकी खबर नहीं है।

अवस्थादृष्टि और स्वभावदृष्टि

पूजा, भक्ति का शुभभाव अथवा हिंसा, तत्त्वविरोध आदि अशुभभाव इत्यादि भावों का कर्ता आत्मा हैं क्योंकि वे आत्मा की ही अवस्थामें होते हैं कहीं जड़ की अवस्था में वह नहीं होते। विकारी अवस्था का कर्ता आत्मा है परंतु वह विकार आत्मा का स्वभाव नहीं है।

समयसारमें शुद्ध आत्मा का स्वभाव बताया है, इसलिये शुद्ध आत्मस्वभावकी दृष्टि के बल से पुण्य पाप के विकार भाव का कर्ता आत्मा नहीं है ऐसा शुद्धनयकी अपेक्षा से उसमें कहा है। आत्मा के स्वभावकी दृष्टि से देखने पर अर्थात् अकेले आत्माको सर्व पर द्रव्य से भिन्न लक्ष्यमें लेने पर ज्ञात होता है कि विकार का उत्पादक आत्मा नहीं है। यहां ऐसा प्रश्न उठेगा कि विकार का उत्पादक आत्मा नहीं है तो कौन है? क्या कर्म आत्माको विकार कराता है?

उत्तर—(१) आत्मा का स्वभाव विकार का उत्पादक नहीं है (२) परवस्तु विकार नहीं कराती (३) मात्र एक समयकी अवस्था में अपने लक्ष्यको भूल कर जीव पर लक्ष्य करता है तब विकार होता है अर्थात् एक समय को जो अवस्था है सो विकारकी उत्पादक है।

(१) आत्मा के स्वभावमें विकार नहीं है, अर्थात् आत्मा स्वयं विकार का उत्पादक नहीं है यदि आत्म स्वभाव विकार का उत्पादक होता तो विकार आत्मा से कभी छूट ही नहीं सकता, किन्तु विकार आत्मा से छूट जाता है क्योंकि वह आत्मा का स्वभाव नहीं है। (२) जिस प्रकार आत्मा स्वभाव से विकार का कर्ता नहीं है उसी प्रकार कर्म वगैरह कोई भी परवस्तु आत्मा में विकार नहीं कराती। प्रत्येक वस्तु स्व अपेक्षा से है, पर अपेक्षा से नहीं, इसप्रकार वस्तु स्वरूप का अबाधित सिद्धांत है। जो चीज आत्मा के रूपमें नहीं होती वह आत्मा की अवस्था में कुछ भी नहीं कर सकती, इसलिये जड़कर्म भी विकार नहीं कराते। (३) मात्र परलक्ष्यसे एक समय मात्र की अवस्था होती है वही विकार का कारण है। एकसमय में होनेवाली अवस्था ही विकार की कर्ता है इसलिये विकार भी एक समय का होता है। त्रिकाली स्वभाव में विकार नहीं है यदि ऐसा द्रव्य पर्याय का स्वरूप समझले तो त्रिकाली स्वभाव के बल से क्षणिक विकार दूर हो सकता है।

जैनधर्म की महत्ता

कितने ही जीव ऐसा मानते हैं कि 'जैनधर्म में सूक्ष्म कर्म की बहुत बात की है इसलिये जैनधर्म की महत्ता है' किन्तु उससे जैन की महत्ता नहीं है। जैन कर्मवादी नहीं किंतु अनेकांतवादी अर्थात् स्वतंत्रवादी है। प्रत्येक वस्तु स्व अपेक्षा से है और पर अपेक्षा से नहीं है अर्थात् एक वस्तु अपनी शक्ति से पूर्ण हैं और दूसरी सभी वस्तुओं से वह भिन्न है। इसप्रकार प्रत्येक जड़ और चेतन वस्तुऐं अपने गुण पर्याय से परिपूर्ण स्वतंत्र भिन्न भिन्न हैं। किसी वस्तु का गुण पर्याय दूसरी वस्तु में कुछ नहीं कर सकता....इसप्रकार वस्तु की स्वतंत्रता और परिपूर्णता बताई है—यही जैनधर्म की महत्ता है। जैनधर्म स्वतंत्र वस्तुदर्शन है, वस्तु स्वभाव के आश्रित जैनधर्म है उसे काल अथवा क्षेत्र की मर्यादामें कैद नहीं कर सकते। जगत् की कोई वस्तु जैनधर्म की मर्यादा के विरुद्ध नहीं होती अर्थात् जगत् की कोई वस्तु दूसरी

वस्तुरूप तीनकाल में परिणमित नहीं हो सकती। यदि जड़ होवे तो तीनकालमें जड़रूप रहकर परिणमन करता है और चेतन होवे तो तीनकाल में वह चेतनरूप से रहकर परिणमित होता है।

परंतु किसी काल अथवा किसी क्षेत्र में जड़ का स्वभाव बदलकर चेतनरूप और चेतन का स्वभाव जड़ रूप नहीं हो जाता—ऐसी वस्तुधर्म की त्रिकाल मर्यादा है और जो जैनधर्म है सो वस्तुधर्म है इसलिये वह त्रिकाल अबाधित है।

पर वस्तुने आत्मा को भूल कराई, इसलिये आत्मा का संसार में परिभ्रमण है यह बात बिल्कुल गलत है। आत्मा स्वयं अनंत गुणों का पिंड, पर से जुदा है। अपने स्वाधीन स्वभाव को भूलकर अज्ञानभाव से स्वयं परिभ्रमण करता है और सच्ची समझ के द्वारा भूल को दूर कर स्वयं ही भगवान होजाता है। भगवानकी कृपा हो तो इस आत्मा का उद्धार हो, यह बात गलत है। एक जीव के भाव का दूसरे जीव के ऊपर असर नहीं हो सकता निश्चय से आत्मा परकी दया नहीं पाल सकता किंतु व्यवहार से परकी दया पाल सकता है-ऐसा भगवान के अनेकांतवाद का स्वरूप नहीं है, किंतु एक जीव पर जीवकी दया अथवा हिंसा, व्यवहार या निश्चय से किसी भी तरह से नहीं कर सकता किंतु अपना भाव कर सकता है यह अनेकांत है। अपना शुभभाव हो और सामने का जीव उसकी आयु के कारण बच जावे वहां 'मैंने दया पालन की' इस प्रकार जीव के भावकी पहचान कराने के लिये बोलनेकी एक रीत है, परंतु मैं परको बचा सकता हूं इस प्रकार मानना सो मिथ्यात्व का महा पाप है।

धर्मीपना किस कारण से है

कोई द्रव्य दूसरे किसी द्रव्यकी अवस्थाको करता है इस प्रकार मानना जैनदर्शन से दूर है। जहां ऐसी सच्ची श्रद्धा नहीं है वहां सच्चा व्रत-तप होता ही नहीं। सम्यग्दर्शन क्या है, आत्मा क्या है यह जाने बिना व्रत-तप कैसे करेगा ? सच्ची श्रद्धा ही धर्म का मूल है। जहां सच्ची श्रद्धा नहीं है वहां धर्म का अंश भी नहीं है।

श्री कुंदकुंदाचार्य भगवान और सर्व तीर्थंकरों का हृदय इस प्रकार पुकार कर कहता है कि आत्मा पर द्रव्य का कुछ कर सकता है ऐसा मानना सो सम्यग्दर्शन नहीं है परंतु 'परभावस्य कर्ता आत्मा मोहोऽयं व्यवहारिणाम्' अर्थात् आत्मा पर द्रव्यकी अवस्था का कर्ता है ऐसी मान्यता व्यवहारी मूर्ख जीवों का मोह है, अज्ञान है, मिथ्यात्व है। व्यवहार से भी जीव पर का कुछ कर नहीं सकता। व्यवहार से जीव शरीर को हलन चलन कराता हो सो बात नहीं है, शरीर तो जड़ वस्तु है और मैं आत्मा तो चेतनमय हूं, शरीर मुझ से जुदी वस्तु है उसका मैं जाननेवाला हूं किंतु करनेवाला नहीं। आत्म स्वभाव का भान होने पर अनंत पर पदार्थों का स्वामीपना छूट गया। आत्मा का भान होने के बाद बाह्य त्याग होता है या नहीं, परंतु वह जीव धर्मी है। जिस तरह श्रेणिकराजा को आत्मभान था और बाह्यमें राज-पाट तथा अनेक रानियों के संयोगमें दिखाई देते थे तथापि अंतरंग से उदास थे, उनके सच्ची आत्म श्रद्धा की भूमिका प्रगट होने के बाद धर्मराग हुआ इससे तीर्थंकर नामकर्म का बंध किया और अब वे आनेवाली चौबीसीमें पहले तीर्थंकर होंगे। आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान के बिना कोई बाह्य त्यागी हो और 'एक परमाणु का फेरफार भी मुझ से होता है' इस प्रकार माने तो जैन का साधु कहलाने पर भी वह मिथ्यादृष्टि है, अज्ञानी है, जैन नहीं है। जो यह मानता है कि शरीरको मैं चला सकता हूं और जीव और शरीरको एक मानता है वह जैनमत से बाहर है।

जैनदर्शनकी सिद्धि

जैनमत तो वीतराग मार्ग है यह कोई संकुचित सीमा नहीं है, कल्पना नहीं है। प्रत्येक आत्मा अपने स्वभाव से परिपूर्ण है और जो परिपूर्ण आत्म स्वभाव है वही जैनदर्शन है, उस स्वभावकी श्रद्धा करना सो धर्म है। जैनदर्शन युक्ति से, आगम से, स्वानुभव से सिद्ध है, परंतु शरीरकी किसी क्रिया से, बाह्य त्याग से अथवा वेष से जैनदर्शनकी सिद्धि नहीं है।

पुण्यमें सुख माने तो मिथ्यादृष्टि ही है

शरीरकी क्रियामें अथवा पैसा वगैरह में जो जीव सुख मानता है वह मिथ्यादृष्टि ही है, पैसा वगैरह तो पूर्व पुण्य का फल है, अब जबकि पूर्व के पुण्य के फलमें आत्मा का सुख नहीं है तब वर्तमान पुण्य भाव में आत्मा का सुख कैसे हो सकता है ? पुण्य का फल जो जड़ वस्तुएं हैं उनमें तो सुख नहीं है परंतु वर्तमान में जो पुण्यभाव होता है वह विकार है उसमें यदि आत्मा का सुख माने तो भी वह मिथ्यादृष्टि ही है। पुण्य-पाप दोनों विकार है, विकारमें आत्मा का सुख नहीं है।

शुभमें धर्म मानना महान् पाप है

भगवानकी भक्ति का जो शुभराग होता है वह राग निश्चय से अथवा व्यवहार से किसी भी प्रकार से धर्म नहीं है। निश्चय धर्म तो आत्माके निर्विकार स्वभावको पहचान कर स्थिर हो जाना है परंतु जब तक संपूर्ण स्थिरता नहीं हो सकती तब तक कुदेवादि के तरफ के अशुभ पाप भाव से बचने के लिये भक्ति आदि का शुभ राग आता है और ज्ञानी के अभिप्रायमें उस राग का नकार रहता है, इसलिये उपचार से व्यवहार धर्म कहा है। परंतु जिसने उस रागमें ही धर्म मान रखा है और रागको ही आदरणीय माना है उसके धर्म तो नहीं है परंतु अपने वीतराग स्वभावके अनादररूप मिथ्यात्व का अनंत पाप क्षण क्षणमें उसके विपरीत मान्यता से होता है। रागको अपना धर्म मानना सो अपने वीतराग स्वभाव का अनादर है, वह महान् पाप है। यदि परकी कोई भी क्रिया मैं कर सकता हूं अथवा पुण्य से मेरे स्वभावको लाभ होता है ऐसा माने तो वह मिथ्यादृष्टि है, वह क्रियाकांड करके और त्याग करके मर जाय तो भी वह साधु नहीं है, त्यागी नहीं है, श्रावक नहीं है, जैन नहीं है।

मिथ्यात्व का प्रभाव

पुण्य से मेरा ज्ञान स्वभाव पृथक् है और देहादि जड़ पदार्थकी क्रिया के आधार से मेरा धर्म नहीं है ऐसी सच्ची समझ के बिना जीव अनंतबार जैन त्यागी, साधु हुआ और अनेक तरह से शुभ करनी की, किंतु मिथ्यात्व और अज्ञानरूपी भैंसा उसके व्रत का सभी घास खा गया। अर्थात् मिथ्यात्व का ऐसा महा पाप है कि उसके सद्भाव में जीव चाहे जैसी शुभ करनी करे तो भी उसके किंचित् आत्मलाभ नहीं होता और वह अनंत संसारमें परिभ्रमण करता है।

जीव चाहे जितने शुभभाव करे, बाह्य त्याग करे, महाव्रत पाले, उपवास करे, तो भी उन सब से उसका मिथ्यात्व दूर नहीं हो सकता क्योंकि वह सभी पुण्य करते हुये एक मिथ्यात्व का पाप बढ़ाता रहता है। मिथ्यात्व दूर करने का उपाय तो एक मात्र सच्ची समझ ही है। जिस प्रकार अंधकार दूर करने के लिये प्रकाश ही चाहिये उसी प्रकार मिथ्यात्व दूर करने के लिये सच्ची समझ ही चाहिये। जिसे आत्मस्वभावकी समझ नहीं है और शुभरागमें धर्म मानकर जो भक्ति, पूजा करता है वह वीतरागकी भक्ति, पूजा नहीं करता, किंतु रागकी भक्ति करता है, और मिथ्यात्व का पोषण करता है।

मिथ्यात्व ही पाप है

समयसारजीमें चाहे त्यागी या मुनि हो किन्तु जो मिथ्यादृष्टि है तो उसे पापी ही कहा है। [कलश १३७]

अर्थः—'यह मैं स्वयं सम्यग्दृष्टि हूं, मुझे कभी बंध होता नहीं (क्योंकि शास्त्र में सम्यग्दृष्टि के बंध नहीं कहा है)' ऐसा मानकर जिसका मुख गर्व से ऊंचा तथा पुलकित (रोमांचित) होगया है ऐसे रागी जीव (–पर द्रव्य के प्रति राग द्वेष मोहभाववाले जीव) भले महाव्रतादिक का आचरण करें तथा समिति की उत्कृष्टता (वचन, विहार और आहार की क्रिया में यत्न से प्रवृत्ति करना) का अवलंबन करे तो भी वे पापी (मिथ्यादृष्टि) ही हैं, क्योंकि आत्मा और अनात्मा के ज्ञान से रहित होने से वे सम्यक्त्व से रहित हैं।

भावार्थः—पर द्रव्य के प्रति राग होनेपर भी जो जीव 'मैं सम्यग्दृष्टि हूं, मुझे बंध नहीं होता' इस प्रकार मानता है उसके सम्यक्त्व कैसा? वह व्रत–समिति पाले तो भी स्वपर का ज्ञान नहिं होने से वह पापी ही है।

प्रश्न—'व्रत–समिति तो शुभकार्य हैं तो फिर व्रत समिति का पालन करने वाले जीव को पापी क्यों कहा?

उत्तर—सिद्धांतमें पाप मिथ्यात्वको ही कहा है, जब तक मिथ्यात्व रहता है तब तक शुभ–अशुभ सभी क्रिया को अध्यात्ममें परमार्थरूप से पाप ही कहा गया है।

(समयसार गुजराती पान २५६)

अनंतकाल से संसारमें परिभ्रमण करते हुये जैन संप्रदायमें आकर अनेक तरह से कुदेवादिकी मान्यताओं का भी जीवने त्याग किया फिर भी शुभ क्रियामें धर्म मान कर अटक गया और अनादि का अगृहीत मिथ्यात्व दूर नहीं किया, शुभ क्रियासे परे अपने आत्म स्वभावको जाना नहीं इसलिये जीव का संसार परिभ्रमण नहीं रुका।

मिथ्यात्व क्या है? आत्मा त्रिकाल वस्तु है, उसमें ज्ञान इत्यादि अनंत गुण हैं और उन गुणोंकी समय समय पर अवस्था होती है, एक समयकी अवस्थामें पर लक्ष्यसे जो विकार होता है उस विकारको अपना स्वभाव मानना और संपूर्ण त्रिकाल शुद्ध स्वभावको न मानना ऐसी जो विपरीत मान्यता है वही मिथ्यात्व है, यह मिथ्यात्व ही संसार का कारण है।

यह जैनधर्म है। सच्चे जैनधर्म का स्वरूप जीव समझ ले तो उसकी मुक्ति हुये विना नहीं रहती किंतु सच्ची समझ न करे तो, मात्र जैन संप्रदायमें आने से जीव का कल्याण नहीं होता। जैन तो भगवान स्वरूप है। जो वीतरागता और सर्वज्ञता है सो जैनधर्म है, चिदानंद मूर्ति स्वतंत्र आत्मस्वभाव सो जैनधर्म है, ऐसे आत्मस्वभावको जीव न जाने तो जीव का मिथ्यात्व दूर नहीं हो सकता और न यथार्थ जैनत्व प्राप्त हो सकता है।

वस्तुस्वभावकी मर्यादा

प्रत्येक आत्मा और प्रत्येक रजकण स्वतंत्र वस्तुऐं हैं एक वस्तु दूसरी वस्तु का कुछ करने में समर्थ नहीं है यह जैन का सिद्धांत अर्थात् वस्तु का स्वरूप है। भगवानकी वाणी सुनने से ज्ञान हुआ ऐसा जो सचमुच मानता है वह मिथ्यादृष्टि है, क्योंकि वाणी पर वस्तु है इसीलिये आत्मा का ज्ञान नहीं होता। ज्ञान तो अपने स्वभाव में से ही प्रगट हुआ है, बाहर से पर वस्तु के कारण नहीं प्रगट हुआ। आत्मा स्वतंत्र तत्त्व है। राग-द्वेष यदि करे तो भी आत्मा ही करता है। कोई कर्म आत्माको राग-द्वेष कराता है यह बात गलत है। कर्म तो जड़ अचेतन वस्तु है। जड़ कर्म आत्माको राग-द्वेष कैसे कराता है? क्या जड़ वस्तुकी अवस्था चेतन द्रव्यमें घुसकर चेतनको विकार कराती है? एक द्रव्यमें दूसरा द्रव्य प्रवेश तो कर हीं नहीं सकता. और विना प्रवेश के वह क्या करेगा? जड़ और चेतन ये दो द्रव्य ही जुदे हैं, फिर उनमें कर्ता कर्मपना हो ही नहीं सकता। दो द्रव्य भिन्न हैं ऐसा कहना और वे एक दूसरे का कुछ करते हैं ऐसा कहना यह बात हीं परस्पर विरुद्ध है। जिसने दो प्रथक द्रव्यों के बीचमें कर्ता कर्म संबंध माना है उसने दो द्रव्य को एक माना है अर्थात् जिसने द्रव्य के स्वतंत्र स्वभावको नहीं जाना, वह अज्ञानी है।

आत्मा और कर्म जुदे हैं, आत्मा चेतन स्वरूप वस्तु है, कर्म जड़ स्वरूप है; आत्मा अरूपी है, कर्म रूपी है। मेरे आत्मा में कर्म से कोई अवगुण नहीं होता। वर्तमान अवस्थामें जो क्षणिक विकार है वह कर्मने नहीं कराया। मेरे त्रिकाली द्रव्य-गुण में विकार नहीं है। द्रव्य-गुण तो त्रिकाल शुद्ध अनादि अनंत है, एक समय मात्र का विकार मेरे स्वभावमें नहीं है, एक समय की संसारदशा को गौण करके जो द्रव्य को लक्ष में लिया जाय तो त्रिकाली द्रव्य तो मुक्तस्वरूप ही है और द्रव्य के परिपूर्ण स्वरूप का स्वीकार हीं जैनत्व है, ऐसा जो जानता है वही यथार्थ दृष्टिवाला है। प्रत्येक द्रव्य भिन्न है और एक द्रव्य अपने द्रव्य से, अपने गुण से, और अपनी स्वाधीन पर्याय से परिपूर्ण स्वभाववाला है। इस प्रकार द्रव्य-गुण पर्याय से वस्तु की स्वतंत्रता ही उसकी परिपूर्णता है और जो परिपूर्ण स्वरूप की प्रतीति है वही सम्यग्दर्शन है। आत्मा की पर्याय स्वतंत्र है, पर्यायकी स्वतंत्रता सो पुरुषार्थ की स्वतंत्रता है, आत्मा के पुरुषार्थ को कोई रोक नहीं सकता।

शुभविकार से अविकारी धर्म नहीं होता

यह सच्चे सम्यग्दर्शन का उपाय कहा जाता है। इसे समझे विना सम्यग्दर्शन होता ही नहीं। व्यवहार करते करते परमार्थ प्राप्त होगा यह बात गलत है। जो शुभराग है सो भी विकार है वह विकार से धीरेधीरे दर्शन-ज्ञान प्राप्त होगा यह बात भी त्रिकाल गलत है। शुभराग करते करते धर्म होता है अर्थात् विकारी कारण से अविकार्य प्रगट होता है, ऐसा मानने वाले को त्रिकाली अविकारी द्रव्य की या गुण की श्रद्धा नहीं है। धर्म तो अविकारीदशा है, वह अविकारी स्वभाव की श्रद्धा के बल से प्रगट होता है, किंतु विकार से प्रकट नहीं होता।

जिसने द्रव्यको स्वीकार किया उसके भव की शंका नहीं होती

"मैं आत्मा हूं, आत्म द्रव्य और गुण तो शुद्ध ही है, पर्याय में जो विकार है वह मेरा स्वभाव नहीं है, पर वस्तु मुझे विकार नहीं कराती और एक समय का विकार दूसरे समयमें दूर हो ही जाता है, वह मेरा स्वरूप नहीं है" ऐसा जिसने निर्णय किया उसने अपने ज्ञानमें द्रव्य का स्वीकार किया, उसके भवकी शंका दूर हो गई, क्योंकि उसकी श्रद्धामें अकेला द्रव्य है, द्रव्यमें विकार नहीं है। जिसको भवकी शंका है उसकी श्रद्धा का प्रभाव (जोर) विकारमें अटका है, उसको निर्विकार स्वरूपकी श्रद्धा नहीं है। यदि अविकारी आत्म स्वभावकी श्रद्धा हो तो भवकी शंका कभी न हो, जिसके भवरहित स्वरूपकी श्रद्धा हो गई उसके वीर्य निःसंदेह हो गया. जिसका वीर्य अभी भवरहितकी निःसंदेहतामें काम नहीं करता और भवकी शंकामें ही झूल रहा है वह भवरहित होने का पुरुषार्थ किसके बल से करेगा? संदेहमें अटका हुआ वीर्य आगे नहीं बढ सकेगा। जिसको भवकी शंका है उसको आत्माकी श्रद्धा नहीं है और जिसको आत्मा की श्रद्धा है उसको भवकी शंका नहीं है।

शंका—केवली भगवानने जितने देखे हों उतने भव तो होते हैं न ? अपनेको क्या खबर पड़ सकती है ?

उत्तर—जिसने अपने ज्ञानमें केवली भगवान का और उनकी परिपूर्ण सामर्थ्य का निर्णय किया, उस ज्ञानमें भव की शंका होती ही नहीं। जिस ज्ञान ने यह निर्णय कियाकि 'केवली भगवान परिपूर्ण ज्ञान स्वरूप है और भवरहित है' वह ज्ञान अपने भव रहितपने का निःसंदेह निर्णय करता है। केवलीभगवान तीनकाल और तीनलोक को एक समय में विकार रहित जानते हैं ऐसी एक पर्याय की परिपूर्ण सामर्थ्य है और मेरा स्वभाव भी परमार्थ से वैसा ही है, ऐसा निर्णय करने में ज्ञान का अनंत पुरुषार्थ आगया, जिसके ज्ञानमें अनंत पुरुषार्थ आगया उसके भव होता ही नहीं है।

अनंत आत्माएं हैं उनमें प्रत्येक आत्मा में अनंत गुण, उनमें एक ज्ञान गुण और उस गुण की अनंत अवस्थायें उसमें भी एक समय की एक पूर्ण अवस्था सो केवलज्ञान और वह केवलज्ञान का अनंत सामर्थ्य है ऐसा जिसने यथार्थरूप से स्वीकार किया वह जीव सम्यग्दृष्टि ही होता है और सम्यग्दृष्टि को भव की शंका होती ही नहीं। श्री प्रवचनसारजी में कुंदकुंदाचार्यदेवने कहा है कि—

जो जाणदि अरहंतं दव्वत गुणत्त पज्जय ते हिं।
सो जाणदि अप्पाणं मोहोखलु जादि तस्स लयं ॥
[अध्याय १ गाथा ८०]

अर्थः—जो जीव द्रव्य, गुण और पर्याय से अरिहंत का स्वरूप जानता है उसका मोह वास्तव में नाश को प्राप्त होता है।

केवलज्ञान तो आत्मा का स्वभाव भाव है। जिसने केवलज्ञानरूपी स्वभावभाव के सामर्थ्य का विश्वास किया उसको भव की शंका ही नहीं है, क्योंकि स्वभावभावमें भव नहीं है। यदि भव की शंका हो तो उसको केवली की श्रद्धा नहीं है और जहां केवली की श्रद्धा नहीं है वहां 'केवली ने देखा होगा' इस प्रकार वह केवली के नाम से मात्र बात करता है परंतु केवली की उसको श्रद्धा नहीं है। यदि केवली की श्रद्धा करे तो उसको 'केवली भगवानने मेरा अनंतभव देखा होगा तो ?' ऐसे संदेह का विकल्प ही नहीं उठता है।

पहले हम तुमसे पूंछना चाहते हैं कि जिनभगवान को तू मानता है कि नहीं ? जो तू जिनभगवान को मानता है तो उसके भव है कि नहीं ? [जिनभगवानको भव नहीं है] जिन भगवान आत्मा है कि नहीं ? [आत्मा ही हैं] तू आत्मा है कि नहीं [आत्मा ही हूं] जिन भगवान आत्मा हैं और तुम भी आत्मा ही हो तो दोनों आत्माओं का स्वभाव समान है या नहीं ? हां, सभी आत्माओं का स्वभाव समान ही है। बस, सभी आत्माओं का स्वभाव समान है अर्थात् जैसा जिन भगवान का स्वभाव भवरहित है वैसा ही तेरा स्वभाव भी भवरहित है, जिनेन्द्र भगवान के भव नहीं है और तेरे भी भव नही है, इस प्रकार जिन भगवानकी श्रद्धा होने पर अपनी आत्मा की श्रद्धा होती है और भवकी शंका नहीं रहती।

द्रव्यगुणमें भव अथवा भव का कारण विकार नहीं है। विकार एक समय मात्र का है वह मेरा त्रिकाल स्वरूप नहीं है, मैं तो अविकार स्वभावी हूं—इस प्रकार स्वभावकी श्रद्धा के बल से जिसने यह माना कि विकार आत्मा का स्वरूप नहीं है उसकी श्रद्धामें भव ही न रहा, अर्थात् उसके भवकी शंका ही न रही, स्वभावकी श्रद्धा के बल से वह अल्पकालमें भव रहित हो जायगा...

आत्मामें भव नहीं है, जिसको आत्माकी श्रद्धा और ज्ञान हुआ उसको भवकी शंका न रही। श्रद्धामें तो अभव (भवरहित) स्वभाव है; चारित्र गुणमें एक समय के लिये विकार है वह पुरुषार्थ की अशक्ति है, परंतु चारित्र का जो क्षणिक विकार है वह भी स्वभाव नहीं है। चारित्र गुण तो प्रतीति में पूर्ण निर्मल आया है अर्थात् वर्तमान विकार है उसे यद्यपि ज्ञान जानता है किंतु उस विकार को अपना नहीं मानता। ज्ञान त्रिकाली शुद्ध चारित्र गुण को जानता है। 'श्रद्धाने जिस द्रव्य को प्रतीति में लिया है उसमें चारित्रगुण परिपूर्ण शुद्ध ही आया है' इस प्रकार ज्ञान जानता है, तथा पुरुषार्थ की जो अल्प अशक्ति है उसको भी जानता है परंतु पुरुषार्थ की कमजोरी भी स्वभाव नहीं है। दृष्टि में तो चारित्र, वीर्य वगैरह से परिपूर्ण स्वभाव ही आया है—इस प्रकार ज्ञान स्वीकार करता है—इसलिये उस ज्ञान में भव की शंका नहीं है। पुरुषार्थ की कचाई से एक दो भव हों तो उसको ज्ञान जानता है। पूर्ण स्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान के बल से पुरुषार्थ बढ़ता ही जाता है और स्वभाव की तरफ परिणमन ढलता ही जाता है फिर उसको बहुत से भव होते ही नहीं। अल्प काल में ही स्वभाव के बल से पूर्ण पुरुषार्थ प्रगट होगा। इस प्रकार सच्ची श्रद्धा-ज्ञान वाले को भव नहीं होवे तथा उनके भव की शंका नहीं रहती। ★

श्री उमा स्वामी विरचित मोक्षशास्त्र की गुजराती टीका का मंगलाचरण

[जिस मंगल ग्रंथकी मुमुक्षुओंको स्वाध्याय के लिये अत्यंत आवष्यकता है उस ग्रंथकी गुजराती टीका माननीय श्री रामजीभाई ने की है जो गुजराती समझने वाले भाई-बहिनों के लिये महान सौभाग्य का कारण है उस मोक्षशास्त्र का मंगलाचरण गुजराती टीका के साथ यहां दिया जाता है जिससे इस ग्रंथकी महत्ता प्रगट होती है।

—प्रकाशक]

मोक्ष मार्गस्य नेतारं
भेतारं कर्मभूभृताम् ।
ज्ञातारं विश्व तत्त्वानां
वंदे तद्गुणलब्धये ॥

अर्थः—मोक्षमार्ग के नेता, कर्म रूपी पर्वतोंको नाश करनेवाले, और विश्व के समस्त तत्त्वों के जाननेवाले को उन गुणों की प्राप्ति के लिये वंदना करता हूं ।

टीका

(१) इस शास्त्रको प्रारंभ करने से पूर्व संक्षेपमें यह जानना आवश्यक है कि इस शास्त्र का विषय क्या है ?

(२) आचार्यदेव ने इस शास्त्र का नाम 'मोक्षशास्त्र' अथवा 'तत्त्वार्थसूत्र' रखा है। जगत् के जीव अनंत प्रकार के दुःख भोग रहे हैं उन दुःखों से सदा के लिये मुक्त होने अर्थात् अविनाशी सुख प्राप्त करनेको वे अहर्निश प्रयत्न कर रहे हैं किन्तु उनके वे उपाय गलत हैं इसलिये जीवों का दुःख दूर नहीं होता। एक अथवा दूसरे रूपमें दुःख बना ही रहता है। जीव दुःखोंकी परंपरा से क्यों कर मुक्त हो, उसका उपाय और उसका वीतरागी विज्ञान इस शास्त्रमें बताया गया है इसीलिये इसका नाम मोक्षशास्त्र रखा गया है। मूलभूत भूल के बिना दुःख नहीं हो सकता और उस भूल के दूर होने पर सुख हुये बिना नहीं रहता ऐसा अबाधित सिद्धांत है। वस्तु का यथार्थ स्वरूप समझे बिना यह भूल दूर नहीं होती इसलिये वस्तु का यथार्थ स्वरूप इस शास्त्रमें समझाया गया है और इसी लिये इसका नाम 'तत्त्वार्थसूत्र' भी रखा गया है।

(३) जीव को वस्तु के यथार्थ स्वरूप के संबंध में यदि विपरीत मान्यता न हो तो ज्ञानमें भूल नहीं हो सकती। जहां मान्यता सच्ची होती है वहां ज्ञान भी सच्चा ही होता है। सच्ची मान्यता और सच्चे ज्ञान पूर्वक होनेवाले सच्चे वर्तन के द्वारा ही जीव दुःख से मुक्त हो सकते हैं यह सिद्धांत आचार्यदेवने इस शास्त्र को प्रारंभ करते ही प्रथम अध्याय के पहले सूत्रमें बतलाया है।

(४) 'स्वयं कौन है ?' इस संबंध में जगत् के जीवों की बहुत बड़ी भूल चली आ रही है। बहुत से जीव शरीर को अपना स्वरूप मानते हैं इसलिये वे शरीर की रक्षा के लिये अनेक प्रकार से सतत प्रयत्न करते रहते हैं। जीव शरीर को अपना मानता है इसलिये वह यह भी मानता है कि जड़ अथवा चेतन पदार्थों की ओर से शरीर को सुख, सुविधा मिलती है। और इसीलिये उसे उनकी ओर राग भाव होता है और जब वह जड़ अथवा चेतन पदार्थों की ओर से प्रतिकूल होता देखता है तब उस विपरीत मान्यता के कारण उसे उनकी ओर द्वेष होता है। जीव की इन विपरीत मान्यताओं के कारण जीव को निरंतर आकुलता बनी रहती है।

(५) जीव की इस महान भूल को शास्त्र में मिथ्यादर्शन कहा गया है। जहां मिथ्या मान्यता होती है वहां ज्ञान और चारित्र भी मिथ्या होते हैं इसलिये मिथ्यादर्शन रूपी महा भूल को महापाप भी कहा गया है। मिथ्यादर्शन महाभूल है और वह सर्व दुःखों का महा बलवान मूल है। जीवों का इस प्रकार का लक्ष्य नहीं है इसलिये उन्हें उस ओर लक्ष्य कराने के लिये और उस भूलको दूर करके जीवों को अविनाशी सुख की ओर कदम बढ़ाने के लिये आचार्य भगवान् ने शास्त्र के प्रारंभ में सर्व प्रथम 'सम्यग्दर्शन' शब्द का प्रयोग किया है। सम्यग्दर्शन के प्रगट होते ही उसी समय ज्ञान सच्चा ज्ञान होजाता है इसलिये दूसरा शब्द 'सम्यग्ज्ञान' कहा है और सम्यग्दर्शन ज्ञानपूर्वक ही सम्यक्चारित्र होता है इसलिये आगे चलकर तीसरा 'सम्यक्चारित्र' कहा है। इस प्रकार तीन शब्दों के प्रयोग होने पर लोग कहीं यह न समझ बैठें कि सच्चा सुख प्राप्त करने के तीन मार्ग हैं इसलिये पहले सूत्रमें यह बता दिया गया है कि तीनों की एकता मोक्षमार्ग है।

(६) जीव को सच्चा सुख चाहिये हो तो प्रथम सम्यग्दर्शन प्रगट करना ही चाहिये। जगत् में कौन कौनसे

पदार्थ हैं? उनका क्या स्वरूप है? उनका कार्यक्षेत्र क्या है? जीव क्या है और वह क्यों दुःखी होता है? इसका यथार्थ ज्ञान होने पर ही सम्यग्दर्शन प्रगट होता है इसलिये सात तत्त्वों के द्वारा आचार्यदेवने दश अध्यायों में वस्तु स्वरूप बताया है।

(७) इसशास्त्र के दश अध्यायोंमें निम्नलिखित विषय लिये गये हैं:—

१—मोक्ष का उपाय और जीव के ज्ञान की अवस्थायें।

२—जीव के भाव, लक्षण और जीव का शरीर के साथ का संबंध।

३-४—विकारी जीव के रहने के क्षेत्र इन अध्यायों में बतलाकर प्रथम चार अध्यायोंमें जीव तत्त्व का वर्णन किया गया है।

५—इस अध्याय में अन्य अजीव तत्त्वों का वर्णन किया गया है।

६-७—इन अध्यायों में जीव के नवीन विकार भाव (आस्रव) तथा उन का निमित्त पाकर जीव का सूक्ष्म जड़ कर्म के साथ होने वाला संबंध बताया गया है। इस प्रकार तीसरे आस्रव तत्त्व का वर्णन किया गया है।

८—इस अध्यायमें बताया गया है कि जीवको जड़ कर्म के साथ किस प्रकार बंध होता है और वह जड़ कर्म जीव के साथ कितने समय रहता है? इस प्रकार इस अध्याय में चौथे बंधतत्त्व का वर्णन है।

९—इस अध्यायमें बताया गया है कि जीवको अनादि कालसे कभी न होने वाले धर्म का प्रारंभ संवर से होता है। जीवकी यह अवस्था होने पर उसके सच्चे सुख का प्रारंभ होता है और क्रमशः शुद्धि के बढ़ने पर विकार दूर होता है जिससे निर्जरा अर्थात् जड़ कर्म के साथ के बंध का धीरे धीरे अभाव होता है। इस प्रकार ९ वें अध्यायमें पांचवे और छठे संवर और निर्जरा तत्त्व का वर्णन किया गया है।

१०—जीवकी शुद्धि की पूर्णता सर्व दुःखों से अविनाशी मुक्ति और संपूर्ण पवित्रता मोक्ष तत्त्व है इसलिये आचार्यदेव ने इस अध्यायमें मोक्ष तत्त्व का वर्णन किया है।

आज यह तीर्थंकर केवलज्ञानी की वाणी केवलज्ञान की ही
ध्वनि करती आरही है

—परम पूज्य श्री कानजी स्वामी का प्रवचन—

[वह प्रवचन श्रुतपचमी २४७१ के दिन किया गया था इसका पहलेका हिस्सा आत्मधर्म प्रथम वर्ष अंक तीनमें पृष्ठ ४३-४४ पर छपा हुआ है।]

आत्मा का ज्ञानस्वभाव किसी संयोग के कारण से नहीं है, यदि ऐसे स्वाधीन ज्ञानस्वभावको न जाने तो धर्म नहीं होता। धर्म कहीं बाह्यमें नहीं किंतु अपना ज्ञानानंद स्वभाव ही धर्म है इसमें तो समस्त शास्त्रों का रहस्य आजाता है। यह बात भी इसमें आगई कि कोई किसी का कुछ भी करने को समर्थ नहीं है। जड़ इंद्रिय आत्मा के ज्ञान की अवस्था नहीं करती और आत्मा का ज्ञान पर का कुछ नहीं करता इस प्रकार ज्ञान स्वभावकी स्वतंत्रता सिद्ध होगई।

सभी सम्यक् मतिज्ञानियों का ज्ञान बिना निमित्त के अवलंबन सामान्य स्वभाव के अवलंबनसे कार्य करता है, इसलिये सर्व निमित्तों के अभाव में-संपूर्ण असहाय होकर सामान्य स्वभाव के अवलंबन से विशेषरूप जो केवलज्ञान पूर्ण प्रत्यक्ष है उसका निर्णय वर्तमान मतिज्ञान के अंशद्वारा उसे हो सकता है। यदि पूर्ण असहाय ज्ञानस्वभाव मतिज्ञान के निर्णय में न आये तो वर्तमान विशेष अंशरूपज्ञान (मतिज्ञान) पर के अवलंबन के बिना प्रत्यक्षरूप है यह निर्णय भी न हो, सामान्य स्वभाव के आश्रय से जो विशेषरूप मतिज्ञान प्रगट हुआ है उस मतिज्ञान में केवलज्ञान प्रत्यक्ष है। जो अंश प्रगट हुआ है वह अंशी के आधार के बिना प्रगट नहीं हुआ है, इसलिये अंशी के निर्णय के बिना अंश का निर्णय नहीं होता।

अहो! श्रुतपंचमी के दिन इस जयधवला में जो केवलज्ञान का रहस्य भरा गया है उसको मुख्य दो विशेषताऐं हैं, जिनकी स्पष्टता प्रगट होतीहै (१) अपने ज्ञानकी विशेषरूप अवस्था परावलंबन के बिना स्वाधीन भाव से है (२) उस स्वाधीन अंश में समस्त केवलज्ञान प्रत्यक्ष है यह दो मुख्य विशेताऐं हैं।

सामान्य स्वभाव की प्रतीति करता हुआ जो वर्तमान निर्मल स्वावलंबी ज्ञान प्रगट हुआ वह साधक है और वह पूर्ण साध्यरूप केवलज्ञान को प्रत्यक्ष जानता हुआ प्रगट होता है। वह साधक ज्ञान स्वाधीनभाव से अपने कारण से भीतर के सामान्य ज्ञान की शक्ति के लक्ष्य से विशेष विशेष रूप में परिणमन करता हुआ साध्य केवलज्ञान के रूपमें प्रगट होता है उसमें कोई बाह्यावलंबन नहीं है किन्तु सामान्य ज्ञानस्वभाव का ही अवलंबन है।

इसे जानना ही धर्म है। आत्मा का धर्म आत्मा के ही पास है। अशुभभाव से बचने के लिये शुभभाव होता है उसे ज्ञान जानलेता है किंतु

उसका अवलंबन ज्ञान नहीं मानता अर्थात् सर्व निमित्त के विना पूर्ण स्वाधीन केवलज्ञान का निर्णय करता हुआ और प्रतीतिमें लेता हुआ स्वाश्रित मतिज्ञान सामान्य स्वभाव के अवलंबन से प्रगट होता है इस प्रकार ज्ञान का कार्य परावलंबन से नहीं होता किंतु स्वाधीन स्वभाव के अवलंबन से होता है, इसमें ज्ञान की स्वतंत्रता बताई गई हैं।

ज्ञान की तरह श्रद्धा की स्वतंत्रता

आत्मामें श्रद्धागुण त्रिकाल हैं। सामान्य श्रद्धा गुण का जो विशेष है सो सम्यग्दर्शन है। श्रद्धागुण का वर्तमान यदि देव शास्त्र गुरु इत्यादि पर के आश्रय से परिणमन करे तो उस समय श्रद्धागुणने कौनसा विशेष कार्य किया। श्रद्धा सामान्य गुण है उसका विशेष सामान्य के अवलंबन से ही होता है। सम्यग्दर्शनरूप विशेष परके अवलंबन से कार्य नहीं करता किन्तु सामान्य श्रद्धा के अवलंबन से ही उसका विशेष प्रगट होना होता है। सम्यग्दर्शन उस श्रद्धा गुण की विशेष दशा है। श्रद्धागुण है और सम्यग्दर्शन पर्याय है। श्रद्धा गुण के अवलंबन से सम्यग्दर्शनरूप विशेष दशा प्रगट होती है। यदि देव शास्त्र गुरु इत्यादि परके अवलंबन से श्रद्धा का विशेष कार्य होता हो तो सामान्य श्रद्धा का उस समय विशेष क्या है? विशेष के विना सामान्य कदापि नहीं होता। आत्मा की श्रद्धा की वर्तमान अवस्था के रूपमें जो कार्य होता है वह त्रैकालिक श्रद्धा के नाम के गुण का है, वह कार्य किसी के पर के अवलंबन से नहीं किंतु सामान्य का विशेष प्रगट हुआ है। विशेष के विना सामान्य श्रद्धा ही नहीं हो सकती।

आनंदगुण की स्वाधीनता

ज्ञान-श्रद्धा गुण के अनुसार आनंदगुण के संबंध में भी यही बात है वह आत्मा का वर्तमान आनंद यदि पैसा इत्यादि पर के कारण से परिणमन करे तो उस समय आनंदगुण ने स्वयं वर्तमान विशेष कौनसा कार्य किया है। यदि परसे आनंद प्रगट हुआ तो उस समय आनंद गुण का विशेष कार्य कहां गया? अज्ञानी ने परमें आनंद माना, उस समय भी उसका आनंदगुण स्वाधीनता पूर्वक कार्य करता है। अज्ञानी ने आनंद का वर्तमान कार्य उलटा माना अर्थात् आनंद गुण का विशेष उसे दुःखरूप परिणमित होता है, आनंद पर से प्रगट नहीं होता किंतु संयोग और निमित्त के विना आनंद नाम के सामान्य गुण के अवलंबन से वर्तमान आनंद प्रगट होता है, इसके समझ लेने पर लक्ष्य का जोर पर के ऊपर न जाकर सामान्य स्वभाव पर जाता है और उस सामान्य के अवलंबन से विशेषरूप आनंद दशा प्रगट होती है। सामान्य आनंद स्वभाव के अवलंबन से प्रगट हुआ आनंद का अंश पूर्ण आनंदकी प्रतीतिको लेकर प्रगट होता है। यदि आनंद के अंश में पूर्णकी प्रतीति न हो तो अंश आया कहां से?

चारित्र वीर्य इत्यादि सर्व गुणोंकी स्वाधीनता

इसी प्रकार चारित्र वीर्य इत्यादि समस्त गुणों का विशेष कार्य सामान्य के अवलंबन से ही होता है। आत्माका पुरुषार्थ यदि निमित्त के अवलंबन से कार्य करता हो तो अंतरंग के सामान्य पुरुषार्थ स्वभावने क्या किया। क्या सामान्य स्वभाव विशेष के विना ही रहा? विशेष के विना सामान्य रहता हो सो तो बन नहीं सकता। प्रत्येक गुण का वर्तमान (विशेष अवस्थारूप कार्य) सामान्य स्वभाव के आश्रय से प्रगट होता है। कर्म पुरुषार्थ रोकता है यह बात ही गलत होने से खंडित होगई। किसी भी गुण का कार्य यदि निमित्त के अवलंबन से अथवा राग के अवलंबन से होता हो तो उस समय सामान्य स्वभाव का विशेष कार्य न रहे और यदि विशेष न हो तो सामान्य गुण ही सिद्ध नहीं होते। सभी गुण त्रिकाल हैं उनका कार्य किसी निमित्त अथवा राग के अवलंबन से ज्ञानियों के नहीं होता किन्तु अपने ही सामान्य के अवलंबन से होता है। यह स्वाधीन स्वरूप जिसके जम गया उसे पूर्ण की प्रतीति युक्त गुण का अंश प्रगट होता है। जिसके पूर्ण की प्रतीति सहित ज्ञान प्रगट होता है उसकी अल्प काल में मुक्ति अवश्य होजाती है। जिस सामान्य के बल से एक अंश प्रगट हुआ उसी सामान्य के बल से पूर्णदशा प्रगट होती है विकल्प के कारण सामान्य विशेष की अवस्था नहीं होती। यदि विकल्प के कारण विशेष होता हो तो विकल्प का अभाव होने पर विशेष का भी अभाव हो जाय। वर्तमान विशेष सामान्य से ही प्रगट होता है, विकल्प से नहीं; इसे समझना ही धर्म है। प्रत्येक द्रव्य को स्वाधीनता की यह स्पष्ट बात है। दो और दो चार जैसी सीधी सरल बात है उसे न समझकर उसकी जगह यदि जीव इस प्रकार पराश्रयता माने कि सब कुछ निमित्त से होता है और एक दूसरे का करता है तो यह सब गलत है यह

उसकी मूलभूल है यदि पहले ही दो और दो तीन मानने की भूल होगई हो तो उसके बाद की भी सभी भूल होती जायगी। इसी प्रकार मूल वस्तु स्वभाव की मान्यता में जिसकी भूल हो उसका सब गलत है।

स्वाधीनता से प्रगट हुआ अंश पूर्ण को प्रत्यक्ष करता है

पर द्रव्य जगत में भले हों, पर निमित्त भले हों जगत् में सर्व वस्तुओं का अस्तित्व है किन्तु वह कोई वस्तु मेरी विशेष अवस्था करने के लिये समर्थ नहीं है मेरे आत्माके सामान्य स्वभाव का अवलंबन करके मेरी विशेष अवस्था होती है-वह स्वाधीन है। और यह स्वाधीनता से प्रगट होने वाला विशेष ही पूर्ण विशेषरूप केवलज्ञान का कारण है। जो विशेष प्रगट होता है वह पूर्ण को प्रत्यक्ष करता हुआ प्रगट होता है।

प्रश्न—वर्तमान अंश पूर्ण प्रत्यक्ष कैसे होता है ?

उत्तर—जहां विशेषको पर का अवलंबन नहीं रहता और मात्र सामान्य का अवलंबन रहता है वहां प्रत्यक्ष होता है यदि निमित्तकी बात करो तो परोक्षमें आयगा किन्तु जहां निमित्त अथवा विकार रहित मात्र सामान्य स्वभाव का अवलंबन है वहां विशेष प्रत्यक्ष ही होता है अंश में पूर्ण प्रत्यक्ष ही होता है। यदि अंश में पूर्ण प्रत्यक्ष न हो तो अंश ही सिद्ध न हो। 'यह अंश है' यह तभी निश्चित हो सकता है जब अंशी प्रत्यक्ष हो। यदि अंशी अर्थात् पूर्ण प्रत्यक्ष न हो तो अंश भी सिद्ध न हो।

मतिज्ञान और श्रुतज्ञान भी वास्तवमें तो सामान्य के अवलंबन से होने के कारण प्रत्यक्ष हैं। मतिज्ञान और श्रुतज्ञानको जो परोक्ष कहा है सो वह तो 'परको जानते समय इंद्रिय का निमित्त है' इस प्रकार निमित्त-नैमित्तिक संबंध का ज्ञान करने के लिये वह कथन किया है किन्तु स्वको जानने पर तो वह ज्ञानभी प्रत्यक्ष ही है।

परावलंबन रहित सामान्य के अवलंबन से मेरा विशेष ज्ञान होता है, इस प्रकार जिसके सामान्य स्वभाव की प्रतीति जम गई उसका विशेष ज्ञान दूसरेको जानते समय भी स्व के अवलंबन से युक्त जानता है इसलिये वास्तव में तो वह भी प्रत्यक्ष ही है। जिसके निमित्त रहित स्वाधीन ज्ञान स्वभाव प्रतीतिमें जम गया उसके समस्त ज्ञान प्रत्यक्ष ही है।

जिस ज्ञानमें यह निश्चय किया कि 'यह खंभे का एक छोर है' उस ज्ञानमें सारा खंभा ध्यानमें आ ही गया है जहां यह निश्चय किया कि 'यह पृष्ठ समयसार का है' वहां सारा समयसार ग्रंथ है और उसका पृष्ठ है इस प्रकार ज्ञान के निर्णय में पूर्ण और अंश दोनों आगये। 'यह समयसार का पृष्ठ है' यह कहने पर यह भी निश्चय हो गया कि उसके आगे पीछे के सभी पृष्ठ किसी अन्य ग्रंथ के नहीं है किन्तु समयसार के ही हैं, इस प्रकार सारा ग्रंथ ख्यालमें आ जाता है सारे ग्रंथ को ख्यालमें लिये बिना यह निश्चय नहीं हो सकता कि 'यह अंश उस ग्रंथ का है' इसी प्रकार 'यह मतिज्ञान उस केवलज्ञान का अंश है' इस प्रकार समस्त केवलज्ञान प्रत्यक्ष लक्ष्यमें आये बिना निश्चित नहीं हो सकता। यदि कोई कहे कि ज्ञान के अनुद्घटित अन्य अंश तो अभी शेष हैं न ? उसका समाधान—यहां सारे अवयवी-पूर्ण की बात है, दूसरे अंशों की बात नहीं है। यहां पर अंश के साथ अंशी का अभेद बताया है। 'यह ज्ञान का भाग है वह पूर्ण ज्ञान का अंश न हो तो वह अंश है' यह कहांसे निश्चय किया ? वर्तमान अंश के साथ अंशी अभिन्न है, वर्तमान अंश में सारा अंशी अभेदरूप में लक्ष्य में आगया है इसलिये जीव यह प्रतीति करता है कि यह अंश इस अंशी का है।

वर्तमान अंश और पूर्ण अंशी का अभेद भाव है। यहांपर दूसरे अंश के भेद भाव की बात नहीं ली गई। अंशी में सब अंश आगये हैं। यहांपर मतिज्ञान और केवलज्ञान का अभेद भाव बताया है। मतिज्ञान अंश है और केवलज्ञान अंशी है. अंश-अंशी अभिन्न है, इसलिये यह समझना चाहिये कि मतिज्ञान में केवलज्ञान प्रत्यक्ष आजाता है।

स्वाधीनता की प्रतीति में केवलज्ञान

आचार्य भगवानने आत्मा को स्वाधीन पूर्ण स्वभाव बताया है। तू आत्मा है, तेरा ज्ञानस्वभाव है, उस ज्ञान स्वभाव की विशेष अवस्था तेरे अपने सामान्य स्वभाव के अवलंबन से होती है सामान्य स्वभाव के अवलंबन से विशेषरूप जो मतिज्ञान प्रगट हुआ है वह पूर्ण केवलज्ञान के साथ अभेदस्वभाववाला है। निमित्त और राग के अवलंबन से रहित सामान्य के अवलंबनवाला ज्ञान स्वाधीन स्वभाव वाला है। मतिज्ञान और केवलज्ञान के बीच के भेद को वह नहीं गिनता, जिसके यह बात जम

जाती है उसे केवलज्ञान के बीच कोई विघ्न नहीं आ सकता यह तीर्थंकर केवलज्ञानी की वाणी केवलज्ञान का घोष करती आई हैं। आचार्यदेवों के केवलज्ञान का ही घोष हो रहा है। बीचमें भव ग्रहण होता है और केवलज्ञानमें बाधा आती है यह बात यहां बिल्कुल गौण कर दी गई है। यहां तो सामान्य स्वभाव के लक्ष्य से जो अंश प्रगट हुआ है उस अंश के साथ ही केवलज्ञान अभेद है, इस प्रकार केवलज्ञान की बात की गई है। केवलज्ञानियों की वाणी केवलज्ञान का घोष करती हुई आई है और केवलज्ञान के उत्तराधिकारी आचार्योंने यह बात परमागम शास्त्रोंमें संग्रह की है तू भी केवलज्ञान को प्राप्त करने की तैयारी में है तू अपने स्वभाव के बलपर हां कह। अपने स्वभाव की प्रतीति के बिना पूर्ण प्रत्यक्ष का विश्वास जागृत नहीं होता।

आत्मा का ज्ञान स्वभाव स्वाधीन है, कभी भी बिना विशेष के ज्ञान नहीं होता जिस समय विशेष में थोड़ा ज्ञान था वह अपने से ही था और जो विशेषमें पूरा होता है वह भी अपने से ही होता है उसमें किसी पर का कारण नहीं है। इस प्रकार जीव यदि ज्ञान स्वभावकी स्वाधीनताको जान ले तो वह परमें न देखकर अपने में ही लक्ष्य करके पूर्ण का पुरुषार्थ करने लगे।

सामान्य किसी भी समय निर्विशेष नहीं होता प्रत्येक समय सामान्य का विशेष कार्य तो होता ही है। चाहे जितना छोटा कार्य हो तो भी वह सामान्य के परिणमन से होता है। निगोद से लेकर केवलज्ञान तक आत्माकी सर्वपरिणति अपने से ही है इसप्रकार जहां स्वतंत्रता का ध्वनि अपनी प्रतीति में आता है वहीं परावलंबन दूर होजाता है। मेरी परिणति मुझसे ही कार्य कर रही है इसप्रकार की प्रतीति में आवरण और निमित्त के अवलंबन का चूरा हो जाता है।

आत्माके अनंतगुण स्वाधीनतया कार्य करते हैं। कर्ता, भोक्ता, ग्राहकता, स्वामित्व इत्यादि अनंतगुणों की वर्तमान परिणति निमित्त और विकल्प के आश्रय के बिना अपने आप ही प्रगट होती है। जो यह मानता है वह जीवको गुण के अवलंबन से प्रगट हुआ अंश पूर्णता को प्रत्यक्ष करनेवाले अंश के साथ ही पूर्ण को अभिन्न मानता है एवं अंश और पूर्णता के बीच के भेदको दूर कर देता है, इसलिये जो भाव प्रगट होता है वह भाव यथार्थ और अप्रतिहत भाव है।

इस बात से इनकार करनेवाला कौन है? यदि कोई इनकार करे तो वह अपना इनकार कर सकता है, इस बात से इनकार करनेवाला कोई है ही नहीं। निर्ग्रंथ संत मुनि ऐसे अप्रतिहत भावसे उद्यत होते हैं कि जिससे ज्ञानकी धारामें भंग पड़े बिना निर्विघ्नतया केवलज्ञान रूप हो जाते हैं। निर्ग्रंथ आचार्यों ने इस दिन (श्रुतपंचमी) को बड़े ही उत्सव पूर्वक मनाया था।

मेरे ज्ञान के मतिश्रुत के अंश स्वतंत्र हैं उन्हें किसी पर का अवलंबन नहीं है, ऐसी प्रतीति होने पर किसी निमित्त का अथवा पर का लक्ष्य नहीं रहता। सामान्य स्वभावकी ओर ही लक्ष्य रहता है। इस सामान्य स्वभाव के बल से जीवको पूर्णता का पुरुषार्थ करना होता है। पहले परके निमित्त से ज्ञान का होना माना था तब वह ज्ञान पर लक्ष्यमें अटक जाता था किन्तु स्वाधीन स्वभाव से ज्ञान होता है ऐसी प्रतीति होने पर ज्ञानको कहीं भी प्रतिरोध नहीं रहता।

मेरे ज्ञानमें पर का अवलंबन अथवा निमित्त नहीं है अर्थात् केवलज्ञान वर्तमान प्रत्यक्ष ही है। इस प्रकार सामान्य स्वभाव के कारण से जो ज्ञान परिणमित होता है उस ज्ञानधारा को तोड़नेवाला कोई है ही नहीं। अर्थात् स्वाश्रय से जो ज्ञान प्रगट हुआ है वह केवलज्ञान की ही पुकार करता हुआ प्रगट हुआ है। वह ज्ञान अल्पकाल ही में केवलज्ञानको अवश्य प्राप्त करेगा। ज्ञान के अवलंबन से ज्ञान कार्य करता है ऐसी प्रतीतिमें समस्त केवलज्ञान समा जाता है।

पहले ज्ञानकी अवस्था अल्प थी, पश्चात् जब वाणी सुनी तब ज्ञान बढ़ा किन्तु वह वाणी के सुनने से बढ़ा है यह बात नहीं है लेकिन जहां ज्ञानकी अवस्था बढ़ी वहां सामान्य स्वभावी ज्ञान ही अपने पुरुषार्थ से कषाय को कम करके विशेषरूप में हुआ है अर्थात् अपने कारण से ही ज्ञान हुआ है ऐसी प्रतीति होनेपर स्वतंत्र ज्ञान स्वभाव के बलसे पूर्णज्ञान का पुरुषार्थ करना चाहिये ज्ञानियों को स्वतंत्र ज्ञानस्वभाव की प्रतीति के बलसे वर्तमान हीन दशा में भी केवलज्ञान प्रत्यक्ष है, केवलज्ञान प्रतीति में आगया है। अज्ञानी के स्वतंत्र ज्ञानस्वभाव की प्रतीति नहीं होती इसलिये उसे यह ज्ञान नहीं होता कि पूरी अवस्था कैसी होती है और उसे पूर्ण शक्ति की प्रतीति नहीं होती।

अनेक प्रकार के निमित्त बदलते जाते हैं और उसने निमित्त का अवलंबन माना है इसलिये उसके निमित्त का लक्ष्य बना रहता है और स्वतंत्र ज्ञान की प्रत्यक्षता की श्रद्धा उसके नहीं जमती। 'मेरा वर्तमान ज्ञान मुझ से होता है, मेरी शक्ति पूर्ण है और इस पूर्ण शक्ति के आश्रय से पुरुषार्थ के द्वारा पूर्णज्ञान प्रगट होता है' ज्ञानीको इस प्रकार की प्रतीति है। जिसज्ञान के अंश से ज्ञान स्वभाव की प्रतीति की वह ज्ञान केवलज्ञान को प्रत्यक्ष करता हुआ ही प्रगट हुआ है, अर्थात् बीचमें जो शेष है-भेद पड़ा हुआ है वह दूर होकर ज्ञान पूर्ण ही होता है इस प्रकार सामान्य ज्ञान स्वभाव की प्रतीति करने पर पूर्णमें लक्ष्य लेता हुआ जो विशेष ज्ञान प्रगट हुआ है वह बीच के भेद को (मति और केवलज्ञान के बीच के भेद को) उड़ाता हुआ पूर्ण के साथ ही अभेद भाव को करता हुआ प्रगट हुआ है। बीच में एक भी भव नहीं है। अवतार भी किसके है, वर्तमान में केवलज्ञान प्रत्यक्ष है उस बल पर, बीचमें जो एकाध भव है उससे आचार्य ने इनकार किया है। आचार्यदेवने अप्रुटतया केवलज्ञान की ही बात कही है। यह बात जीस के बैठ जाती है उसे भव कदापि नहीं होता।

प्रेरणा—

मुझे संपूर्ण विश्वास था कि आत्मधर्म-हिंदी-के १५०० ग्राहक एक सालके प्रकाशन के बाद जरुर हो जांयगे, लेकिन अनियमित प्रगट होने से वह धारणा असफल रही। आज आत्मधर्म के ८०० ग्राहक हैं, यदि प्रत्येक ग्राहक एक नया ग्राहक का नाम और चंदा भेज दें तो फौरन १५०० ग्राहक हो जाय। मैं आशा रखता हूं कि कृपालु ग्राहकगण इतना सहयोग अवश्य देंगे।

—रवाणी

—पहले निश्चय कर कि तुझे क्या करना है ?—

आत्महित या धींगाधींगी

१—तुझमें 'ऊंहुं' कहां से उत्पन्न हुआ यह देख, अर्थात् ज्ञानस्वरूप आत्मा का नकार किस ज्ञानमें से उत्पन्न हुआ है, इसकी जांचकर। जो ज्ञानस्वरूप आत्मा का नकार करता है वह ज्ञान स्वयं ही ज्ञान स्वरूपी आत्मा है, इसलिये तू अपने ज्ञानस्वरूप की 'हां' कह और अपने 'ऊंहुं' को छोड़दे। (कलश ३४)

२—ज्ञायक स्वरूप का यथार्थ निर्णय होगया कि पुण्य पाप मेरा स्वरूप नहीं है मैं तो ज्ञायक हूं, यह निर्णय होनेपर पुरुषार्थ सम्यक्रूपमें परिणमन कर देता है और पुरुषार्थ के द्वारा क्रमक्रम से ज्ञायकस्वरूप की दृढता होने पर पुण्य पाप का अभाव होजाता है और ज्ञायक स्वरूप की पूर्णता प्रगट होजाती है। (कलश ३४)

तीव्रराग अथवा मंद राग आत्मा का स्वभाव नही है आत्मा का स्वभाव तो तीव्रराग अथवा मंदराग दोनों से परे वीतराग स्वरूप ज्ञायक है।

३—पास या दूर रहनेवाली परवस्तु अथवा परभाव मात्र तेरे ज्ञान करनेके लिये हैं। पुण्य पाप के भाव भी क्षण भर के लिये संयोगरूप हैं उनका भी तू जानने ही वाला है और तू अपने ज्ञायक स्वरूप का ही भोगनेवाला है। जो क्षणिक पुण्य पाप हों उन्हें अपने ज्ञायक स्वभाव के द्वारा जानले और अपने ज्ञायक स्वरूपमें दृढ होजा। (कलश ३४)

४—रागद्वेष क्षणिक हैं, आत्मा के त्रैकालिक स्वरूपमें वे नहीं है। रागद्वेष से तेरा त्रैकालिक स्वरूप दबनहीं जाता; इसलिये रागद्वेष के होने पर भी उस समय तू अपने ज्ञायक स्वरूपमें शंका मत करना। रागद्वेष को स्वरूप के बल से जान लेना। (गाथा ४५)

५—अकेला आत्म द्रव्य संसार का कारण नहीं है। आत्मद्रव्य में एक भी भव अथवा भव का भाव नहीं है, इस प्रकार की भेद-ज्ञान शक्तिका विकास होना ही मुक्तिका कारण है, जिसके ज्ञानमें आत्मा की स्वीकृति होगई उसके संसार की अथवा भव की शंका नहीं रहती। त्रैकालिक स्वभाव पर दृष्टि कर तो भव का अंत हो जायगा। (गाथा ७२)

६—पहले यह निश्चयकर कि तुझे आत्महित करना है या धींगाधींगी? यदि तुझे धींगाधींगी करना हो तो यहां पर ऐसी बात नहीं है और यदि तुझे आत्महित करना हो तो अपनी पहले की तमाम मान्यताओं को छोड़कर ज्ञानीजन जैसा कहते हैं उस प्रकार अपने आत्मस्वरूप को मानकर उसीमें स्थिर होजा और उसी की निःशंक श्रद्धाकर, ऐसा करने से ही तेरा आत्महित होगा और अल्पकालमें ही तेरी मुक्ति हो जायेगी। (कलश ३५)

७—शुद्ध ज्ञायक स्वरूप की रमणतारूप अखंड चारित्र ज्वाला की होली में हिंसा अथवा दया भक्ति की समस्त विभाव-भावरूपी लकडियें जल जांयगी इसलिये विभाव भावमें आत्मा की शोभा को मानना छोड़दे। (गाथा ९१)

आत्मस्वरुप की यथार्थ समझ सुलभ है

अपना आत्मस्वरूप समझना सुगम है किन्तु अनादि से स्वरूप के अनभ्यास के कारण कठिन मालुम होता है। यदि कोई यथार्थ रुचिपूर्वक समझना चाहे तो वह सरल है।

चाहे जितना चतुर कारीगर हो तथापि वह दो घड़ी में मकान तैयार नहीं कर सकता किंतु यदि आत्मस्वरूप की पहिचान करना चाहे तो वह दो घड़ी में भी हो सकती है। आठ वर्ष का बालक एक मनका बोझा नहीं उठा सकता किन्तु यथार्थ समझ के द्वारा आत्मा की प्रतीति करके केवलज्ञान को प्राप्त कर सकता है। आत्मा पर द्रव्य में कोई परिवर्तन नहीं कर सकता किन्तु स्व द्रव्य में पुरुषार्थ के द्वारा समस्त अज्ञान का नाश करके सम्यग्ज्ञान को प्रगट करके केवलज्ञान प्राप्त कर सकता है। स्व में परिवर्तन करने के लिये आत्मा संपूर्ण स्वतंत्र है किन्तु परमें कुछ भी करने के लिये आत्मा में किंचित् मात्र सामर्थ्य नहीं है। आत्मा में इतना अपार स्वाधीन पुरुपार्थ विद्यमान है कि यदि वह उल्टा चले तो दो घड़ीमें सातवें नरक जा सकता है और यदि सीधी चले तो दो घड़ीमें केवलज्ञान प्राप्त करके सिद्ध हो सकता है।

परमागम श्री समयसारजी में कहा है कि— 'यदि यह आत्मा अपने शुद्ध आत्मस्वरूप को पुद्गल द्रव्य से भिन्न दो घड़ी के लिये अनुभव करे (उसमें लीन होजाय) परिपहों के आने पर भी न डिगे तो घातिया कर्मों का नाश करके केवलज्ञान को प्राप्त करके मोक्ष को प्राप्त होजाय। आत्मानुभव की ऐसी महिमा है तो मिथ्यात्व का नाश करके सम्यग्दर्शन की प्राप्ति का होना सुलभ ही है, इसलिये श्री परम गुरुओं ने यही उपदेश प्रधानता से दिया है।'

श्री समयसार प्रवचनों में आत्मा की पहिचान करने के लिये बारंबार प्रेरणा की गई है कि—

(१) चैतन्य के विलासरूप आनंद को जरा प्रथक् करके देख उस आनंद के भीतर देखनेपर तू शरीरादि के मोह को तत्काल छोड़ सकेगा। 'झगिति' अर्थात् झट से छोड़ सकेगा, यह बात सरल है क्योंकि यह तेरे स्वभाव की बात है।

(२) सातमें नरक की अनंत वेदनामें पड़े हुओं ने भी आत्मानुभव प्राप्त किया है तब यहां पर सातमें नरक के बराबर तो पीड़ा नहीं है। मनुष्य भव प्राप्त करके रोना क्या रोया करता है। अब सत्समागम से आत्मा की पहिचान करके आत्मानुभव कर। इस प्रकार समयसार प्रवचनों में बारंबार—हजारोंबार आत्मानुभव करने की प्रेरणा की है। जैनशास्त्रों का ध्येयबिन्दु ही आत्मस्वरूप की पहचान कराना है।

'अनुभव प्रकाश' ग्रंथमें आत्मानुभव की प्रेरणा करते हुये कहा है कि कोई यह जाने कि आज के समय में स्वरूप की प्राप्ति कठिन है तो समझना चाहिये कि वह स्वरूप की चाह को मिटानेवाला बहिरात्मा है...... जब वह निठल्ला होता है तब विकथा करने लगता है। यदि वह तब स्वरूप की प्रेरणा अनुभव करे तो उसे कौन रोक सकता है। यह कितने आश्चर्यकी बात है कि वह पर परिणाम को तो सुगम और निजपरिणाम को विषम बताता है। स्वयं देखता है जानता है तथापि यह कहते हुये लज्जा नहीं आती कि देखा नहीं जाता, जाना नहीं जाता.... ....जिसका जयगान भव्य जीव गाते हैं जिसकी अपार महिमा को जानने से महा भव भ्रमण दूर होता है ऐसा यह समयसार (आत्मस्वरूप) अविकार जान लेना चाहिये।

यह जीव अनादि काल से अज्ञान के कारण परद्रव्यको अपना करने के लिये प्रयत्न कर रहा है और शरीरादि को अपना बनाकर रखना चाहता है किंतु पर द्रव्य का परिणमन जीव के आधीन नहीं है इसलिये अनादि से जीव के परिश्रम (अज्ञानभाव) के फलमें एक परमाणु भी जीवका नहीं हुआ। अनादिकाल से देह दृष्टि पूर्वक शरीर को अपना मान रखा है किन्तु अभीतक एक भी रजकण न तो जीव का हुआ है और न होनेवाला है दोनों द्रव्य त्रिकाल भिन्न है। जीव यदि अपने स्वरूप को यथार्थ समझना चाहे तो वह पुरुषार्थ के द्वारा अल्प कालमें समझ सकता है। जीव अपने स्वरूप को जब समझना चाहे तब समझ सकता है, स्वरूप के समझनेमें अनंतकाल नहीं लगता, इसलिये यथार्थ समझ सुलभ है।

यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने की रुचिके अभावमें ही जीव अनादि काल से अपने स्वरूप को नहीं समझपाया इसलिये आत्मस्वरूप समझने की रुचि करो और ज्ञान प्राप्त करो।

मुद्रक : चुनीलाल माणेकचंद रवाणी, शिष्ट साहित्य मुद्रणालय, दासकुंज, मोटा आंकडिया ता. ४-१-४७
प्रकाशक : जमनादास माणेकचंद रवाणी, आत्मधर्म कार्यालय, मोटा आंकडिया (काठियावाड)

धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है।

वर्ष २
अंक ११

: संपादक :
रामजी माणेकचंद दोशी
वकील

फाल्गुन
२४७३

सम्यग्दर्शन

सच्चे देव, गुरु, धर्म के लिये तन, मन, धन सर्वस्व समर्पित करे, शिरच्छेद होने पर भी कुगुरु-कुदेव-कुधर्म को न माने, कोई शरीरको जला दे तो भी मन में क्रोध न करे और परिग्रहमें वस्त्र का एक तार भी न रखे तथापि आत्मा की पहिचान के बिना जीव की दृष्टि पर के ऊपर और शुभ राग पर रह जाती है, इसलिए उसका मिथ्यात्व का महापाप दूर नहीं होता। स्वभावको और रागको उनके निश्चित लक्षणों के द्वारा भिन्न २ जान लेना ही सम्यग्दर्शन का यथार्थ कारण है। निमित्त का अनुसरण करने वाला भाव और उपादान को अनुसरण करने वाला भाव–दोनों भिन्न हैं। प्रारंभ में कथित वे सभी भाव निमित्त का अनुसरण करते हैं। निमित्त के बदल जाने से सम्यग्दर्शन नहीं होता किन्तु निमित्त की ओर के लक्षको बदल कर उपादान में लक्ष करे तो सम्यग्दर्शन होता है। निमित्त के लक्ष से बंध है और उपादान के लक्ष से मुक्ति।

: : पूज्य श्री कानजी महाराज द्वारा दिये गये : :
श्री समयसार पर प्रवचन में से

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

शाश्वत सुखका मार्ग दर्शक मासिक पत्र

एक अँक
पांच आना

आत्मधर्म कार्यालय—मोटा आंकडिया—काठियावाड़

आत्मधर्म
वर्ष २ : अँक ११ : २३ : फाल्गुन : २४७३

ज्ञानी और अज्ञानी का——अंतर

आत्मा अपने उपयोग को ही कर सकता है परद्रव्य का कुछ भी नहीं कर सकता इस सिद्धांत को श्रीसमयसारजी के कर्ता कर्म अधिकार में अत्यंत स्पष्ट दृढ़ता और बड़ी ही सुंदरता के साथ समझाया गया है। उसमें कहा है किः—

१—(गाथा ८६. भावार्थः-) "आत्मा अपने ही परिणाम को करता हुआ प्रतिभासित हो पुद्गल के परिणाम को कर्ता हुआ कदापि प्रतिभासित न हो। आत्मा और पुद्गल दोनों की क्रिया एक आत्मा ही करता है इसप्रकार माननेवाला मिथ्यादृष्टि है। यदि जड़ चेतन को एक क्रिया हो तो सर्व द्रव्यों के बदल जाने से सब का लोप हो जायगा, यह सबसे बड़ा दोष उत्पन्न होगा।"

२—(कलश ५३. भावार्थः-) "दो वस्तुएँ हैं वे सर्वथा भिन्न हैं, प्रदेशभेद वाली हैं, दोनों एक होकर परिणमित नहीं होतीं एक परिणमन को उत्पन्न नहीं करती और उनकी एक क्रिया नहीं होती, ऐसा नियम है। यदि दो द्रव्य एक होकर परिणमन करने लगें तो सर्व द्रव्यों का लोप होजायगा।"

(कलश ५४. अर्थ-) "एक द्रव्य के दो कर्ता नहीं होते और एक द्रव्य के दो कर्म अथवा दो क्रियायें भी नहीं होती क्योंकि एक द्रव्य अनेक द्रव्य रूप नहीं होता।"

३—(कलश ५६. अर्थः-) "आत्मा तो सदा अपने भावों को कर्ता है और परद्रव्य परके भावों को करता है क्योंकि जो अपने भाव हैं वे स्वयं ही हैं और जो परभाव हैं वे पर ही हैं (यह नियम है)।"

४—(कलश ६१. अर्थः-) "इसप्रकार वास्तव में जीव अपने को अज्ञान रूप अथवा ज्ञानरूप करता हुआ अपने ही भावों का करता है वह परभाव का (पुद्गल के भावों का) कर्ता कदापि नहीं है।"

(कलश ६२. अर्थ-) "आत्मा ज्ञान स्वरूप है, स्वयं ज्ञान ही है। वह ज्ञान के अतिरिक्त अन्य क्या कर सकता है? आत्मा को परभावों का कर्ता मानना (अथवा कहना) व्यवहारी जीवों का मोह (अज्ञान) है।

...इसप्रकार जीव परकी क्रिया को नहीं कर सकता किन्तु जीव अपनी ही क्रिया का करता है। यदि जीव यह जानले कि वह स्वयं कौनसी क्रिया कर सकता है और कौनसी क्रिया नहीं कर सकता तो,—क्योंकि वह पर द्रव्य की किसी भी क्रिया को स्वयं नहीं कर सकता इसलिये,—परद्रव्य के कर्तृत्व का महा अहंकार दूर हो जाय और वह अपनी परिणाम क्रिया को देखना सीखले। जब जीव अपनी परिणाम क्रिया को देखना सीख लेता है तब अपने जिन परिणामों से अपनी हानि होती हुई जानता है उस परिणाम को छोड़ देता है और अपने जिस परिणाम से अपना लाभ होता देखता है उस परिणाम का आदर करता है और ऐसा करने से दुःख दूर होकर सुख होता है किन्तु जबतक जीव यह नहीं जानता कि वह स्वयं क्या कर सकता है और क्या नहीं कर सकता तबतक वह अपने सुख का सच्चा उपाय नहीं कर सकता।

इस संबंध में पूज्य श्री कानजी महाराजने अनेकबार भार पूर्वक कहा है कि—

१—अनादि से लेकर आजतक तूने किसी भी पर जीव को अथवा जड़ को किंचित् मात्र भी लाभ या हानि नहीं पहुंचाई।

२—आजतक किसी पर जीव अथवा जड़ने तुझे किंचित्मात्र भी हानि या लाभ नहीं किया।

३—आजतक तूने अपने लिये सतत मात्र हानि का ही धंधा किया है और जबतक सच्ची समझ प्राप्त नहीं करेगा वहां तक उस हानि का धंधा चलता ही रहेगा।

४—तूने जो हानि की है वह हानि तेरी क्षणिक अवस्था में हुई है—तेरी त्रैकालिक वस्तु में नहीं हुई।

५—तेरी चैतन्य वस्तु ध्रुव अविनाशी है उस स्वभावकी ओर लक्ष्य करे तो शुद्धता प्रगट हो और अशुद्धता दूर हो अर्थात् हानि दूर हो और अटल लाभ हो।

इन उपरोक्त ५ बोलों में महान् सिद्धांत निहित है। इनमें बताया गया है कि जीव अनादि काल से आजतक परिभ्रमण करता रहा है, उसमें उसने क्या किया और अब उसे क्या करना चाहिये कि जिससे उसका परिभ्रमण दूर होजाय। मुमुक्षु जीवों को यह पांचों बोल अपने हृदय में अंकित करलेने चाहिये और उनके स्वरूप को भलीभांति समझलेना चाहिये। श्री जैन स्वाध्याय मंदिर (सोनगढ) में जो सिद्धांत सूत्र अंकित हैं उनमें एक सिद्धांत यह भी है कि—"चैतन्य पदार्थ की क्रिया चैतन्य में ही होती है जड में नहीं होती। ★

ज्ञानसुधा स्तवन सम्यग्ज्ञानरूपी अमृत की महिमा

~~~~ जिनेन्द्र स्तवन मंजरी पृष्ठ १० ~~~~

१-चेतन! मोहके संग निवारो, ग्यान सुधारस धारो. चेतन!

अर्थः—हे ज्ञानस्वरूप आत्मा! अब तू अनादि से धारण किये हुये अज्ञान का साथ छोड़ और इस सम्यग्ज्ञान रूपी अमृतको धारण कर।

२-मोह महातम मल दूरे रे, धरे सुमति परकाश;
मुक्ति पंथ परगट करे रे, दीपक ज्ञान विलास...चेतन!

अर्थः—ज्ञानरूपी दीपक का प्रकाश होने पर सम्यग्ज्ञान रूपी प्रकाशको धारण करके ज्ञान महा अज्ञान-अंधकाररूपी मैलको दूर करता है और मुक्ति के मार्ग को (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रको) प्रगट करता है इसलिये हे चेतन! तू मोहको छोड़कर सम्यग्ज्ञानको धारण कर।

३-ज्ञानी ज्ञान मगन रहे रे, रागादि मल खोय;
चित्त उदास करनी करे रे, कर्मबंध नहि होय...चेतन!

अर्थः—ज्ञानी अपने ज्ञान स्वरूपमें लीन रहता है, रागादिक अशुद्धताको छोड़ता है; (दूर कर देता है) जीव जब राग-द्वेष रहितकी क्रिया ज्ञानमें करता है तब उसे कर्मबंध नहीं होता...इसलिये हे चेतन! तू मोहको छोड़कर सम्यग्ज्ञानको धारण कर।

४-लीनभयो व्यवहारमें रे, युक्ति न उपजे कोय;
दीनभयो प्रभु पद जपे रे, मुगति कहांसु होय...चेतन!

अर्थः—जो जीव शुभरागरूप व्यवहार में ही रत हो गया है और अंतर में सम्यग्ज्ञान रूपी कोई कला जागृत नहीं हुई वह जीव दीन होकर (अर्थात् अपने परिपूर्ण स्वरूप की पहिचान किये बिना) परमात्म पद का जाप करे तो भी उसकी मुक्ति कहां से होगी? इसलिये हे चेतन! तू अज्ञान का साथ छोड़ दे और सच्चे ज्ञान को धारण कर।

५-प्रभु समरो पूजो पढ़ो रे, करो विविध व्यवहार;
मोक्ष स्वरूपी आतमा रे, ग्यान गमन निरधार....चेतन!

अर्थः—भगवान का स्मरण, पूजन, कीर्तन और इसी तरह के कई व्यवहार पद के योग्य किये जाते हैं किन्तु मोक्ष स्वरूप तो अपना आत्मा है, ऐसा ज्ञान में बराबर निर्णय कर ... ... हे चेतन! अज्ञान का साथ छोड़ और सम्यग्ज्ञान को धारण कर।

६-ग्यानकला घटघट वसे रे, जोग जुगति के पार;
निजनिजकला उद्योत करे रे, मुगति होय संसार..चेतन!

अर्थः—मन, वचन, काय की क्रियाओं और विकल्पों से परे चैतन्य ज्ञान कला प्रत्येक आत्मा में विद्यमान है और स्वयं अपनी उस ज्ञानकला का (सच्ची श्रद्धाज्ञान के द्वारा) उद्योत करने से जीव संसार से मुक्ति प्राप्त करता है...इसलिये हे चेतन! तू मोह का साथ छोड़ और ज्ञानकला को प्रगट कर।

७-बहुविध क्रिया कलेशसुंरे, शिवपद न लहे कोय;
ग्यानकला परकाशसो रे सहज मोक्षपद होय...चेतन!

अर्थः—कलेशवाली अनेक तरह की शुभ-अशुभ क्रियाएं (शुभाशुभभाव) करने परभी कोई जीव आत्मा की शुद्धदशा प्राप्त नहीं कर सकता किंतु भेदज्ञानरूपी कला के प्रकाश के द्वारा सहज में आत्मा की पूर्ण शुद्धता (मुक्ति) होती है, इसलिये हे चेतन! तू अज्ञान को छोड़ और भेदज्ञान रूपी अमृत रस को धारण कर।

८-अनुभव चिंतामणी रतन रे, जाके हइए परकाश;
सो पुनीत शिवपद लहे रे, दहे चतुर्गति वास...चेतन!

अर्थः—अनुभव चिंतामणि रत्न के समान है। जिसके अंतरमें आत्मानुभव का प्रकाश प्रगट हुआ है वह पवित्र मोक्ष पर्यायको प्राप्त करता है और चारों गति के जन्म मरण का नाश करता है, इसलिये हे चेतन! तू मोह का साथ छोड़ और सम्यग्ज्ञानको धारण कर।

९-महिमा सम्यक् ग्यानकी रे, अरुचि राग बल जोय;
क्रिया करत फल भुंजते रे, कर्मबंध नहि होय...चेतन!
~~~~

अर्थः—अहो! सम्यग्ज्ञान की महिमा देखो! राग के प्रति अरुचि के बल से अल्प रागकी क्रिया करने पर भी उसके फलको सम्यग्ज्ञान मिटा देता है (अर्थात् सम्यग्ज्ञानी जीव राग का स्वामी नहीं होता इसलिये उसके राग का फल भी नहीं होता) इस तरह उसके कर्म का बंध नहीं होता इसलिये हे चेतन! तू अज्ञानको छोड़ और ऐसे सम्यग्ज्ञानको धारण कर।

१०—भेदज्ञान तबलों भलो रे, जबलों मुक्त न होय;
परम ज्योति परगट जिहां रे, तिहां विकल्प नहि कोय ...चेतन!

अर्थः—इस भेदज्ञान का अभ्यास तबतक करने योग्य है जबतक मुक्ति नहीं होती और इस तरह भेदज्ञान का अभ्यास करते करते जब केवलज्ञानरूपी परम ज्योति प्रगट होती है तब वहां कुछ विकल्प नहीं होता इसलिये हे चेतन! अज्ञान के साथ को छोड़कर भेदज्ञान रूपी सुधारस को धारण कर।

११—भेदज्ञान साबु भयो रे, समरस निर्मल नीर,
धोबी अंतर आतमा रे, धोवे निजगुण चीर...चेतन!

अर्थः—इस भेदज्ञान रूपी साबुन और समतारस (वीतरागभाव) रूपी जल के द्वारा अपने शुद्ध ज्ञान स्वरूप को जाननेवाला ज्ञानी जीव अपने गुणरूपी वस्त्र को धोता है पवित्र करता है। हे चेतन! तू अज्ञान को छोड़कर भेदज्ञान को धारण कर।

१२—राग विरोध विमोह मली रे, ये ही आस्रव मूलः
ये ही करम बढ़ाय के रे, करे धर्म की भूल ..चेतन!

अर्थः—मिथ्यात्व के महामोह के साथ मिला हुआ जो रागद्वेष है वही मुख्य आस्रव है और वही—(मिथ्यात्व ही) आत्मा की अशुद्धता बढ़ाकर धर्म की भूल करता है अर्थात् आत्मा की पवित्रता को रोकता है, इसलिये हे चेतन! उस मोहको छोड़कर तू सम्यग्ज्ञानको धारण कर।

१३—ग्यानस्वरूपी आतमा रे, करे ग्यान नहि और;
द्रव्यकर्म चेतन करे रे, येह व्यवहार की दोर...चेतन!

अर्थः—यह आत्मा ज्ञानस्वरूपी है, वह जाननेवाला ही है, ज्ञान के अतिरिक्त वह दूसरा कुछ नहीं करता। ज्ञानस्वरूपी आत्मा द्रव्यकर्म बांधता है यह व्यवहार की रीति (कथनमात्र) है और वास्तव में ऐसा मानलेना यह अज्ञानी जीव की रीति है इसलिये हे चेतन! अज्ञान को छोड़कर सम्यग्ज्ञान को धारण कर।

१४—करता परिणामी द्रव्य रे, कर्मरूप परिणाम;
किरिया परजयकी फिरत रे, वस्तु एक त्रयनाम...चेतन!

अर्थः—जिस अवस्थारूप से द्रव्य स्वयं परिणमे उस अवस्था का वह द्रव्य कर्ता है और जिस अवस्थारूप परिणाम हुए वह उसका (कर्ता का) कार्य है। एक परिणाम से दूसरे परिणामरूप बदलना सो द्रव्य की क्रिया है, कर्ता, कर्म और क्रिया ऐसे तीन नाम भेद हुये हैं परंतु वे तीनों एक ही वस्तु हैं भिन्न नहीं।

नोट—इसमें स्पष्ट कहा है कि कर्ता, कर्म और क्रिया एक ही द्रव्यमें होते हैं, किसी द्रव्य का कर्ता, कर्म अथवा क्रिया उस द्रव्य से कदापि प्रथक्–भिन्न नहीं होती अर्थात् एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ भी नहीं कर सकता। आत्मा ज्ञानस्वरूप है, उसका बदलना (परिणमन) ज्ञान स्वरूप हीं है, इसलिये आत्मा ज्ञान का ही कर्ता है और ज्ञान ही आत्मा की क्रिया है, आत्मा पर का कर्ता नहीं है। चैतन्य पदार्थ की क्रिया चैतन्य में ही होती है, चैतन्य पदार्थ की क्रिया पर में नहीं होती। इस प्रकार समझकर हे चेतन! तू मोह को छोड़ और सम्यग्ज्ञान को धारण कर।

१५—करता, कर्म, क्रिया करे रे, क्रिया करम करतार
नाम भेद बहुविध भये रे, वस्तु एक निर्धार...चेतन!

अर्थः—अमुक कर्ता अमुक कर्म और क्रिया को करता है, तथा अमुक क्रिया और कर्म उस अमुक कर्ता का किया हुआ है—इस तरह अनेक प्रकार से नाम भेद हैं परंतु कर्ता, कर्म और क्रिया यह तीनों वस्तुऐं तो एक हीं द्रव्य हैं, ऐसा निश्चय करना चाहिये, इससे यह निर्णय हुआ कि आत्मा, ज्ञान और ज्ञान की क्रिया तीनों अभेदरूप एक ही हैं, इसलिये हे चेतन! तू अज्ञान को छोड़कर सम्यग्ज्ञान को धारण कर।

१६—एक कर्म कर्तव्यता रे, करे न करता दोय;
तेसें जस सत्ता सधीरे एक भावको होय...चेतन!

अर्थः—एक कर्म का कर्तृत्व दो कर्ताओं का नहीं है अर्थात् दो द्रव्य मिलकर एक अवस्था नहीं करते इसलिये जो सब होने रूप वस्तुऐं हैं वह प्रत्येक अपने एक भावकी ही कर्ता है किसी दूसरे भाव की कर्ता नहीं है, ऐसा जानकर हे चेतन! तू मोह का साथ छोड़ और सम्यग्ज्ञान रूपी अमृतरस को—अंगीकार (स्वीकार) कर।

साधु किसे कहते हैं

: लेखक-रामजीभाई माणेकचंद दोशी :

साधुपद की महत्ता

१—साधुपद एक सामान्य पद नहीं है किन्तु महान् पद है। सर्वज्ञ वीतराग तीर्थंकरदेव के धर्म मंत्री गणधरदेव नमस्कार मंत्र का उच्चारण करते हुये जगत् के सर्व साधुओं को नमस्कार करते हैं। जिन्होंने आंशिक वीतरागता प्रगट की है और पूर्ण वीतरागता प्राप्त करने के लिये प्रयत्न कर रहे हैं वे ही साधु हो सकते हैं और इसलिये वे ही धर्म बुद्धिसे नमस्कार के योग्य हैं। गणधरदेव जैसे चार ज्ञान के स्वामी जिन्हें नमस्कार करते हैं वे कैसे पवित्र आत्मा होना चाहिये इसका यदि थोड़ा समय भी विचार किया जाय तो तटस्थ जीवों को तुरंत मालूम होजाय कि-साधुपद एक महान् पद है और उसकी संख्या जाज्वल्यमान धर्मकाल में भी अल्प होती है और इस वर्तमान विषम काल में तो लगभग शून्य के समानही समझना चाहिये।

जिज्ञासु और प्रमुखों का कर्तव्य

२—जो अपने को साधु मानते हैं और दूसरों से अपने को साधु मनवाना चाहते हैं उनकी संख्या आज कल बहुत बड़ी दिखाई देती है और इसमें इतनी तीव्रता के साथ किसी न किसी प्रकार वृद्धि होती रहती है कि उनको साधु मानने में जिज्ञासुओंको आनाकानी हुये विना नहीं रहती; इसलिये जिज्ञासुओं और समाज के प्रमुखों को इस वारेमें बहुत गंभीर अभ्यास और विचार करने की जरूरत है।

असाधु को साधु स्वीकार करने (मानने) का फल

३—जीव अज्ञानता के कारण अनादि से दुःखी है। जीव की यदि मूलभूत भयंकर भूल न हो और उस भूल का पोषण पल पल में वह न किया करता हो तो दुःख हो ही नहीं। 'असाधु' को 'साधु' के रूपमें मानने से इस अज्ञानदशा को पुष्टि मिलती है। इस नई पुष्टिको शास्त्र की परिभाषा में 'गृहीत मिथ्यात्व' कहा गया है, इस गृहीत मिथ्यात्व रूपी खोटी (असत) मान्यता का नाश किये विना किसी भी जीवके अनादि काल से चला आया अज्ञान और दुःख (जिसे अगृहीत मिथ्यात्व कहा जाता है वह) चाहे वह जीव धनवान हो या निर्धन उसके दूर ही नहीं होता प्रत्युत अधिक पुष्ट होता जाता है।

अंधश्रद्धा अंगीकार करने योग्य नहीं है

४—जिज्ञासुओं, मुमुक्षुओं और विचारकों को अंध श्रद्धा स्वीकार करना योग्य नहीं है। उन्हें साधु पद क्या है इसका सत्य निर्णय करने की आकांक्षा होती है। जो लौकिक शिक्षा में आगे वढ़े हुये हैं, वुद्धिशाली हैं वे अपनी कुल परंपरा से चली आई साधु पद की मान्यता यथार्थ है या नहीं इसका यदि निर्णय करना चाहें तो तुरंत ही कर सकते हैं वे ऐसी शक्ति रखते हैं इसलिये साधु किसे कहना चाहिये यह यहां वताया जाता है।

'साधु' का अर्थ

५—'साधु' भावसूचक शब्द है इसलिये यह शब्द किसभाव को सूचित करता है (बताता है) इस पर यहां विचार करते हैं—

यह विचार करते हुये प्रश्न उठता है कि 'साधु' शब्द किसी वस्तु को सूचित करता है या किसी गुण को सूचित करता है अथवा किसी गुण की अवस्था को सूचित करता है? इसका उत्तर यह है कि—वह जीवद्रव्य के चारित्रगुण की शुद्ध अवस्था को वतलाता है। 'साधु' शब्द का सामान्य अर्थ ऐसा होता है— 'जो साधे (सिद्धकरे) सो साधु' इस शब्द को धर्म के अर्थ में प्रयोग किया जाय तो उसका अर्थ ऐसा होता है कि—'आत्मा के शुद्धभाव को जो साधे सो साधु है' इस तरह अर्थ होने से 'साधु' पद के धारकमें निम्नलिखित गुण तो अवश्य होना ही चाहिये।

(१) आत्मा क्या है इसका यथार्थ निर्णय उसे होना चाहिये।

(२) आत्मा का शुद्धधर्म क्या है इसका यथार्थ ज्ञान उसे होना चाहिये।

(३) सम्यग्ज्ञानपूर्वक आत्मा की शुद्ध अवस्था को धारण करता हुआ धर्म उसमें प्रगट हुआ होना चाहिये और उसपद में वह आगे बढ़ा हुआ होना चाहिये।

(४) उसका आचरण आत्मा की शुद्ध अवस्था को वृद्धिगत करनेवाला होना चाहिये।

इतना जो अर्थ हुआ है उसमें इतना तो आ ही गया है कि:—

(१) आत्मा क्या है इसका यथार्थ ज्ञान जिसे न हो वह साधु नहीं हो सकता।

(२) आत्मा क्या है इस का यथार्थ ज्ञान जिसके न हो उसे आत्मा का शुद्ध धर्म क्या है इसका यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता और

ऐसे ज्ञान रहित जीव साधु नहीं हो सकते।

(३) और "कुल में माना जाने वाला जो गुरु या साधु है सो वह साधु है" ऐसी साधुपद की व्याख्या नहीं है किंतु ऊपर कहे गये गुण जितने प्रगट किये हों वे ही साधु है।

साधु का स्वरूप

६—सम्यग्दर्शन-ज्ञान प्राप्त कर, गृहस्थपना छोड़, विरागी बनकर समस्त परिग्रह छोड़कर शुद्धोपयोग धर्म स्वीकार करके अंतरंग में इस शुद्धोपयोग के द्वारा जो स्वयं स्व का (आत्मा का) अनुभव करता है वह साधु है। वे पर द्रव्य में अहंबुद्धि नहीं रखते इसलिये पर द्रव्य का जीव कुछ कर सकता है ऐसा वे नहीं मानते। अपने ज्ञानादिक स्वभाव को ही अपना मानते हैं विकारीभावों में ममत्व नहीं करते। पर द्रव्य तथा उसका स्वभाव ज्ञान में प्रतिभासित अवश्य होता है, किन्तु उससे आत्मा को कुछ लाभ-हानि होती है ऐसा नहीं मानते और इसलिये उनके इष्ट-अनिष्ट की मान्यता नहीं है और वे उसमें रागद्वेष नहीं करते। जो अल्प राग द्वेष होता है वह कर्म अथवा पर वस्तु के कारण से नहीं होता किन्तु अपने पुरुषार्थ की अशक्ति के कारण (अल्प अस्थिरता होने से) होती है—ऐसा वे मानते हैं। कदाचित् मंदराग के कारण शुभोपयोग होता है तब पांच महाव्रत का पालन करते हैं किन्तु उस रागभाव को भी हेय जानकर दूर करना चाहते हैं।

मुख्यरूपसे तो निर्विकल्प स्वरूपाचरण चारित्रमें ही निमग्न हैं परंतु कभी धर्मरुचिवाले अन्य जीवों को देखकर करुणा बुद्धि से धर्मोपदेश देते हैं।

साधुओं के तीन प्रकार की कषाय का अर्थात् अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण कषाय का अभाव है और संज्वलनकषाय के देशघाती स्पर्द्धकों का ही उदय है यह कषाय भी मंद ही है इसलिये शीतादिक ऋतुओं के कारण से शरीर को चाहे जो हो तो भी उनके परिणाम व्याकुल नहीं होते और इसीलिये शरीर को ढ़कने अथवा उसकी रक्षा करने का भाव ही उनके नहीं होता ऐसी उच्च प्रकार की उनकी पवित्रता है।

श्रीमद्‌राजचंद्र के उद्‌गार

७– श्रीमद्‌राजचंद्र कहते हैं कि वीतराग का मत लोक प्रतिकूल हो गया है, रुढ़ि से जो लोग उसे मानते हैं उनके लक्ष्यमें भी वह निश्चित नहीं मालूम होता अथवा अन्यमत को वीतराग का मत जानकर प्रवृत्ति करते जाते हैं। थोड़ा सत्य भी बाहर आनेपर भी उनके प्राणघात तुल्य दुःख होता हो–ऐसा दिखाई देता है" और वे कहते हैं कि:–

"ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप इस प्रकार मोक्षमार्ग चार प्रकारसे कहा है फिर भी पहले के दो पद तो उनके भूले हुये जैसे होते हैं और चारित्र शब्द का अर्थ वेष तथा मात्र बाह्य स्थिति को ही समझने के समान होता है। 'तप' शब्द का अर्थ मात्र उपवासादिक व्रत का करना और वह भी बाह्य संज्ञासे उस में समझने के समान होता है। फिर कदाचित् ज्ञान-दर्शनपद कहना पड़े तो वहां लौकिक कथन जैसे भावों के कथन को ज्ञान और उसकी प्रतीति अथवा कहने वाले की प्रतीति के संबंध में दर्शन शब्द का अर्थ ज्ञातव्य रहता है।"

और फिर वे ऐसा अभिप्राय बताते हैं कि–संसार के कामधंधों में मुख्य रूपसे जीव रुके रहते है। थोड़ा सा जो कुछ भी उनका समय रहता है वह अधिकांश कुगुरु लूट लेते हैं।

आत्मसिद्धि शास्त्र में भी वे कहते हैं कि:—

गच्छ मतनी जे कल्पना,
ते नहि सद् व्यवहार।
भान नहि निज रूपनुं
ते निश्चय नहि सार ॥१३३॥

उनका उपरोक्त कथन बड़ा रहस्यमय हैं। इसलिये समस्त योग्य जीवों को विचार करके रूढ़ि में न फंस कर साधु पद के अर्थ का यथार्थ निर्णय करना चाहिये।

जिसके आत्मज्ञान नहीं वह साधु नहीं

८–जिसे आत्मज्ञान नहीं हुआ उसे सम्यग्दर्शन ही नहीं है वह तो मिथ्या–दृष्टि है, उसका ज्ञान अथवा चारित्र सम्यक् हो ही नहीं सकता–किंतु मिथ्या ही होता है। सम्यग्दर्शन प्राप्त होने से पहले चौथा गुणस्थान भी प्राप्त नहीं होता तो फिर छठे और सातवें गुणस्थान जैसी उच्चदशा जो कि सच्ची साधुदशा है वह उनके होगी ही कहां से?

आत्मसिद्धिशास्त्र

९-इस शास्त्रमें कहा है कि:—

आत्म ज्ञान त्यां मुनिपणुं,
ते साचा गुरु होय।
बाकी कुळगुरु कल्पना,
आत्मार्थी नहिं जोय ॥३४॥

इसका अर्थ इस प्रकार लिखा है।

यदी आत्मज्ञान होता है तो मुनित्व होता है अर्थात् जहां आत्मज्ञान नहीं होता वहां मुनित्व संभव नहीं है यदि सम्यक्त्व अर्थात् आत्मज्ञान हो तो मुनित्व हो सकता। जिसमें

आत्मज्ञान होता है वह सच्चा गुरु है। आत्मज्ञान से रहित होने पर भी अपने कुलगुरुको सद्गुरु (सच्चा साधु) मानना सो कल्पना मात्र है आत्मार्थी उन्हें साधु के रूप से स्वीकार नहीं करते।

साधुपद ग्रहण करने का क्रम

१०–मुनिपद ग्रहण करने का क्रम यह है कि–पहले तत्त्वज्ञान होने के बाद उदासीन परिणाम हो फिर परीषहादि सहन करने की शक्ति हो और वे गुण प्राप्त करके अपने आप ही मुनि होना चाहे तब श्री गुरु उसे साधु धर्म स्वीकार कराते हैं।

विपरीतता

११–आजकल ऐसी विपरीतता दिखाई देती है कि तत्त्वज्ञान से रहित [शून्य] जीवोंको अनेक लाभ बताकर मुनिपद दिया जाता है। तत्त्वज्ञान दृष्टि हुये बिना विषयासक्तता दूर नहीं होती और इसलिये उनकी ओर से अन्यथा प्रवृत्ति का होना स्पष्ट ही है।

सावधानता की आवश्यकता

१२–देव, गुरु, धर्म तो सर्वोत्कृष्ट पदार्थ हैं उनके आधार से ही धर्म है यह मुख्य विषय होनेपर भी यदि इसमें ही शिथिलता रखी जाय तो जीव धर्मका स्वरूप समझकर सच्चा धर्मी कब होगा? यह शिथिलता दूर करने के लिये सर्वज्ञ भगवानने कहा है कि कुदेव, कुगुरु, कुधर्म का त्याग न करने से जीव के मिथ्यात्वभाव अधिक पुष्ट होता है इसलिये सभी तरहसे कुदेव, कुगुरु और कुधर्म के त्याग करने की जरूरत है। इसक्षेत्र में आजकल देव, गुरु और धर्म के संबंधमें शिथिलता की और कुदेव, कुगुरु और कुधर्मको मानने की प्रवृत्ति विशेष दिखाई देती है; इसलिये उसके निषेध रूपसे जो कथन सत्शास्त्रोंमें किया गया है उसे जानकर सावधान होकर मिथ्यात्वभाव छोड़कर अपना कल्याण करना चाहिये।

वर्तमान समय में परिवर्तन

१३–श्रीमद्राजचंद्र के समय से वर्तमानमें शिक्षा का प्रचार अधिक बढ़ गया है इसलिये जब युवकोंसे कुछ भी स्वीकार करने को कहा जाता है तब वे यही प्रश्न करते है कि "क्यों?" और वे उसका कारण भी जानना चाहते हैं, बुद्धिगम्य कारणों की मांग करके और उसकी परीक्षा करके सत्य ग्रहण करने की रीति प्रशंसा के योग्य है। फिर कुछ समय से लोगों में तत्त्वज्ञान को जानने की, पढ़ने की, और उसका अभ्यास करने की रुचि जागृत हुई है और वह वृद्धि को प्राप्त होती जाती है इसलिये उसे विशेष जागृत करके जो यह समझलें कि 'साधुपद' क्या है उन्हें लाभ हुये विना नहीं रहता।

क्या करना चाहिये?

१४—इसलिये प्रत्येक धर्माभिलाषी जीव को 'साधु' का स्वरूप समझना चाहिये। क्यों कि उस संबंध का अज्ञान आत्मा को महा हानि करने वाला है, इस स्वरूप के समझने पर और सच्ची धर्म भावना के बढ़ने पर तत्त्वज्ञान की ओर गृहस्थ वर्ग की रुचि बढ़ेगी और उस से बहुत सी अनिष्टता अपनेआप दूर हो जायगी।

*

पहले क्या करना चाहिये?

सभी आत्मा शक्तिरूप से तो भगवान ही हैं किन्तु अनादि से अपने स्वरूप के भान को भूले हुये हैं और अपने को तुच्छ पराधीन मान रखा है इसीलिये वर्तमान दुःख का अनुभव कर रहे हैं। यदि अपने स्वरूप को यथार्थ समझे तो उसे सुख प्रगट हो और दुःख दूर हो। सबसे पहले स्वरूप को यथार्थ समझना ही योग्य है।

यहां कोई तर्क करता है कि— "तुम तो सभी को एक ही करने की कहते हो, परंतु बालकों को तो पहले लौकिक शिक्षा लेनी चाहिये पीछे संसार चलाना सीखना चाहिये और इसके बाद समय मिले तो धर्म समझे" तो उस तर्क का निम्न प्रकार प्रश्नोत्तर द्वारा समाधान किया जाता है:—

प्रश्नः—बालक सुखी हो ऐसा करना चाहिये कि दुःखी होवे ऐसा करना चाहिये?

उत्तरः—सुखी होवे ऐसा करना चाहिये।

प्रश्नः—बालक सच्चा समझे तो उसे सुख होता है कि खोटा समझे तो सुख होता है?

उत्तरः—सच्चा समझे तो ही सुख होता है।

प्रश्नः—पहले से ही सच्चा समझना होता है कि पहले खोटा समझ कर पीछे सच्चा समझना होता है?

उत्तरः—पहले से ही सच्चा समझना होता है—पहले असत् को समझकर पीछे सत् को समझ लूंगा ऐसा नहीं होता किन्तु जैसे ही असत्

को असत् जाना तैसे ही असत्य अभिप्राय को छोड़ देना चाहिये। "पहले विष खाकर वह फैल जाय तब पीछे उसका उपाय करूंगा" ऐसा नहीं होता, किन्तु 'यह विष है' यह जानने के बाद वह उसे खाता ही नहीं इसलिये पहले उलटा समझ लेना चाहिये पीछे सच्चा समझ लूंगा-ऐसा नहीं होता...असत् के समझते समझते सत् की समझ होती ही नहीं किंतु सत् समझते ही असत् छूट जाता है....असत् को असत् जाना कि उसी समय असत् को छोड़कर सत् समझ लूंगा और असत्य को सर्वथा छोड ही दूंगा....इस प्रकार सत् का ही आदर होता है। इस कथन के अनुसार जो सत्य होता है वह पहले से ही समझना होता है....और वह नियम तो सभी के लिये समान ही होता है। इसलिये पहले सत् असत् का विवेक कर सत् को समझना चाहिये। ★

श्री समयसारजी के रचयिता और समयसारजीकी स्तुति

(परम पूज्य श्री कानजी महाराज का प्रवचन)

आज (ज्येष्ठ कृष्णा ८) श्री समयसारजी की प्रतिष्ठा का मांगलिक दिन है इस परमागम शास्त्र में क्या है? यह तो अनुभव से भीतर उत्तर कर देखें तब समझमें आयगा। इसमें अलौकिक चमत्कारिक मंत्र हैं।

जैसे तलाव के किनारे खड़े रहकर देखने पर तलाव का पानी मध्यमें और किनारे पर एकसा मालूम होता है ऊपरी दृष्टि से पानी की गहराई का पता नहीं लग सकता। तलाव के पानी की गहराईमें बीचमें और अंत में अंतर है। जो पानी की गहराई का नाप करना जानता है वह यदि किनारे से भीतर को उतरे तो उसे पानी की वास्तविक गहराई का पता लग जाता है इसी-प्रकार सर्वज्ञ भगवान की दिव्यध्वनि के द्वारा द्वादशांगी श्रुतका जो एक धारावाही प्रवाह छूटा था उसमें से इस शास्त्र की रचना हुई है। उसमें क्या रहस्य भरा हुआ है इसका नाप यदि कोई ऊपरी दृष्टि से निकालना चाहे तो वह नहीं निकल सकता किन्तु यदि कोई भीतर उतर कर समझे तो ज्ञात होगा कि उसके भीतर केवलज्ञान का रहस्य भरा हुआ है।

महाविदेह में वर्तमान जीवनमुक्त दशामें श्रीसीमंधर परमात्मा अरहंतदेव विराजित हैं। भरतक्षेत्र में विक्रम की प्रथम शताब्दि में महा निर्ग्रंथ मुनियों के नायक श्री कुंदकुंदाचार्य हो गये हैं। वे महाविदेहमें श्री सीमंधर भगवान के पास गये थे। सहज स्वभाव की अंतरंग आनंद दशामें झूलते हुये और बाह्यमें सहज दिगम्बर दशायुक्त श्री कुंदकुंदाचार्यदेव श्रीसीमंधर भगवान के पास गये थे और एक सप्ताह रहे थे। यह बात तीन काल और तीन लोक में कदापि बदल नहीं सकती। यह मात्र इसलिये नहीं कहा जारहा कि यह बात शास्त्र और शिलालेखोंमें अंकित है, किंतु यह बात अंतरंग से सिद्ध हो चुकी है।

भगवान की वाणी में एक साथ सब कुछ आजाता है उसमें भेद नहीं पड़ता, वह निरक्षर ध्वनि है। भगवान की वाणीमें भेद क्यों नहीं पड़ता इसका स्पष्टीकरण निम्न प्रकार है:-

आत्मा में जबतक क्रोधादि युक्त दशा होती है तब तक वाणी भी भेद युक्त होती है किन्तु जब संपूर्ण वीतराग दशा हो गई और पर्यायमें कषाय का भेद दूर होकर अभेददशा प्रगट हो गई तब उसकी निमित्तरूप वाणीमें भी अभेद आजाता है। जहां तक क्रोधादि है वहांतक विकार है। आत्मा अनंत गुणका अखंड पिंड है इसलिये जहां गुण में विकार होता है वहां अवस्था एकरूप नहीं रहती किंतु भेद पड़ जाता है इसलिये उसकी वाणी में भी बहुत से अक्षरों के द्वारा भेद पड़ जाता है। सर्वज्ञ परमात्मा के संपूर्ण दशा प्रगट होने पर पर्याय अभेद हो जाती है इससे उनकी वाणी भी अभेद एकाक्षरी हो जाती है, उस वाणी में सारी भाषा का समावेश होजाता है, उस वाणीको सुनने के लिये गणधर, इंद्र, चक्रवर्ती, मनुष्य, पशु, पक्षी इत्यादि सब आते हैं और सभी अपनी अपनी भाषा में समझते हैं।

भगवान को उपदेश की इच्छा नहीं होती, वे वीतराग होते हैं। कब कौन क्या पूछेगा और उसका क्या उत्तर होगा यह सब एक ही समय में अपने

अक्रम ज्ञान से (केवलज्ञान से) भगवान जानते हैं। वर्तमान महा विदेहक्षेत्र में श्री सीमंधर परमात्मा जीवन मुक्तदशा में तीर्थंकरपद पर विराजमान हैं, उनके पास भरतक्षेत्र के महा मुनि श्री कुंदकुंदाचार्य गये थे और वहां से महा प्रवाहमय दिव्य वाणी को ग्रहण करके वापिस आये। उनने उसी आधार पर श्री समयसारजी आदि ग्रंथों की रचना की थी। इस शास्त्र में दिव्यध्वनि का रहस्य उतारा गया है इसका गूढ़ रहस्य ऊपर से देखने पर मालूम नहीं होता किंतु अंतरंग से देखें तो उसकी अपार महिमा समझ में आ जाती है। समयसार में अपार केवलज्ञान भरा हुआ है। इसके संबंध में क्या कहा जाय, इस समयसार की महिमा शब्दों के द्वारा नहीं कही जा सकती वह तो शब्दों से परे है और मनसे भी परे है। गांवों में जिसके यहां २००-३०० मन अनाज पैदा होता हो, उसके यहां काम करने वाले को २-३ मन अनाज मिलता है अधिक नहीं। किन्तु जिसके यहां हजारों मन अनाज उत्पन्न होता है उसके काम करने वालों को परिपूर्ण अनाज मिलता है। इसी प्रकार अल्पज्ञ उपदेशक की वाणी से श्रोताओंको थोड़ा उपदेश मिलता है और सर्वज्ञ देव की पूर्ण प्रवाह मय दिव्यध्वनि में से पात्र श्रोताओं को श्रुत का महा प्रवाह प्राप्त होता है महाविदेहमें सीमंधर भगवानकी धर्मकी प्रभावमय पीढ़ी चल रही है, उनकी उस दिव्यध्वनि का साक्षात् लाभ भगवान कुंदकुंदाचार्य को एक सप्ताह तक मिलता रहा था और फिर उनने इस समयसारकी रचना की थी। इस समयसार में बहुत गहराई में अमाप अगाध अति अगाध भाव भरे हुये हैं।

अहा! कुंदकुंदाचार्य की क्या बात कही जाय! अपनी अंतरंग दशा के संबंध में उनने समयसार ६ गाथा में स्वयं कहा है कि—

णवि होदि अप्पमत्तो ण पमत्तो जाणओ दु जो भावो
एवं भणंति सुद्धं णाओ जो सो उसो चेव ॥६॥

इस गाथामें आचार्यदेवने अपनी वर्तमान भूमिका पर बात स्थापित की है। सीमंधर भगवान के पास से कुंदकुंदाचार्यको पूर्ण आत्मा का स्वरूप बिलकुल निःशंकता से प्राप्त हुआ है वे कुंदकुंदाचार्य मुनियों के नायक थे। भरतक्षेत्रमें धर्मको प्रवाहित करनेवाले महान् संत थे। छठी गाथामें उनने ज्ञायक का ही वर्णन किया है। जो एक ज्ञायक भाव है वह न तो अप्रमत्त है और न प्रमत्त है इस प्रकार शुद्ध का कथन किया गया है, जो ज्ञात हैं वह तो ज्ञात ही है।

आचार्यदेव सातवें और छठे अप्रमत्त एवं प्रमत्त गुणस्थान की दशामें झूल रहे हैं, वे दोनों भंगों का निषेध करते हुये कहते हैं कि मैं न तो अप्रमत्त हूं और न प्रमत्त। मैं ज्ञायक हूं। 'अप्रमत्त-प्रमत्त नहीं हूं' ऐसा क्यों कहा है? मैं अकषाय-सकषाय नहीं हूं अथवा मैं अयोगी-सयोगी नहीं हूं ऐसा क्यों नहीं कहा। 'णवि होदि अप्पमत्तो' अर्थात् मैं अप्रमादी नहीं हूं तथा 'ण पमत्तो' अर्थात् मैं प्रमादी नहीं हूं किन्तु इन दोनों दशाओं के भेद से रहित मैं ज्ञायक भाव हूं ऐसा क्यों कहा है? आचार्यदेव स्वयं सातवीं और छठी भूमिका में झूल रहे हैं इसलिये उपरोक्त गाथा में भी सहज भाव से उपरोक्त दृष्टि से कथन किया है।

यह छठी गाथा विधि के लेख की तरह टंकोत्कीर्ण है शास्त्र रचना का विकल्प उठा किंतु आत्मासे अक्षर की रचना नहीं होती तथा जो विकल्प उठता है वह भी मेरा स्वरूप नहीं है और तो क्या अप्रमत्त-प्रमत्त दशा का भेद भी मैं नहीं हूं मैं तो ज्ञायक हूं। इस प्रकार छठी गाथा में केवलज्ञान का प्रारंभ किया है। इस गाथा में अपना अंतरंग निचोकर रख दिया है। स्वयं वर्तमान अप्रमत्त-प्रमत्त दशा के बीच प्रवर्तमान हैं, इसलिये गाथा में वे ही शब्द आये हैं। अभी अपनी अकषाय दशा प्रगट नहीं हुई और साधक दशामें अप्रमत्त-प्रमत्तदशा के दो भेद आते हैं उस भेद का निषेध करते हुये कहते हैं कि अप्रमत्त अथवा प्रमत्त नहीं हूं, मैं तो अखंडानंद ज्ञायक हूं, इस प्रकार इस गाथा में आचार्यदेव ने अभेद ज्ञायक भाव का अनुभव उतारकर रख दिया है। अपने अनुभव की जो दशा है, उस दशा से वर्णन किया है।

अवस्था के जहां दो भेद हो सकते हैं मैं वह नहीं हूं। मैं ज्ञायक ज्योति ही हूं, त्रिकाल आनंद स्वरूप ही हूं। 'आनंद नहीं था' और 'आनंद प्रगट करता हूं' इस प्रकार के भेदरूप दो पहलुओंका मैं इस समय स्पष्ट निषेध करता हूं इस समय तो मात्र ज्ञायक भाव ही दिखाना है। मैं एकरूप ज्ञायक भाव परम पारिणामिक भाव हूं। अर्थात् मैं कारण परमात्मा हूं। 'मैं कारण परमात्मा हूं' यह कहने पर अपनी वर्तमान स्वभाव की ओर ढलती हुई निर्मल दशा भी इसके साथ ही आजाती है क्योंकि कारण परमात्मा को प्रतीति में लेनेवाली तो वह पर्याय है।

कारण परमात्मा का अर्थ है एकरूप ध्रुव त्रिकाल वस्तु जो निर्मल पर्याय के प्रगट होने में कारण है वह कारण परमात्मा है और वही ज्ञायक भाव है। नियमसार शास्त्र भी कुंदकुंदाचार्यदेव के द्वारा बनाया गया है उसकी टीका में अलौकिक गूढ़ बातें हैं आचार्यों ने धर्म स्तंभों की तरह कार्य किया है। वे वीतराग शासन को स्थिर रखने में आधारभूत हैं। नियमसार की टीका में पद्मप्रभमल धारी आचार्यदेव ने महा गूढ़ रहस्य प्रगट किया है। अहा! कैसी अनुपम अध्यात्म की बाते हैं उसमें। कारण परमात्मा को स्पष्टतया बता दिया है। यहां छठी गाथा में 'ज्ञायक भाव' में भी वही ध्वनि है। कारण परमात्मा मोक्ष मार्गरूप नहीं है और मोक्ष भी नहीं है, वह तो ध्रुव स्वरूप है और उसी के बलपर मोक्षदशा प्रगट होती है। मोक्ष का कारण कोई विकल्प नहीं है। सम्यग्दर्शन सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप निर्विकार पर्याय भी व्यवहार से मोक्ष का कारण हैं क्योंकि केवल ज्ञानादि दशा अनंतगुनी शुद्ध है और सम्यग्दर्शनादि तो बारहवें गुणस्थान के अंतिम समय तक केवलज्ञान से अनंतवें भाग की अधूरी दशा है। बारहवें गुणस्थान के अंतिम समय में जो ज्ञान सुख वीर्य इत्यादि है उससे तेरहवें गुणस्थान के पहले समय में अनंतगुणा ज्ञान सुख वीर्य होता है, इसलिये सम्यग्दर्शनादि व्यवहार से मोक्ष के कारण हैं। मोक्ष का निश्चय कारण तो उपरोक्त ज्ञायक भाव—कारण परमात्मा है।

मोक्ष का कारण क्या है? पर द्रव्य की बात तो है ही नहीं, क्योंकि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ भी नहीं कर सकता यह जैन का प्रथम सिद्धांत मान्य करने के बाद ही दूसरी बात हो सकती है। देव गुरु शास्त्र पर द्रव्य हैं वह किसी के मोक्ष का कारण नहीं है शुभ विकल्प भी मोक्ष का कारण नहीं है, इतनाही नहीं किन्तु सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र वीर्य आनंद इत्यादि भी वास्तव में परिपूर्ण मोक्षदशा के कारण नहीं हैं क्योंकि बारहवें गुणस्थान तक अनंतवें भाग में अपूर्ण दशा है यह तो अभी शास्त्र की बात है आंतरिक अध्यात्म रहस्य तो अब आ रहा है। स्मरण रहे कि आत्मा क्या है इसे जाने बिना चाहे जितने क्रियाकांड करके शरीर को सुखालें तो भी धर्म नहीं होता वस्तु स्वरूप को समझे बिना जन्म मरण का अंत नहीं होता।

बारहवें गुणस्थान के अंतिम समय तक मति–श्रुत ज्ञान है, वह केवलज्ञान का अनंतवां भाग है उस अनंतवें भाग के अपूर्ण ज्ञान को अनंतगुणे पूर्ण ज्ञान का कारण कहना सो व्यवहार है। अपूर्ण ज्ञान में पूर्ण ज्ञान को प्रगट करने की शक्ति नहीं है परंतु जो अपूर्ण ज्ञान है वह पूर्ण कि जाति का है इसलिये उसे व्यवहार से कारण कहा है। अनंतवें भाग का मति श्रुतज्ञान निश्चयतः केवलज्ञान का कारण नहीं है, पूर्ण ज्ञान का कारण पूर्ण ही होना चाहिये। केवलज्ञान का निश्चय कारण तो मूल द्रव्य ही है। उस केवलज्ञान के कारणभूत द्रव्य को ही भगवान कुंदकुंदाचार्य देव ने नियमसार में कारण परमात्मा के रूप में और समयसार में ज्ञायक भाव के रूप में वर्णन किया है। एक समय में द्रव्य में कितनी शक्ति भरी होती है यह बताया गया है। एक एक गाथा में आचार्यदेव ने अद्भुत रहस्य भर दिया है। एक एक गाथा चौदह पूर्व के रहस्य को लिये हुये है।

सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्र रूप मोक्षमार्ग प्रगट हुआ है वह भी वास्तव में अनंत केवलज्ञान का कारण नहीं होता। अनंत केवलज्ञान का वास्तविक कारण तो एक समय में जो त्रिकाल परिपूर्ण द्रव्य है वही है इस परिपूर्ण द्रव्य स्वभाव का वर्णन भगवान कुंदकुंदाचार्य ने श्री समयसार जी में अचिंत्य और अलौकिक रीति से किया है मैं सातवें अथवा छठे गुणस्थान वाला नहीं हूं मैं तो ज्ञायक हूं यद्यपि सातवें छठे गुणस्थान में ही वर्तमान है किन्तु अखंड स्वभाव के बलपर उसका निषेध करते हुये कहते हैं कि मैं अप्रमत्त–प्रमत्त नहीं हूं, मैं तो ज्ञायक हूं।

दर्शनसार में श्री देवसेनाचार्य ने भगवान कुंदकुंदाचार्य के संबंध में कहा है कि—

जई पउमणंदिणाहो सीमंधर सामि दिव्वणाणेण।
ण विबोहई तो समणा कहं सुमागं पयाणंति॥

महाविदेह क्षेत्र के वर्तमान तीर्थंकर देव श्री सीमंधर स्वामी के पाससे प्राप्त दिव्यज्ञान के द्वारा श्री पद्मनंदि नाथ (श्री कुंदकुंदाचार्य देव) ने यदि बोध न दिया होता तो मुनिजन सच्चे मार्ग को कैसे जानते?

श्री देवसेनाचार्य स्वयं मुनि हैं, वे कहते हैं कि–श्री कुंदकुंदाचार्य ने साक्षात् भगवान के पास से दिव्यध्वनि का संदेश प्राप्त करके यदि उसका बोध भरतक्षेत्र को न दिया होता तो हमें यह सम्यक् बोध कहां से मिलता भगवान् कुंदकुंदाचार्य ने भरतक्षेत्र में श्रुत की प्रतिष्ठा की है यही स्थिति इस महान् परमागम समयसार की

है बाहर से उसका भाव नहीं निकल सकता किंतु यदि भीतर गहराई में उतर कर अंतरंग से समझे तो सच्चा माप निकल सकता है।

× × ×

आज श्री समयसारजी की प्रतिष्ठा का मंगल दिन है। श्री समयसारजी की गुजराती अनुवादक श्री हिम्मतभाई शाह (बी. एस सी.) ने समयसार की जो स्तुति बनाई है उस में बहुत ही उत्तम भाव व्यक्त किये हैं वह अर्थ सहित यहां दी जा रही है।

—: हरिगीत :—

संसारी जीवना भावमरणो टाळवा करुणा करी,
सरिता वहावी सुधा तणी प्रभुवीर तें संजीवनी;
शोषाती देखी सरितने करुणा भीना हृदये करी,
मुनि कुंद संजीवनी समयप्राभृत तणे भाजन भरी॥

हे नाथ! हे कुंदकुंदप्रभु! आपने इस समयप्राभृतमें अमृत की मूसलधार वर्षा की है महावीर भगवान से बहाई गई श्रुतामृत की नदी सूख रही थी वह आपने इस समयप्राभृतरूपी संजीवनी से जीवित रखी है।

स्तुति में प्रथम शब्द 'संसारी' है, क्योंकि जीव के अनादि से संसारदशा है। आत्मा की अवस्था में जो पुण्य-पाप का विकारभाव होता है वह भाव 'मैं हूं' ऐसा मानना सो संसार है। आत्मा का संसार परवस्तु में नहीं है किन्तु अपने विपरीत भाव में संसार है। पैसा स्त्री इत्यादि पर द्रव्य हैं, उसमें संसार नहीं है किंतु उन परद्रव्यों में सुख बुद्धि और उनके रखने का भाव ही संसार है, वह संसारभाव प्रत्येक जीव के अनादि से है। संसारी जीव अपने अज्ञान से क्षण-क्षण में भावमरण में दुःखी हो रहा है, कुंदकुंद भगवानने संसारी जीवों का भावमरण दूर करने के लिये करुणाकर संजीवनी सदृश समयसारकी रचना की है।

भाव मरण क्या है? आत्मा में क्षणिक विकार भाव होते हैं उन्हें अपना मानना और चैतन्य स्वरूप के आनंद को न मानना सो ही भाव मरण है। जीवों को शरीर के छूट जाने का दुःख नहीं है किंतु भाव मरण का ही दुःख है अपने आनंद को पर में मानते हुये आत्मा का स्वरूपमय जीवन नष्ट होजाता है, यही आत्मा का भाव मरण है. जो इस भाव मरण को दूर करता है वही सुखी है।

भाव मरण ही हिंसा है। समयसार में कहा है कि-

— वसंततिलका —

अज्ञानमेतदधिगम्य परात्परस्य
पश्यंति ये मरणजीवित दुःख सौख्यम्।
कर्माण्यहं कृतिरसेन चिकीर्षवस्ते
मिथ्यादृशो नियतमात्म हनो भवंति॥

(कलश १६९)

इस अज्ञान को पाकर जो पुरुष पर से अपना मरण जीवन, दुःख-सुख देखता है या मानता है और जो इस प्रकार अहंकार भाव से कर्मों के करने का इच्छुक है वह नियम से मिथ्यादृष्टि है—अपनी आत्मा का घात करने वाला है 'आत्महनो भवंति' अर्थात् जो यह मानते हैं कि मैं परको मारता हूं अथवा जिलाता हूं वह बहुत बडा हिंसक है, वह अपने आत्माका ही घात करता है यही भावमरण है।

जो पर के कर्तृत्व के मिथ्या अहंकार के भावसे भावमरण में दुःखी हो रहे हैं उनके लिये कहते हैं कि हे भाई! तू परका क्या कर सकता है, तू पर का कुछ भी नहीं कर सकता तू अपने ही भावको करता है जो यह मानता है कि मैं दूसरे का कर्ता हूं उसे आचार्य देव ने नियमसे आत्महिंसक मिथ्यादृष्टि कहा है मिथ्यात्व ही भावमरण है और यही दुःख है।

हे कुंदकुंद नाथ! आपने दया करके जगत के जीवों के भाव मरणों को दूर किया है। समयसार की प्रत्येक गाथा में अद्भूत करुणा का प्रवाह बहाया है जिसके अंतरंगमें यह बीजारोपण हो गया और जिसके अंतरंग में यह बात रुच गई उसने मानों अपने आत्मा में मोक्ष के बीज बोये हैं। 'मैं पर का कुछ भी नहीं कर सकता और पर मेरा कुछ भी नहीं कर सकता मैं समस्त पर द्रव्यों से भिन्न हू' इस प्रकार जिसने माना और विश्वास किया वह स्वतंत्र आत्म जीवन पूर्वक जीने वाला है और 'मैं पर का करता हू और पर मेरा करता है, इस प्रकार जो मानता है वह आत्मस्वरूप का घातक हिंसावादी भाव मरण में मर रहा है।

हे कुंदकुंद भगवान! आपने वह भाव मरण टालने के लिये जगत पर परम उपकार किया है आपने इस समयसार में अमृत की धारा बहायी है। महाविदेह की दिव्यध्वनि में से श्रुत की बड़ी बड़ी लहरें भरत क्षेत्र में प्रवाहित की है। संसार से थके हुये जगत् के प्यासे

जीवो यहां आकर इस ज्ञानामृत का पान करो और अपनी प्यास को बुझाकर मोक्ष में गमन करो...भय मत करो....आकुलित मत होओं, संसार एक ही समय का है जिसके यह बात जम गई मानों उसके मोक्ष दशा का मंडप रोप दिया। अब एक दो भव में ही उसे मोक्ष की प्राप्ति होने वाली है। उसकी मोक्षदशा नहीं बदल सकती एक दो भव में ही मोक्षदशा की निःसंदेह श्रद्धा अपने आप ही होजाती ऐसी बात है।

जब कोई युवक किसी कन्या के साथ विवाह करने को जाता है तब साथ में अनेक समाज प्रतिष्ठित लोगों को लेजाता है इसका कारण यह है कि कदाचित् कन्या पक्षवाला बदल जाय और पैसा मांगने लगे उस समय प्रतिष्ठा को धक्का न लगे, कन्या वापिस न हो सके साथ में आये हुये प्रतिष्ठित वरातियों को ऐसा लगता है कि हमारे होते हुये भी कन्या वापिस होगई तो हमारी नाक कटेगी। यदि कन्या को लग्न मंडप में आने में थोड़ा सा विलंब होजाता है तो उथल पुथल मच जाती है तब अग्रगण्य वराती कन्या पक्ष की मांग को संतुष्ट करके कन्या के आने के समय में थोड़ा सा भी अंतर नहीं पड़ने देते।

इसी प्रकार स्वरूप लक्ष्मीवंत श्री कुंदकुंद भगवान कहते हैं कि हमारी बात को मानकर जिसने अपने आंगन में मोक्ष परिणति के साथ विवाह करने का लग्न मंडप बनाया हैं उसकी मोक्ष दशा वापस नहीं हो सकती—अल्प काल में ही वह मुक्त हो जाता है हमारे साथ में आने पर भी मोक्ष दशा में विलंब हो यह नहीं हो सकता, विलंब होगा तो हम मोक्ष देंगे जगत् के जीवों को परम सत्य समझाने का विकल्प हमारे मन में उठा तब यह हो ही नहीं सकता कि भरतक्षेत्र में उसे समझने योग्य जीव न हों। हमारी वृत्ति खाली नहीं जा सकती, हमारे मन में वृत्ति उत्पन्न हुई यही बतलाती है कि भरतक्षेत्र में भव्य जीव तैयार हैं इसलिये तू हां कह, तेरी निर्मलदशा वापस नहीं जा सकती।

पुण्य-पाप का जो विकारभाव होवा है वह मेरा स्वरूप नहीं है, मैं ज्ञायक हूं इस प्रकार की प्रतीति ही आत्मा की दया है, यही सच्ची करुणा है। पहले अज्ञानभाव से आत्मा विकारमें दब जाता था अब ज्ञान होने पर आत्मा को विकारसे पृथक् प्रतीति में लिया अर्थात् स्वरूप को पृथक् रखा यही दयाधर्म है।

"सरिता वहावी सुधातणी प्रभु वीर तें संजीवनी"

यहांपर महावीर भगवान का नामोल्लेख हुआ है क्योंकि कुंदकुंदाचार्य के परंपरा गुरु तो महावीर भगवान ही हैं। महावीर प्रभु के लगभग ५०० वर्ष बाद कुंदकुंदाचार्य हुये हैं। उस समय जो कुछ अधूरा रह गया था उसे श्री कुंदकुंदाचार्य ने सीमंधर भगवान के पास जाकर पूर्ण किया है यह भावमरण को मिटाने के लिये संजीवनी औषधि है अपने आत्मा को स्वरूपमें सम्यक् प्रकार से जीवित रखे ऐसी श्रद्धाज्ञानरूपी जो औषधि है वह संजीवनी है उस संजीवनी—अमृत की जो सरिता महावीर प्रभुने प्रवाहित की थी वह उनके बाद काल क्रमसे कुछ सूखती चली जा रही थी उसे हे कुंदकुंद स्वामी! आपने समय प्राभृतरूपी संजीवनी के द्वारा पुनः भर दिया है। श्रद्धा ज्ञान रूपी संजीवनी का प्रवाह इस समयसार की प्रत्येक गाथा में विद्यमान है।

भगवान महावीर स्वामी के बाद जब मार्गभेद होगया और विभिन्न संप्रदाय प्रारंभ होगये तब सनातन वीतराग जैनमार्ग पर किसी प्रकार की आंच न आये इसलिये कुंदकुंद भगवान ने समयप्राभृत के द्वारा अखंड सरिता प्रवाहित की थी साक्षात् भगवान की दिव्यध्वनि का अमृत समयप्राभृतमें भर दिया है और सनातन मार्ग को जीवित रखा है। नदी के पानी को भी रखने के लिये कोई उपयुक्त पात्र चाहिये, उसी प्रकार भगवान की दिव्यध्वनि में से बरसते हुये अमृत को भरने के लिये यह समयप्राभृतरूपी पात्र है सनातन जैन धर्म का महाप्रवाह तो अनादिसे चला ही आरहा था, किन्तु जब क्षुद्रकाल आया और परम सत्य में विरोध उत्पन्न होने लगा—दो भेद पड़ गये तब भगवान कुंदकुंदाचार्य ने समयप्राभृत रूपी भाजन के द्वारा अमृत भर भर के सनातन मार्ग के प्रवाहको जयवंत रखा है।

—अनुष्टुप—

कुंदकुंद रच्यूं शास्त्र साथिया अमृते पुर्यां।
ग्रंथाधिराज तारामां भावो ब्रह्मांडना भर्यां॥

भगवान कुंदकुंदाचार्य ने ४१५ गाथाओं में समयप्राभृतकी रचना की है और अमृतचंद्राचार्य ने उस पर ४००० श्लोक प्रमाण टीका रची है, मानों समयप्राभृत के ऊपर कलश चढा दिया है। इस भरतक्षेत्र में समयप्राभृत की टीका के समान अन्य किसी भी ग्रंथ की टीका वर्तमान में विद्यमान नहीं है। भगवान महावीर

से ५०० वर्ष बाद कुंदकुंदाचार्य ने महान् परमागम श्री समयप्राभृत की रचना की और उस रचना से एक हजार वर्ष बाद महा टीकाकार श्री अमृतचंद्राचार्य हुये। जैसे मोतियों का साथिया भरके चौक पूरा जाता है उसी तरह प्रत्येक गाथा के रहस्य को इस टीकामें स्पष्ट किया है।

यह समयप्राभृत तो ग्रंथाधिराज है, भरतक्षेत्र का अजोड चक्षु है, इस समयसार की बराबरी का वर्तमान जगत में कोई शास्त्र नहीं है। अमृतचंद्राचार्य महाराज ने टीका के अंतमें (कलश २४५ में) कहा है कि यह एक अद्वितीय (बेजोड़) जगतनेत्र है, वह विज्ञानघन आनंदमय आत्मा को प्रत्यक्ष करता है।

— अनुष्टुप —

इदमेकं जगच्चक्षु रक्षयं याति पूर्णताम्।
विज्ञानघन मानंदमदमव्यक्षतां नयेत् ॥२४५॥

आनंदमय विज्ञानघन को (शुद्ध परमात्मा को समयसार को) प्रत्यक्ष करता हुआ यह एक अद्वितीय अक्षय जगत् चक्षु (समय प्राभृत) पूर्णता को प्राप्त होता है।

यह समय प्राभृत ग्रंथ वचनरूप में और ज्ञानरूप में दोनों प्रकार से जगत् को अक्षय (अर्थात् जिसका विनाश न होता हो ऐसे) अद्वितीय नेत्र समान है, क्यों कि जैसे नेत्र घटपटादिक को प्रत्यक्ष देखता है उसी प्रकार समय प्राभृत आत्मा के शुद्ध स्वरूप को प्रत्यक्ष अनुभव गोचर दिखाता है।

यह अक्षय जगत् चक्षु है उसका कभी क्षय नहीं होता इस महान् ग्रंथाधिराज में अद्वितीय भाव भरे हैं चौदह ब्रह्मांड के भाव इसमें भरे हुये हैं।

अमृतचंद्राचार्य ने उस टीका को नाटक के रूपमें वर्णन किया है। बनारसीदासजीने भी कलश के आधार पर जिस समयसार की रचना की है उसका नाम भी 'समयसार नाटक' रखा है। नाटक का अर्थ क्या है? जैसे किसी राजा का जीवन ७२ वर्षका हो और यदि उसका जीवन नाटक के रूपमें बताना हो तो उस नाटक के बताने में ७२ वर्ष नहीं लगेंगे किन्तु ३-४ घंटे में ही वह नाटक पूरा हो जाता है और अपने अल्प समय में ही राजा के ७२ वर्ष का सारा जीवन बता दिया जाता है, उसी प्रकार का यह समयप्राभृत नाटक रूपमें है इसकी ४१५ गाथाओं में आचार्यदेवने परिपूर्ण आत्मस्वरूप को बता दिया है एक एक पदमें अनादि अनंत आत्मा दर्शा दी गई हैं। अनादि अनंत आत्मस्वरूप को समझने में अनंत काल नहीं लगता। इस समयप्राभृतरूपी नाटक के द्वारा अल्पकाल में ही जगत् के जीवों को आत्मा का सारा स्वरूप बता देना है। ज्ञानी का अंतरंग भिन्न है। संक्षेपमें अतिगूढ़ रहस्य भर दिया है। प्रत्येक पदमें परिपूर्णता बताई है वह जगत की ऊपरी दृष्टिमें दिखाई नहीं दे सकता।

इस समयप्राभृत को एकबार समझ लेने पर श्रोता को कुछ भी अज्ञात नहीं रहता। ('श्रोता' शब्द गुरुगम सूचक है पहले अपने आप सब भाव नहीं समझे जा सकते, इसलिये यथार्थ ज्ञानी पुरुषों के द्वारा सुनकर समझने में कुछ भी अज्ञात नहीं रहता इस हेतुसे श्रोता शब्द रखा गया है) अनादि अनंत आत्मस्वरूप की पहिचान, मोक्षमार्गका स्वरूप, बंधमोक्षका स्वरूप, उपादान-निमित्त का स्वरूप, निश्चय व्यवहार का स्वरूप, कर्ता-कर्म का स्वरूप यह सब बिना कुछ बाकी रखे अल्प काल में ही बता दिया है। इस पंचमकालवर्ती श्रोता को सारा आत्मस्वरूप अल्प कालमें बताना है। पात्र होकर समझे तो खबर पड़े इसलिये कहा है कि-" ग्रंथाधिराज तारामां भावो ब्रह्मांडना भर्या" अर्थात् हे ग्रंथाधिराज! तुझमें ब्रह्मांड के समस्त भाव भरे हैं।

—शिखरणी—

"अहो! वाणी तारी प्रशमरस भावे नितरती,
मुमुक्षुने पाती अमृतरस अंजलि भरी भरी,
अनादिनी मूर्छा निपतणि त्वराथी उतरती,
विभावेथी थंभी स्वरूप भणी दोड़े परिणति॥"

हे नाथ! हे समयसार भगवान! तुम्हारी वाणी कैसी सुंदर है? आत्मा का उपशम रस-जो पुण्य पाप रहित निराकुल प्रशम आनंद रस है उसके भाव से तुम्हारी वाणी परिपूर्ण है। तुम्हारी वाणी में आत्मा का शांत स्वभाव रस टपकता है। जैसे घी से भरे हुये वर्तन में गरम पूरनपुड़ी डुबोकर निकाली जाय तो वह पूरनपुड़ी भीतर से तो घी से परिपूर्ण हो ही जाती है किन्तु बाहर भी उससे घी चूता रहता है उसी प्रकार तुम्हारी वाणी भीतर तो उपशम रस से परिपूर्ण है ही अर्थात् समझता है उसे तो अंतरंग में आत्मा का शांत अमृत अनुभव होता ही है किन्तु बाहर भी उनकी दशा अद्भुत हो जाती है।

"मुमुक्षुने पाती अमृतरस अंजलि भरी भरी"

यह वाणी मुमुक्षु जीवों को अमृत रस पिलाने वाली है जिसे संसार का आताप—भय लगा हो, प्यास लगी हो, आत्मा की चाह–तृषा जागृत हुई हो उन जीवों को यह समयसार की वाणी अमृत रस पिलाती है वह जिसे रुचेगी उसकी जन्म मरण की तृषा दूर होजायगी। भगवान कुंदकुंदाचार्य और अमृतचंद्राचार्य समयप्राभृतरूपी अंजलि भर भरकर जगत् के भव्यात्माओं से कहते हैं कि–लो रे लो! जन्म मरण की प्यास को दूर करने के लिये अमृतपान करो, ऐसा अवसर बारंबार नहीं मिलेगा।

इस अमृत का पान करनेसे क्या होता है? इसके उत्तरमें कहते हैं कि "अनादिनी मूर्छा विषतणी त्वराथी उतरती" हे नाथ समयप्राभृत! तेरी पवित्र वाणीमें ऐसे मंत्र भरे हैं कि अनादि कालीन विषमूर्छा एकदम उत्तर जाती है। तेरी वाणी के नाद से जो जागृत हो जाते हैं उन्हें शीघ्र ही मुक्ति मिल जाती है। यह समयसार जिसे रुच गया और मैं आत्मा हूं, मेरे आनंद के लिये मुझे परवस्तु की आवश्यक्ता नहीं है, मैं स्वयंही ज्ञानानंद से परिपूर्ण स्वाधीन तत्त्व हूं, इस प्रकारकी अंतः प्रतीति करके जो जागृत हो जाता है उसे एक दो भव में ही मोक्ष की प्राप्ति होजाती है यह तो भगवान कुंदकुंद की हुंडी हैं। जैसे साहुकार की हुंडी कभीभी वापिस नहीं होती उसी प्रकार यहां साहूकार [स्वरुप की सच्ची लक्ष्मी वाले] श्री कुंदकुंद भगवान की मुक्ति की हुंडी समय प्राभृत में हैं वह कभीभी वापिस नहीं हो सकती। जिसने इस समयप्राभृत का अमृत पान किया हैं उसकी विषमूर्छा [अज्ञान] उसी क्षण टल जाती हैं। मूर्छा उतरने पर क्या होता हैं सो कहते हैं—

"विभावे थी थंभी स्वरूपभणी दोड़े परिणती"

अज्ञान भावके रूपी विष मूर्छा के उतरने पर पुण्य पापरूपी विभाव भावोंसे रुक कर परिणति निज स्वरूपकी और दौड़ती है। यहां पर 'दौड़ती हैं। शब्द का प्रयोग करके पुरुषार्थ का बल बताया हैं। समयसार को [शुद्ध आत्म स्वरूप को] सुनने पर और उसे पहिचानने पर अपनी परिणति–अवस्था चैतन्य ज्योति आत्म स्वरूप की ओर जलदी जलदी परिणमित होती हैं, देर करने वाले की कोई बात ही नहीं हैं।

—शार्दूलविक्रिडित—

'तुं छे निश्चय ग्रंथ भंग सघळा व्यवहारना भेदवा,
तुं प्रज्ञाछीनी ज्ञान ने उदयनी संधि सहु छेदवा,
साथी साधकनो, तुं भानु जगनो, संदेश महावीरनो,
विसामो भव क्लांतना हृदयनो, तुं पंथ मुक्ति तणो ॥

हे ग्रंथाधिराज! तू निश्चय का ग्रंथ हैं, परम शुद्ध आत्म स्वरूप को दिखानेवाला हैं, और व्यवहार के जो अनेक भेद हैं उन्हें खंडित करके एकरूप अभेदस्वभाव को समझानेवाला हैं। ११ वीं गाथा में आचार्यदेव कहते हैं कि:–

ववहारोऽभूमत्थो भूयत्थो देसिदो दु सुद्धणओ।
भूयत्थमस्सिदो खलु सम्माइट्ठी हवइ जीवो॥

व्यवहारनय अभूतार्थ हैं और शुद्धनय भूतार्थ हैं इस प्रकार ऋषिवरोंने बताया हैं, जो जीव भूतार्थ का आश्रयलेता है वह निश्चयसे सम्यग्दृष्टि हैं।

व्यवहार अनेक भेद रूप है अभेदों को यह निश्चयग्रंथ भेदता है। इस कथन में व्यवहार का स्वरूप भी सिद्ध होता ही है। व्यवहार है इसलिये तो उसे भेदता है न? यदि व्यहार न हो तो किसे भेदे। व्यवहार है तो अवश्य किन्तु वह भेदरूप है इसलिये उसके लक्ष्य से अखंड स्वभाव की प्राप्ति नहीं होती, उस भेदरूप व्यवहार को भेदते भेदते अभेदरूप को प्राप्त होता है। यह परमागम समयप्राभृत भेद को गौण करके अभेद को समझाता है, इसलिये निश्चयग्रंथ है। ज्ञानी के भी साधक दशा में शुभ भाव होता है किन्तु उसमें वे धर्म नहीं मानते। ज्ञानी होने पर उसी समय सर्वथा शुभ भाव दूर हो ही जाते हों सो बात नहीं है। धर्म का अवसर आने पर साधर्मियों के प्रति प्रेम उछल उठता है, ऐसे ज्ञानी होते हैं।

पद्मनंदि आचार्य दान अधिकार में लोभी से कहते हैं कि–कौवे को यदि जली हुई रोटी मिल जाय तो वह अकेला नहीं खाता किन्तु कांव कांव करके अन्य जाति बंधुओं को इकठा करके खाता है। जली हुई रोटी को कौआ भी अकेला नहीं खाता। तूने पहले पुण्य किया और तेरे निर्विकार गुण जल गये (पुण्य विकार है उसके द्वारा आत्मा के निर्विकार भाव को हानि पहुंचती है) गुण की हानि हुई और उसके फल में पैसे का संयोग मिला अब यदि तू उसे अकेला खायगा तो कौवे से भी गया बीता कहलायगा। जो पुण्य हुआ है वह दोष से हुआ है गुण से नहीं, इस गुण की हानि में जो पुण्य हुए, उसके फल से पैसा मिला। अब यदि राग–तृष्णा को कम करके धर्म प्रभावना इत्यादि में उसे न लगाये

और अकेला खाया करे तो तू कौवे से भी गया बीता है अर्थात् तुझे अत्यंत लोभ है। यहांपर लोभ के कुए में गिरते हुए जीवों को बचाने के लिये कहा है। ज्ञानी के साधर्मी वात्सल्य धर्म प्रभावना इत्यादि के शुभभाव होते हैं किन्तु वे शुभभाव में धर्म नहीं मानते। यह ग्रंथ आत्मा के अभेद स्वरूप को बताने वाला निश्चयग्रंथ हैं और फिर—

"तुं प्रज्ञा छीणी ज्ञानने उदयनी संधि सहु छेदवा"

हे समयसार! तेरी वाणी स्वभाव और परभाव को भिन्न भिन्न बतलाती है, आत्मा ज्ञान स्वरूप है और रागादि भाव कर्म के निमित्त से होते हैं इसलिये वह उदय भाव हैं इन दोनों के बीच भेदज्ञानरूपी छैनी मारकर दोनों के स्वरूप को भिन्न बतलाता है। मेरे ज्ञानानंद स्वरूप को बताने वाला तू है, तेरा बहुत बड़ा उपकार है।

"साथी साधकनो तू भानु जगनो संदेश महावीरनो"

तू साधक का साथी है, जगत् का सूर्य है, अज्ञानांधकारको दूर करने के लिये तू केवलज्ञान दीपक है, तू ही महावीर का संदेश है, तुझमें दिव्यध्वनि का रहस्य भरा हुआ है

"विसामो भव क्लांतना हृदयनो तू पंथ मुक्ति तणो"

जो चौरासी के अवतार से भवभ्रमण से थक गया हो, जन्म मरण के दुःखों से छूटकर जिसे स्वरूप की शांति प्राप्त करना हो उसे हे समयसार तुम विश्रांति स्वरूप हो। संसार से थके हुये जीव तुम्हारे आश्रय से विश्राम करते हैं और तुम्हीं मुक्ति का मार्ग हो।

—वसंततिलका—

सुण्ये तने रस निबंध शिथिल थाय,
जाण्ये तने हृदय ज्ञानी तणां जणाय,
तुं रुचता जगतनी रुचि आळसे सौ,
तुं रीझता सकल ज्ञायकदेव रीझे॥

इस समयसार की-शुद्धात्म स्वरूप की बात सुनने से कर्मों का रस बंधन ढीला हो जाता है-दूर हो जाता है। इस ग्रंथ में बताये गये समयसार रूप शुद्धात्मा को जानते ही ज्ञानियों का अंतरंग-हृदय मालूम हो जाता है। शुद्धात्मा की रुचि होते ही परिपूर्ण आत्मस्वरूप के अतिरिक्त जगतमें किसी की रुचि नहीं रहती और तेरे रीझने पर-प्रसन्न होने पर केवलज्ञान स्वरूप भगवान् आत्मा रीझ जाता है अर्थात् केवलज्ञान प्रगट हो जाता है।

— अनुष्टुप —

बनावुं पत्र कुंदननां रत्नोना अक्षरो लखी।
तथापि कुंद सूत्रोनां अंकाये मूल्य ना कदी॥

अहा समयसार! तुम्हारे माहात्म्य को कैसे कहा जाय? इस चांदी का तो क्या मूल्य किन्तु यदि सोने के पत्र बनाकर उनमें रत्नों के अक्षर लिखूं तो भी तुम्हारा मूल्य नहीं आंका जा सकता। बाहर से किसी भी प्रकार तुम्हारी महिमा नहीं आंकी जा सकती। अंतरंग स्वरूप में शुद्धात्मारूपी समयसार का ज्ञान होने पर उसकी जो महिमा जागती है तथा जो परिपूर्णानंदी स्वरूप की श्रद्धा ज्ञान और आनंद में एक दो भव में ही संसार का अंत होकर पूर्णानंदी दशा प्रगट होती है ऐसे भगवान समयसार की क्या महिमा कही जाय। अर्थात् आत्मा के स्वरूप की पहिचान हो तभी उसकी यथार्थ महिमा समझी जा सकती है और तभी इस समयसार की कीमत जानी जा सकती है।

इस प्रकार इस समयसार परमागम की स्तुति पूर्ण हुई।

पाप

परद्रव्य के प्रति राग होने पर भी जो जीव मैं सम्यग्दृष्टि हूं, मुझे बंध नहीं होता ऐसा मानता है उसके सम्यक्त्व कैसा? वह व्रतसमिति इत्यादि का पालन करे तो भी स्वपर का ज्ञान न होने से वह पापी ही है। मुझे बंध नहीं होता यों मानकर जो स्वच्छंद प्रवृत्ति करता है उसके भला सम्यग्दर्शन कैसा?

यदि यहां कोई पूछे कि "व्रत-समिति तो शुभकार्य है, तो फिर व्रत-समिति को पालने पर भी उस जीवको पापी क्यों कहा?

समाधान— सिद्धांतमें पाप मिथ्यात्व को ही कहा है। जहां तक मिथ्यात्व रहता है वहां तक शुभ-अशुभ सर्व क्रिया को अध्यात्म में परमार्थ से पाप ही कहा जाता है। फिर व्यवहारनयकी प्रधानता में व्यवहारी जीवों को अशुभ से छुड़ाकर शुभमें लगाने के लिये शुभ क्रिया को कथंचित् पुण्य भी कहा जाता है। ऐसा कहनेसे स्याद्वाद मत में कोई विरोध नहीं है।

(समयसार गुजराती पान २५६.)

-मांगलिक प्रवचन-

(फाल्गुन शुक्ला १ ता. २१-२-४७ को भगवान श्री कुंदकुंद प्रवचन मंडप के उद्घाटन के समय पूज्य श्री कानजी महाराज द्वारा दिया गया व्याख्यान)

आज भगवान श्री कुंदकुंद प्रवचन मंडप के उद्घाटन का मंगल दिन है। मंगल का अर्थ है जो पवित्रता को प्राप्त करादे। यह आत्मा स्वयं ज्ञान और आनंद स्वरूप है, वह त्रिकाल मंगल स्वरूप है। आत्मा की रुचि और अनुभव से पर्यायमें आनंद और पवित्रता आती है, यही मांगलिक है।

आत्मा के अतिरिक्त बाहर के किसी साधन से आनंद प्राप्त हो सकता है यह कहना सो उपचार कथन है, आत्मा तो मन, वाणी और देह से परे ज्ञानदर्शन आनंदकी मूर्ति है; शरीरादि बाह्य पदार्थोंकी क्रिया जड़ है। आत्मा अज्ञान भाव से भी उसका कर्ता कदापि नहीं है। शरीर इत्यादि सर्व पदार्थ सत्तावान् हैं। आत्मा की सत्ता उससे भिन्न है। कोई आत्मा पर द्रव्यों के साथ मिलावट करने के लिये समर्थ नहीं है।

आत्मा की पर्याय में जो दयादि तथा हिंसादि के शुभाशुभ भाव होते हैं वे विकार हैं। अज्ञानी जीव अपने स्वभाव को भूल कर उन क्षणिक विकारी भावोंका कर्ता बनता है और उन विकारी भावों को आत्मा का कर्म (कर्तव्य) मानता है, किन्तु आत्मा की पर्याय में जो विकार होता है उसके आश्रय से कभी भी सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र प्रगट नहीं होते।

धर्म आत्मा का स्वभाव है। यदि जीव स्वयं पात्र होकर सत्समागम से उस स्वभाव को समझे तो उसके धर्म प्रगट हो, अन्य कोई तीर्थंकर भी समझाने के लिये समर्थ नहीं है। प्रत्येक पदार्थ सत् है, आत्मा भी अपने द्रव्य-गुण-पर्याय से सत् है। 'मैं सत् हूं, मेरा ज्ञान आनंद इत्यादि मुझमें सत् है, परद्रव्यों अपनेमें सत् है, परद्रव्य में मेरा कोई अधिकार नहीं, मेरी सत्ता पर से भिन्न है, पर्याय में जो पुण्य-पाप होता है वह विकार है, यह भी एक समय मात्र के लिये सत् है और मेरा त्रैकालिक सत् स्वभाव पुण्य पाप से रहित है'। इसप्रकार अपने शुद्ध स्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान और रमणता ही अपूर्व आत्मधर्म है और वह स्वयमेव मंगल है।

भगवान श्री कुंदकुंदाचार्यदेव के अंतरग में अनंत सर्वज्ञ तीर्थंकरों का आशय भरा हुआ है। अनंत तीर्थंकरों और केवली संतोने जो अनुभव करके कहा है उसीप्रकार की बात अपने अंतरंग अनुभव में लाकर आचार्यदेव ने कही है। वे मुनिदशा में प्रवर्तमान थे। मात्र शरीर की नग्नदशा ही मुनित्व नहीं है किंतु आत्मस्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान पूर्वक उस स्वभाव में लीनतारूप स्थिरपर्याय के होने पर तीनों कषायों के अभावपूर्वक जो अंतरंग अनुभवदशा प्रगट होती है वह आत्म पर्याय ही मुनिदशा है। क्षण-क्षणमें अंतरंग आत्मानुभव की लीनता और विकल्प रहित होकर जो भावलिंगी मुनिदशा होती है उसमें श्रीकुंदकुंदभगवान रम रहे थे-झूल रहे थे।

आत्मा ज्ञानस्वरूप है, उसमें परिपूर्ण ज्ञान सामर्थ्य है उसकी श्रद्धा और एकाग्रता पूर्वक वह पूर्ण सामर्थ्य जिसकी पर्याय में प्रगट हुई हो उन्हें सर्वज्ञ कहा जाता है। वर्तमानमें महा विदेहक्षेत्रमें श्रीसीमंधरभगवान इत्यादि सर्वज्ञदेव बिराजमान हैं। श्रीसीमंधरभगवान के पास कुंदकुंदाचार्य देव गये थे और वहां आठ दिन रहे थे, इसमें शंका के लिये कहीं स्थान नहीं है। श्रीकुंदकुंदभगवान को अंतरंग अनुभव तो था ही और वे श्री सीमंधरभगवान के पास से विशेष समाधान प्राप्त करके भरतक्षेत्र में आये थे। तत्पश्चात् समयप्राभृत, प्रवचनसार, नियमसार, पंचास्तिकाय, अष्टपाहुड इत्यादि महाशास्त्रों की रचना शासन के सौभाग्य से कुंदकुंद प्रभु के विकल्प के निमित्त से और पुद्गल परावर्तन के स्वतंत्र परिणमनसे होगई थी। भगवानकुंदकुंद की दशा केवलज्ञान की अत्यंत निकटवर्ती थी। ऐसे श्री कुंदकुंद भगवान् का अनंतानंत उपकार प्रवर्तमान है, उनके अपार उपकारों की जगतमें विज्ञप्ति हो इसलिये इस प्रवचन मंडप के साथ श्री कुंदकुंद भगवान का नाम जोड़कर इस का नाम भगवान श्री कुन्दकुन्द प्रवचन मंडप रखा है। उनने इस भरतक्षेत्र में श्रुत की अपूर्व प्रतिष्ठा की है।

आत्मा ज्ञानानंद मुर्ति है, वह तीन काल और तीन लोक में देहादि जड़ पदार्थों का कर्ता नहीं है। जड़ पदार्थों का अस्तित्व स्वतंत्र है। जो अपने को जड़ का कर्ता मानता है और जड़ के कार्यों का अहंकार करता

है अर्थात् जड़ के कार्यों से अपने हानि लाभ मानता है वह मिथ्यादृष्टि है, आत्मा के चैतन्य स्वभाव की हत्या करनेवाला है।

कर्म भी जड़ पदार्थ हैं, वे आत्मा का कुछ भी नहीं कर सकते, आत्मा अपनी पर्याय में जैसा पुरुषार्थ करता है वैसा कार्य होता है। कर्म जैसा करते हैं वैसा होता है यह मिथ्यादृष्टि की मान्यता है। आत्मा कभी भी परद्रव्यों के आधीन नहीं है, स्वयं अपने ही पुरुषार्थ के दोष से रुका रहता है। अज्ञानी वस्तु की स्वाधीनता को नहीं जानते इसलिये वे अनंत काल से अपने पुरुषार्थ का दोष न देखकर पर पदार्थ का दोष मानते हैं। यदि अपनी पर्याय के दोष को जानले तो द्रव्य स्वभाव के बल से उसे दूर करने का प्रयत्न करे; किन्तु यदि कर्मों का ही बल माने और यह माने कि यदि कर्म मंद हों तो आत्मामें धर्म करने की पात्रता प्रगट हो वह कदापि अपने स्वाधीन पुरुषार्थ को प्राप्त नहीं कर सकेगा। आत्मा स्वयं अपने पुरुषार्थ से ही गुण या दोष स्वयं किया करता है। आत्मा को पुरुषार्थ करने से कर्म इत्यादि कोई भी पर पदार्थ नहीं रोकते और आत्मा अपने में चाहे जैसा (अनुकूल-प्रतिकूल) पुरुषार्थ करे किन्तु वह पर पदार्थों में कुछ भी करने के लिये समर्थ नहीं है। जड़ पदार्थ को जिस समय जो अवस्था होनी होती है, उस समय वह अवस्था स्वयं होती ही रहती है, उस समय अनुकूलरूप में उपस्थित रहने वाले पदार्थ को निमित्त कहा जाता है; किंतु वह जड़ के कार्य में किंचित्मात्र भी कुछ नहीं करता। यहां तो धर्म की बात है। प्रत्येक पदार्थ की स्वतंत्रता है यह सर्व प्रथम समझना चाहिये। जड़ की अवस्था के साथ आत्मा के धर्म का संबंध नहीं है, आत्मा के धर्म का संबंध उसकी अपनी पर्याय के साथ है। आत्मा के स्वभाव में पुण्य-पाप के विकारी भाव नहीं हैं, विकारीभाव पुरुषार्थ की विपरीतता से स्वयं पर्याय में नवीन प्रगट करता है, उसमें कर्मोदय का कोई भी कार्य नहीं है। कर्मों का उदय जीव को रागद्वेष कराता है यह मानना सो मिथ्यात्व है। कर्म विकार नहीं कराते, पुरुषार्थ की कमजोरी से पर्याय में विकार होता है, उससे लाभ नहीं है, परमार्थ से तो मैं पुण्य पाप का भी ज्ञाता ही हूं, इसप्रकार आत्मस्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान करके चैतन्य स्वभाव का अनुभव करना सो धर्म है। अनंतकाल से स्वतंत्र चैतन्य स्वभाव की रुचि और प्रतीति नहीं की। वह रुचि और प्रतीति करके आत्मा में सम्यग्दर्शन प्रगट करना सो अपूर्व मांगलिक है और यही प्रवचनामृत का मांगलिक है।

भगवान श्री कुंदकुंदाचार्यदेव भावप्राभृत की ८३ वीं गाथामें कहते हैं कि "जिनेन्द्रदेव ने जिनशासन में ऐसा कहा है कि पूजादिक से और व्रत से पुण्य होता है तथा मोह और क्षोभ रहित आत्मा का जो परिणाम है सो धर्म है" दया-व्रत-पूजादि का भाव जैनधर्म नहीं है किन्तु राग है-शुभबंध है। जैनधर्म तो वीतरागतारूप है, राग जैनधर्म नहीं है। रागरहित स्वभाव की श्रद्धा, उसका ज्ञान और उसमें ही रागरहित जो स्थिरता है वही जैन-दर्शन अर्थात् आत्मदर्शन है, यही मोक्षमार्ग है और यही धर्म है। इसमें किसी का पक्ष नहीं है, यह कोई वेष नहीं है यह जड़ की क्रिया नहीं और रागादिक के शुभ-अशुभभाव भी नहीं है, यह तो मोह और क्षोभ रहित आत्मा का ही शुद्ध परिणाम है।

पर जीवों को यह आत्मा कभी मार या बचा ही नहीं सकता। क्यों कि प्रस्तुत जीव और शरीरादिक वे सारे पदार्थ स्वयं अस्तिरूप हैं और वे स्वयं उत्पादव्यय ध्रुव स्वभाव वाले हैं, वे अपने अपने गुण-पर्यायों से युक्त हैं। उनका उत्पाद व्यय कोई दूसरा नहीं कर सकता। जीव तो मात्र अपनी पर्याय में शुभ या अशुभ करता है और अज्ञानी उस भाव का कर्ता होता है, ज्ञानी उसका ज्ञाता रहता है किंतु उसे कर्तव्य नहीं मानता। सम्यग्दृष्टि के भी अशुभ भाव से बचने के लिये शुभभाव होते हैं किंतु उस भाव को वे राग समझते हैं और उससे कल्याण नहीं मानते।

प्रश्न—आप ऐसा कहते हैं कि आत्मा शुभभाव करता है किंतु परका कुछ कर नहीं सकता परंतु ऐसा समझने के बाद भी व्यवहार में तो पर के काम करने पड़ते हैं न?

उत्तर—आत्मा का ऐसा स्वभाव है कि वह पर का कुछ कर ही नहीं सकता फिर 'करना पडता है, यह प्रश्न ही नहीं उठता। 'खरगोश के सींग' ही नहीं होते तब फिर उनके काटने का प्रश्न कहां से हो सकता है? वस्तु का निश्चय व्यवहार वस्तु में अपने में ही होता है, कहीं वस्तु से बाहर नहीं होता, इसलिये यह मान्यता भी मिथ्यादृष्टि की है कि व्यवहार में आत्मा पर का कुछ कर सकता है। व्यवहार से आत्मा शुभभाव

करता है किन्तु आत्माने शुभ किया इसलिये बाहर की क्रिया होती है यह बात नहीं है। पूजा व्रतादि का भाव भी परमार्थ से मैं नही ऐसी प्रतीति के साथ होता है, उस शुभ भावको व्यवहार कहते हैं और यह व्यवहार भी करने योग्य तो है ही नहीं। बाह्य क्रिया कदापि कर ही नहीं सकता इस लिये 'वह करनी पड़ती है अथवा नहीं करनी पड़ती' इस प्रश्न को अवकाश ही नहीं हैं।

अज्ञानी मानता है कि व्याप्य व्यापकरूप में (एकमेक हो कर) आत्मा परका भले ही कुछ न कर सके, किंतु पर के काम में निमित्त होता ही है। यों मानने वाला भी निमित्ताधीन दृष्टि होनेसे मिथ्यात्वी है। निमित्त उपादान के नामपर लोगोंमें बहुत गड़बड़ घुटाला चल रहा है। जबजब जिस वस्तुकी क्रिया होती है तब वह उसकी स्वतंत्र पर्याय से ही होती है और तब निमित्त रूप अनुकूल पदार्थ होता है किंतु एकबार तो ऐसी स्वतंत्र दृष्टि करनी चाहिये कि मेरा त्रैकालिक स्वभाव कभी किसी के लिये निमित्त भी नहीं है। इस प्रकार निरपेक्ष दृष्टि के बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता।

समयसारकी आत्मख्याति टीकामें श्री अमृतचंदाचार्य देवने कहा है कि—

आत्माज्ञानं स्वयंज्ञानं ज्ञानादन्यतकरोति किम्
परभावस्य कर्तात्मा मोहोऽयं व्यवहारिणाम् ॥

आत्मा ज्ञान है, स्वयं ज्ञान है, वह ज्ञान के अतिरिक दूसरा क्या करता है, यह मानना कि आत्मा परभाव का कर्ता है सो अज्ञानी-व्यवहारीजनों का मोह है। व्यवहारी अज्ञानी जीव अपने को पर पदार्थ का कर्ता मानते हैं। अज्ञान भावसे भी आत्मा विकार करता है किंतु परमें तो कुछ भी नहीं कर सकता।

प्रश्न—आप व्यवहारको हेय कहते हैं तब क्या सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र इन तीनों के भिन्न कथनरूप जो व्यवहार है वह भी हेय है?

उत्तर—सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र को भेदरूप जानना सो व्यवहार है, व्यवहारको जानना मिथ्यात्व नहीं है, क्योंकि वस्तु के स्वभाव में ही कथंचित् गुण भेद है। किंतु उस भेदको जाननेपर छद्मस्थ के विकल्प उठता है, उस भेदके विकल्प का आश्रय लेना सो व्यवहार है। गुणभेदरूप व्यवहार तो वस्तु में ही है। पर का करने की शक्ति किसी वस्तु में नहीं है। पुण्यपाप के भाव को जानना सो व्यवहारनय है। किंतु उस पुण्यपाप अथवा व्यवहार के आश्रयसे सम्यग्दर्शन नहीं होता। सम्यग्दर्शन ऐसी वस्तु है कि वह वाणी-विकल्प से नहीं पकड़ी जा सकती। सच्चे देव शास्त्र गुरु को माननेसे भी वास्तविक सम्यग्दर्शन नहीं होता, *क्योंकि वह भी परवस्तु है। असंगी चैतन्य स्वभाव* की प्रतीति के बिना सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता।

जड़की अवस्था जड़ से स्वतंत्र जैसी होनी हो वैसी ही होती है, इस प्रकार की मान्यता नियतिवाद नहीं किंतु सम्यक्श्रद्धा का कारण है क्योंकि वस्तुस्वभाव ही ऐसा है। जैसे जड़की अवस्था स्वतंत्र क्रमबद्ध है उसी प्रकार चैतन्य की अवस्था भी क्रमबद्ध स्वतः होती है। आत्मामें जिस समय जो पर्याय होनी होती है वही क्रमबद्ध होगी, इस श्रद्धामें अनंत पुरुषार्थ है। जिसने एक समय की पर्याय को स्वीकार किया उसे केवलज्ञान की और आत्माकी प्रतीति होगई! जड़की अवस्था उसके क्रमबद्ध नियमानुसार होती है, ऐसी श्रद्धा होनेपर जड़का ज्ञाता होकर उस ओरसे उदासीन हो जाता है। अब अपनेमें जो क्रमबद्ध अवस्था होती है उसका आधार आत्म द्रव्य है— इस प्रकार द्रव्य दृष्टि हुई, अर्थात् पर्याय दृष्टि और राग की दृष्टि दूर होगई। यों वस्तु स्वभाव की श्रद्धाज्ञान हुये बिना क्रमबद्ध पर्याय की श्रद्धा नहीं होती। क्रमबद्ध पर्याय कहो या स्वतंत्र वस्तु पर्याय कहो उसकी प्रतीति में ही सम्यग्दर्शन का अपूर्व पुरुषार्थ है।

जहां समस्त द्रव्यो की अवस्था क्रमबद्ध अपने आप होती है वहां यहबात ही कहां स्थिर रह पाती है कि 'निमित्त हो तो हो'? पहले स्वतंत्र स्वभाव का ज्ञान करे और प्रत्येक पर्याय को भी स्वतंत्र स्वीकार करे, उसके बाद ही निमित्त का ज्ञान सच्चा होता है। जब तक स्वतंत्र द्रव्यगुण पर्याय को नहीं समझता तबतक जीवको निमित्त का ज्ञान भी यथार्थ नहीं होता।

जो निमित्त है सो तो सम्यग्ज्ञान का विषय है सम्यग्ज्ञान स्व और पर दोनों को जानता है। प्रथम निरपेक्ष स्वभाव को दृष्टिमें स्वीकार किये बिना ज्ञान सम्यक् नहीं होता और ज्ञान जबतक सच्चा नहीं होता तब तक स्वपर को यथार्थ रीत्या नहीं जानता। अन्य वस्तु है किन्तु उससे इस जीव में कोई भी विकृति नहीं होती, वह अपने पुरुषार्थ से ही होती है।

धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य लोक में सर्वत्र है, जब पदार्थ चलता है तब उसमें धर्मद्रव्य निमित्त कहलाता है

और स्थिर रहता है तब अधर्मद्रव्य निमित्त कहलाता है। ज्ञानीजन वस्तु की स्वाधीन शक्ति को देखते हैं कि जिस पदार्थ में वैसी योग्यता है वह अपनी शक्ति से चलता है या स्थिर रहता है। अज्ञानी पराधीन दृष्टि से देखता है कि निमित्त है इसलिये ऐसा होता है और निमित्त के न होने पर ऐसा नहीं होता, इस दृष्टि में ही बहुत बडा अंतर है। निमित्त तो 'धर्मास्तिकायवत्' है। वस्तु अपनी शक्ति से जैसा कार्य करे उसे वैसा निमित्त कहा जाता है। ऐसी वस्तु स्वभावकी स्वाधीनता की घोषणा कुंदकुंद भगवान् और अनंत केवली पहले कर चुके हैं। अज्ञानी की संयोगी दृष्टि है और ज्ञानी की स्वभाव दृष्टि है। अज्ञानी कहता है कि योग्य निमित्त हो तो कार्य हो और ज्ञानी कहता है कि वस्तुमें अपने स्वभाव से कार्य होता है तब अनुकूल निमित्त प्रस्तुत होता ही है। प्रत्येक जड़ अथवा चैतन्य पदार्थ की अवस्था उस की अपनी शक्ति से (योग्यता से) होती है। वस्तु की शक्ति त्रिकाल होती है और योग्यता एक समय मात्र की होती है। जिस समय जैसी योग्यता होती है उस समय वैसा कार्य अवश्य होता है। उदाहरण के रूप में मिट्टी द्रव्य को अन्य पदार्थों से भिन्न बताने के लिये यों कहा जाता है कि मिट्टी में घड़ा होने की योग्यता है किन्तु जब मिट्टी द्रव्य की ही पर्याय का विचार करना हो तब तो मिट्टी में जिस समय घड़ा होने की योग्यता होती है तब ही उसमें घड़ारूप अवस्था होती है, उससे पूर्व उस में पिंडरूपादि रूप अवस्था होने की योग्यता होती है। इस प्रकार कार्य होने की योग्यता एक ही समय मात्र की होती है इसलिये ऐसे प्रश्न का कोई अवकाश नहीं रहता कि कुम्हार के आने से पूर्व मिट्टी में से घड़ा क्यों नहीं बन गया? इसी प्रकार आत्मा में भी प्रत्येक पर्याय की योग्यता स्वतंत्र है।

जिस पर्याय में पुण्य-पापरूप विकार करता है उस पर्याय में आत्मा का पुरुषार्थ ही वहां रुक जाता है। अन्य पर्यायमें स्वभाव दृष्टि के पुरुषार्थ से उस योग्यता को बदल डाले तो बदल सकता है। इस तरह प्रत्येक समय की पर्याय भी पारिणामिक भाव से सिद्ध होती है। जैसे पर पदार्थ कारण नहीं है उसीप्रकार पूर्व पर्याय भी कारण नहीं है, किंतु उसी समय की योग्यता कारण है। कारण कार्य में समय भेद नहीं है विकार पर्याय भी पारिणामिक भाव से है, यह निश्चय होने के बाद निमित्त की अपेक्षा से उसे उदयभाव कहा जाता है।

सम्यग्दर्शन में देव शास्त्र गुरु इत्यादि बाह्य पदार्थ निमित्त कब कहलाते हैं? जो स्वतंत्र निरपेक्ष द्रव्य को समझे उसे उस आरोप से निमित्त कहा जता है किंतु जो स्वतंत्र द्रव्य को समझे ही नहीं उसके लिये तो वह सम्यग्दर्शन में निमित्त भी नहीं कहा जाता। सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति में आत्मा के अंतरंग शुद्ध परिणाम ही मूल कारण हैं।

नाटक समयसार में पं. बनारसीदासजीने कहा है कि-
शिष्य प्रश्न करता है—आत्मा स्वाधीन है या पराधीन?
उत्तर में श्री गुरु कहते हैं कि द्रव्यदृष्टि से आत्मा स्वाधीन है और पर्यायदृष्टि से पराधीन है। अज्ञानी पराधीनता का ऐसा अर्थ करते हैं कि कर्म इत्यादि परद्रव्य आत्मा को परतंत्र करके विकार कराते हैं किंतु वास्तव में ऐसी बात नहीं है। आत्मा को कोई परद्रव्य आधीन नहीं करता किंतु आत्मा स्वयं स्व द्रव्यदृष्टि को भूलकर पर ऊपर दृष्टि करता है तब वह विकारी होता है, यही पराधीनता है। स्वभावदृष्टि से जीव के विकार नहीं होता किंतु पर उपरकी दृष्टि से विकार होता है। इस अपेक्षा से पर्यायदृष्टि से आत्मा को पराधीन कहा जाता है। वास्तव में प्रत्येक पदार्थ अपने द्रव्य क्षेत्र काल भाव से सत् है—स्वतंत्र है। अपने से सत् पदार्थ को परसे कुछ भी हानि लाभ होता है इसप्रकार की मान्यता मिथ्याबुद्धि है। यदि आत्मा स्वभावदृष्टि करे तो स्वाधीनता प्रगट होती है और यदि पर्याय दृष्टि में अटक जाय तो पराधीन—विकारी होता है, परंतु दोनों में स्वयं स्वतंत्र है। पर लक्ष्य करके विकारी होता है तो भी स्वयं स्वतंत्ररूप में ही होता है, कोई पर पदार्थ उसे परतंत्र नहीं बनाता। वस्तु स्वभाव की स्वतंत्रता के इस संदेश को समझने की विशेष आवश्यकता है और उस स्वतंत्रता को समझ लेना ही आत्मा के लिये मांगलिक है, उस स्वतंत्रता को समझने के लिये ही यह 'भगवान् श्री कुंदकुंद प्रवचन मंडप' निर्मित हुआ है। ★

उत्साह

अपूर्व आत्मस्वभावकी प्राप्ति के लिए कूदता हुआ—क्रियावान वीर्य चाहिए, उत्साह पूर्ण भाव चाहिए, पूर्णता की प्रतीति चाहिए। पूर्ण स्वभावकी ओरका उत्साह युक्त वीर्य केवलज्ञान को लेकर ही पूर्ण होता है।

मुद्रक : चुनीलाल माणेकचंद रवाणी, शिष्ट साहित्य मुद्रणालय, दासकुंज, मोटा आंकडिया ता. १८-३-४७
प्रकाशक : जमनादास माणेकचंद रवाणी, आत्मधर्म कार्यालय, मोटा आंकडिया, काठियावाड़

भगवान श्री कुंदकुंद प्रवचन मंडप का उद्घाटन

सोनगढ़ (काठियावाड़) में फाल्गुन शुक्ला १ के प्रातः-काल ८॥ बजे श्रीमान् दानवीर सेठ सर हुकुमचंदजी इन्दौर के शुभ हस्तों से भगवान श्री कुंदकुंद प्रवचन मंडप का उद्घाटन सानन्द संपन्न हुआ। इस समय सेठजी के साथ उनकी धर्म पत्नी दानशीला सौभाग्यवती कंचन बाई, सुपुत्र श्री राजकुमारसिंहजी तथा उनकी पत्नी और करीब ४५अन्य कुटुम्बीजन पधारे थे उन्हीं के साथ पं. देवकीनंदनजी सिद्धान्त शास्त्री और पं. जीवनधरजी न्यायतीर्थ भी पधारे थे। सेठजी ने अपनी इस यात्रा को 'सोनगढ़ यात्रा' का नाम दिया है।

सेठजी फाल्गुन शुक्ला १ की रात्रि के पिछले भाग में करीब २ बजे सोनगढ़ पहुंचे थे। प्रातः काल में ७॥ बजे सार्वजनिक स्वागत करके उन्हें श्री प्रवचन मंडप में लाया गयाथा, वहां उनने अनेक मुमुक्षुओं और पूज्य श्री कानजी महाराज की उपस्थिति में श्री कुंदकुंद भगवान के जयघोष पूर्वक प्रवचन मंडप के मंगल द्वारों के खोला था।

द्वारोद्घाटन होते ही प्रवचन मंडप का विशाल भवन जनता से भर गया था। तत्काल ही सर सेठजी सा. बोलने के लिए खड़े हुये और आपने श्री जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट के लिए निम्नलिखित व्यक्तियों की ओर से ३५००५) अर्पित किये ७००१) अपनी ओर से ७००१) श्री राजकुमार सिंह की ओर से ७००१) राजबहादुर सिंह की ओर से ७००१) दानशीला सेठानी कंचन बाई की ओर से ७००१) सौभाग्यवती श्रीप्रेमकुमारी की ओर से।

इस दान घोषणा के बाद तत्काल ही श्री समयसार की स्तुति हुई थी और फिर ८-३५ बजे पूज्य श्री कानजी महाराज का प्रवचन प्रारंभ हुआ था। उसके पूर्ण होते ही सर सेठजी बोलने के लिये खड़े हुए। आपने कहा—मैं तो बहुत थोड़ा लाभ ले पाता हूं, आप सब मुमुक्षु बहुत भाग्यशाली हैं जो श्री कानजी महाराज के ऐसे पवित्र उपदेश का सतत लाभ लेते रहते हैं। जैनधर्म का सद् उपदेश आप सब मुमुक्षु नरनारी सुनते रहते हैं यह देख कर मुझे बहुत हर्ष होता है, अनादि कालीन दुख के दूर करने का और यथार्थ आत्मसुख प्रगट करने का यही उपाय है। मुझे अपने मन में ऐसा लगता है कि मैं अपनी सारी संपति इस सत्य धर्म की प्रभावना के लिए न्यौछावर कर दूं तो भी कम है तथापि मैं जो यह अतितुच्छ भेट दे सका हूं उसके लिए क्षमा चाहता हूं और यह भावना करता हूं कि इस संस्था के द्वारा प्रति दिन सत्यधर्म की वृद्धि होती रहे।

इस के बाद अध्यक्ष श्री रामजी भाई ने श्री सेठजी इत्यादि के पधारने के उपलक्ष में उनके प्रति आभार व्यक्त किया था, और भावनगर के दीवान साहब की ओर से आया हुआ शुभ संदेश सुनाया था, जो इसप्रकार है—"श्री कानजी स्वामी जैसे पवित्र आत्मा हमारे राज्य में है, उनसे हमारा राज्य अत्यंत गौरवयुक्त है।"

अध्यक्ष महोदय ने सत्य धर्म के प्रचार की भावना के व्यक्त करते कहा कि सत्य धर्म का लाभ लेने वाले मुमुक्षुजन दिन प्रतिदिन खूब बढ़ते जारहे हैं हम तो यह चाहते हैं कि इसका लाभ लेने वाले मुमुक्षु इतने हो जायकी यह मंडप भी लोगों के लिए पर्याप्त न हो, और अल्प समय में ही इससे भी बड़ा मंडप निर्माण करवाना पड़े हमारा विश्वास है कि यह बात निश्चय से जल्दी ही सत्य सिद्ध होगी।

दूसरे दिन श्री दीवान साहब की अध्यक्षता में सर सेठजी के एक अभिनंदन पत्र समर्पित किया गया था।

विशेष महत्त्व की बात यह है कि इस समय तत्त्व चर्चा अत्यंत संतोष पूर्वक हुई थी। पं. जीवंधरजी इस से पूर्व दे बार यहां आचुके थे किन्तु पं. देवकी नंदनजी शास्त्री प्रथमबार ही पधारे थे, उन्हें इस तत्त्व चर्चा से बहुत आनंद प्राप्त हुआ। उनने अनेकबार पूज्य श्री कानजी महाराज से कहा कि अभीतक हमारी समझ में बहुत बड़ी भूल थी, आज हमें आपने ही सत्य समझाया है। आज-तक हम अपनी दृष्टि से शास्त्रों के अर्थ बिठाते थे किन्तु शास्त्रका वास्तविक अर्थ क्या है यह आपने ही सिखाया है। हमारी श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र, व्रत, त्याग इत्यादि सब भूल भरा था, यह अब ज्ञात हुआ है। पं. जी के तीन दिन के परिचय से बहुत संतोष और आदर भाव हुआ।

पूज्य श्री कानजी महाराज ने कहा कि अभीतक बहुत से पंडित आये किन्तु ऐसा सरल कोई नहीं दिखाई दिया, इन्हें सत्य के स्वीकार करने में विलम्ब नहीं लगता।

रायबहादुर कुंवर राजकुमारसिंह भी तत्त्व चर्चा में सूक्ष्मता से भाग लेते थे, और सूक्ष्म चर्चाओं के बराबर बुद्धि ग्राह्य करते थे। सर सेठजी की सुपुत्री श्रीमती चंद्रप्रभा बाई ने भी तत्त्व स्वरूप के सुंदरता के साथ ग्रहण किया और सत् के प्रति उल्लास होनेपर उनने पूज्य श्री कानजी महाराज के प्रति भक्ति भाव के प्रगट करता हुआ एक अत्यंत भाव पूर्ण काव्य बनाकर फाल्गुन शुक्ला ३ की रात्रिको गाया और उसके बाद वे सब उसी रात्रि को स्पेशल ट्रेन द्वारा वींछिया ग्राम पधारे थे।

With the permisson of the Baroda Govt. order No. 30-24 date 31-10-44 Regd. No. B. 4875

धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है।

आत्मधर्म

वर्ष २ : अंक १२ : चैत्र २४७३
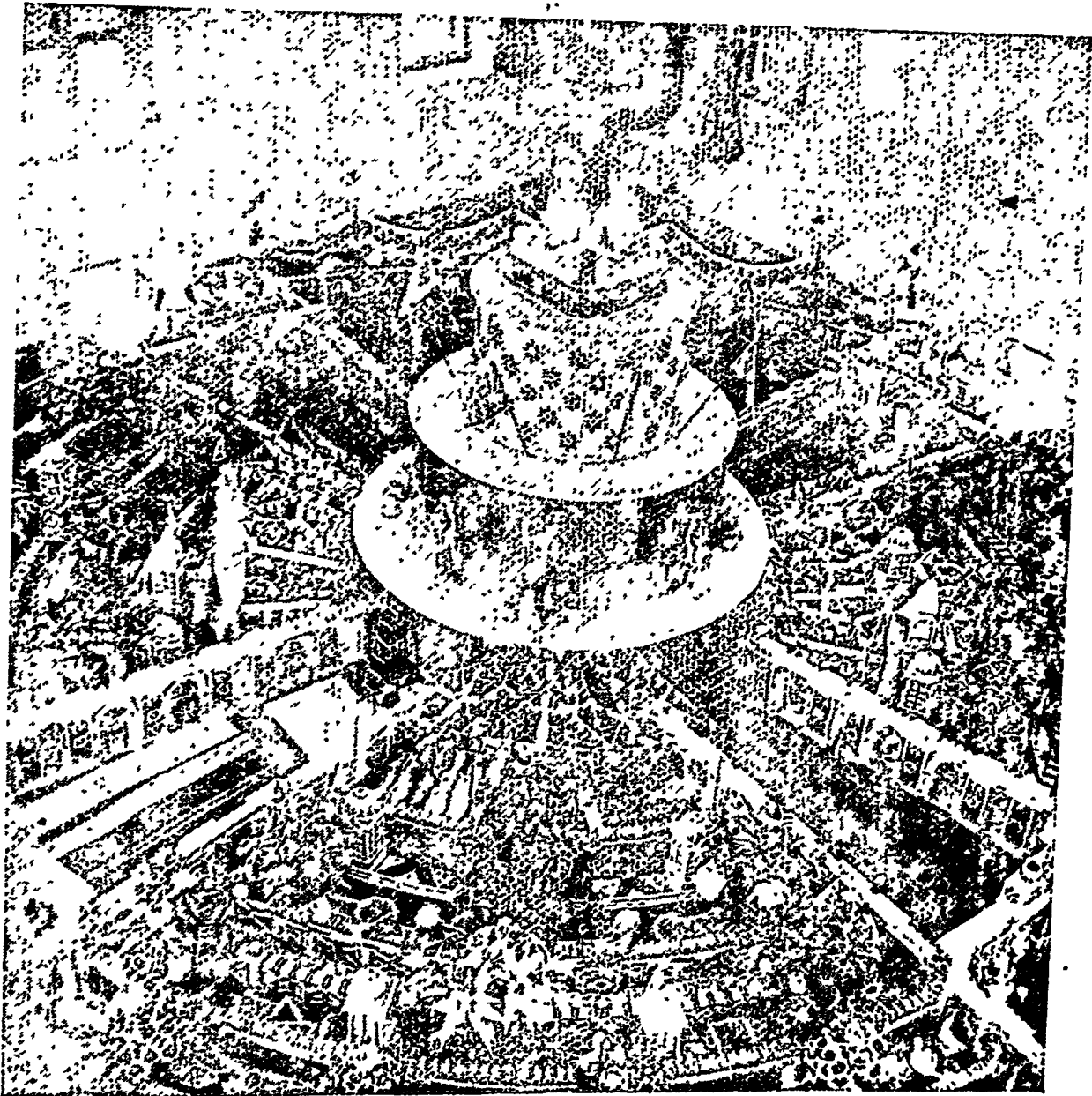
क्रमांक २४

श्री सोनगढ में निर्मित समवसरण (धर्मसभा)

आत्मधर्म कार्यालय—मोटा आंकडिया—काठियावाड़

समवसरण की रचना

अध्यात्मवेत्ता श्री कानजी महाराज के निमित्त से सोनगढ़ (काठियावाड़) जैन यात्रा का धाम बन गया है। वहां का जिनमन्दिर, स्वाध्याय मन्दिर-प्रवचन मंडप, तथा धर्मसभा (समवसरण) आदि सभी दर्शनीय है। महाविदेह क्षेत्रमें विद्यमान तीर्थंकर श्री सीमंधर स्वामी की धर्मसभा (समवसरण) की अत्यन्त सुन्दर, कलापूर्ण रचना सोनगढ़ में की गई है। मन्दिर के पीछे यह समवसरण मन्दिर है। चारों ओर कांच के द्वार हैं। जिससे दर्शक कभी भी भीतर की रचना देख सकते हैं। काफी बड़े और स्वच्छ कमरे में यह रचना है। इसका कुछ परिचय यहां दिया जा रहा है।

१—सर्व प्रथम धूलिसाल कोट है, जो समवसरण की मर्यादा का दर्शक है। उसके चारों तरफ स्वर्ण-स्तम्भ तथा तोरण है। २—धूलिसाल कोट के पास चारों दिशाओं में चार मार्ग है। यह मार्ग नीलमणियों के है। चारों प्रवेश द्वारों पर चार मानस्तम्भ हैं। ३—प्रथम भूमिका जिन मन्दिरों की है। ४—दूसरी भूमिका में गोलाकार पानी की खाई है। उसमें जलचर प्राणी कछुवा, मगर आदि और कमल हैं। ५—तीसरी भूमिका में लतावन (फुलवाड़ी) है, जहां इन्द्रादि देव विश्रान्ति करते हैं। इसी भूमिका में पर्वत भी बनाये गये हैं। ६—उसके बाद पहला स्वर्ण कोट है, जो मणियों से जड़ित है। कोट के द्वार पर अष्ट मंगल द्रव्य हैं। ७—चौथी भूमिका में उपवन (बाग) हैं, जिनमें जिन मन्दिर तथा वाटिकायें बनी हुई हैं। ८—पांचवीं भूमिकामें ध्वजा पंक्तियां हैं। ९—दूसरा रजत कोट होना चाहिये, किन्तु सुनहरी बनाया गया है। १०—छठी भूमिका में कल्पवृक्ष हैं, जो दस प्रकार के हैं। वे कल्पवृक्ष जिन वस्तुओं के दाता हैं उनमें वे वस्तुयें—(फूलमालायें, दीपक, ज्योति, फल, वस्त्र, मकान, आभूषण, भोजन, बाजे और बर्तन), लटका दी गई हैं। ११—सातवीं भूमिका में स्तूप मंदिर [जिन मन्दिर और देवों के निवास स्थान] हैं। १२—तीसरा कोट स्फटिक का है; किन्तु यहां पर उसके कंगूरे सुनहरी बनाये गये हैं। १३—आठवीं भूमिका में बारह सभायें हैं। उसके ठीक मध्य में ऊपर सफेद स्तंभयुक्त 'श्रीमंडप' है जो ध्वजा पताकादि से सुशोभित है। इस मंडप पर ऊपर से देवगण विमानों में से पुष्पवृष्टि करते हुए दिखाये गये हैं। बारह सभाओं की रचना बहुत ही सुन्दर है, जो देखते ही बनती है। वे १२ सभायें इस प्रकार हैं:—

(१) मुनिराज (२) कल्पवासी देवियां (३) आर्यिका और श्राविकायें (४) ज्योतिषी देवियां (५) व्यंतर देवियां (६) भवनवासी देवियां (७) भवनवासी देव (८) व्यंतरदेव (९) ज्योतिषी देव (१०) कल्पवासी देव (११) मनुष्य (१२) तिर्यंच।

मुनियों की सभा में वंदना करते हुये परम पूज्य श्री कुन्दकुन्दाचार्य खड़े हुये हैं, जो अत्यन्त भव्य प्रतीत होते हैं। इससे उस समय का दृश्य उपस्थित हो जाता है जब श्री कुन्दकुन्दाचार्य भरत क्षेत्र से विदेह में श्री सीमंधर भगवान के पास समोशरण में गये थे और वहां पर उनसे प्रश्न किये थे। सभामें सबसे आगे मुख्य गणधर विराजमान है।

१४—प्रथम पीठिका वैडुर्य रत्नमय है, उसके ऊपर चारों ओर धर्मचक्र को लेकर यक्ष खड़े हैं। ऊपर चढ़ने के लिये सोलह सीढ़ियों वाली नसैनी है, जिन पर चढ़कर भगवान के दर्शन किये जाते हैं। पीठिका पर चारों ओर अष्ट मंगल द्रव्य हैं। १५—दूसरी पीठिका स्वर्ण निर्मित है, जिस पर आठ महाध्वजायें हैं। १६—तीसरी पीठिका विविध प्रकार के रत्नों से निर्मित हैं। १७—तीसरी पीठिका पर सहस्र दलयुत लाल कमल है, जिस पर भगवान सीमंधर स्वामी की चतुर्मुखी प्रतिमा विराजमान है। १८—भगवान पर देवगण चौंसठ चमर ढोरते हैं और ऊपर तीन छत्र शोभित हो रहे हैं। वहीं पर सुन्दर अशोकवृक्ष है। देवगण विमानों से पुष्प वृष्टि करते हुये दिखाये गये हैं।

यद्यपि अजमेर, आरा आदि नगरों में भी समवसरण की रचनायें हैं, किन्तु वे इतनी सुन्दर, व्यवस्थित और प्रभावक नहीं है। श्री सीमंधर स्वामी की चतुर्मुखी प्रतिमा, तथा भगवान् कुन्दकुन्दाचार्य और गणधर देव की मूर्तियां अत्यधिक आकर्षक हैं।

यह समवशरण की रचना सोनगढ़ की ही नहीं समस्त जैन संसार की अनुपम शोभा है। सभी प्रमुख नगरों के जैन मंदिरों में यदि ऐसी रचना हो सके तो इससे जनता को काफी अच्छा ज्ञान हो सकता है। गिरनार-पालीताना आदि की यात्रा करने वालों को उधर ही निकटस्थ सोनगढ़ के भी दर्शन करते आना चाहिये। —परमेष्ठीदास जैन

हिंदी आत्मधर्म का प्रचारके लिये दो मुमुक्षु भाइओंने रुपया दोसौ और दोसौ मिलकर चारसौ दिये हैं। धन्यवाद। —स्वाणी

क्या धर्म का युग के साथ संबन्ध है ?

❀ ❀ ❀ [श्री समयसार गाथा २६७–२६८ पर पूज्य श्री कानजी महाराज के प्रवचन के आधारसे] ❀ ❀ ❀

धर्माचरण के लिए जीवों को धर्म का सच्चा स्वरूप पहचानना चाहिए। धर्म वस्तु का स्वतंत्र स्वभाव है किसी एक वस्तु का धर्म किसी दूसरी वस्तु के आधार पर अवलंबित नहीं है, अर्थात् प्रत्येक वस्तु अपने स्वभाव से अस्ति रूप है और दूसरे की स्वभाव की अपेक्षा से नास्ति रूप है। इस प्रकार प्रत्येक द्रव्य भिन्न हैं, भिन्न भिन्न द्रव्य एक दूसरे की क्रिया नहीं कर सकते, इसलिए एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ नहीं कर सकता। इस प्रकार त्रैकालिक वस्तु स्वरूप को पहचानना ही सम्यग्दर्शन रूपी प्रथम अपूर्व धर्म है। वस्तु स्वरूप की यथार्थ पहचान के विना किसी भी युग में धर्म नहीं हो सकता।

क्योंकि धर्म वस्तु का स्वभाव है इसलिए उसका संबन्ध स्वद्रव्य के साथ है, किसी भी परद्रव्य के परिणमन के साथ आत्मधर्म का संबन्ध नहीं है; स्वपर्याय ही वस्तु का धर्म है। सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र रूपी धर्म से ही अनन्त जीवोंने आत्महित किया है। जिस उपाय से एक व्यक्तिने आत्महित किया, प्रत्येक व्यक्ति के आत्महित के लिए वही उपाय है। यह नहीं हो सकता कि आत्महित के लिए एक व्यक्ति को अमुक उपाय हो और दूसरे व्यक्ति को उससे भिन्न। जिस उपाय से एक कालमें धर्म होता है, उसी उपाय से तीनों कालमें धर्म होता है। काल के बदलने से धर्म का स्वरूप नहीं बदल जाता, क्योंकि आत्मधर्म का संबन्ध काल के साथ नहीं है। जिस उपाय से एक क्षेत्र में धर्म होता है उसी उपाय से सर्व क्षेत्र में धर्म होता है। क्षेत्र के बदलने से धर्म का उपाय नहीं बदल जाता। आत्म स्वभाव की सच्ची श्रद्धा-ज्ञान-स्थिरतारूपी जिस शुद्ध भाव से एक जीव ने धर्म किया उसी भाव से सभी जीव धर्म कर सकते हैं; उसके अतिरिक्त अन्य किसीभाव से किसी जीव के धर्म नहीं हो सकता।

यदि कोई जीव धर्म का स्वरूप यों माने कि–'एक जीव के भाव दूसरे जीव का कुछ भी नहीं कर सकते, इस प्रकार यथार्थ समझ का होना सो चौथे काल का धर्म है, और देश के समस्त दुखी जीवों की सहायता करके उन्हें सुखी करना सो पंचम कालका धर्म है–' तो यह मान्यता गलत है। वस्तु का यह स्वरूप नहीं हो सकता कि चौथे काल में तो एक जीव दूसरे का कुछ न कर सके और पंचम काल में कर सके। इस काल में अथवा अनन्त काल में भी एक जीव दूसरे जीवों को सुखी या दुःखी नहीं कर सकता। इस प्रकार समझ लेना सो धर्म है; किन्तु मैं अन्य जीवों को सुखी या दुःखी कर सकता हूं अथवा दूसरे का हिताहित कर सकता हूँ, इस प्रकार जो अज्ञान भावरूप अध्यवसाय है, वह पर में अकिंचित्कर होने से तथा अपने लिए हानिकारक होने से अधर्म है।

एक जीव के दूसरे जीवों को सुखी या दुःखी करने के भाव से दूसरे जीव सुखी या दुखी कदापि नहीं होते इसलिए मैं पर को सुखी या दुखी करता हूँ अथवा मुझे कोई सुखी या दुखी करता है इसप्रकार की मान्यता का होना सो मिथ्यात्व है। मैं ज्ञानस्वभावी आत्मा अपने भावों का कर्ता हूं, किन्तु दूसरे जीवों के सुख दुख का कर्ता नहीं हूं, ऐसी यथार्थ मान्यता का होना सो सम्यक्त्व है और वही धर्म है। धर्म किसी कालमें नहीं बदलता। स्वर्ग में और नरक में, तिर्यंच में और मनुष्यमें, आज अथवा वर्षों पहले सभी जीवों ने ऐसे सम्यग्दर्शन के द्वारा ही आत्महित किया है, कर रहे हैं और करेंगे। कोई भी क्षेत्र अथवा कोई भी काल ऐसा नहीं है जिस में इस सम्यग्दर्शन के विना जीव धर्म कर सकता हो।

सभी युग में धर्म का स्वरूप एक ही प्रकार का है

यह मान्यता असत्य है कि इस काल में लोगों को खाने पीने को नहीं मिलता इस लिए उन की सहायता करना सो इस काल का धर्म है। यह मान्यता असत्य इसलिये है कि पर जीव का जीवन मरण अथवा सुख दुःख इत्यादि अपने द्वारा नहीं किए जावे; हां स्वयं उस तरह के भाव कर सकता है और उस भाव से अपने को शुभ अथवा अशुभ बंध होता है, किन्तु अन्य

जीव का तो मन, वचन, काय अथवा शस्त्रादि से कुछ भी नहीं किया जा सकता। कोई यों मानता है कि देश पराधीनता की बेड़ी में जकड़ा हुआ है, उसे पहले स्वतंत्र करने पर ही धर्म किया जा सकेगा; जब तक देश परतंत्र होगा तबतक धर्म साधन नहीं हो सकता यह मान्यता भी अज्ञान रूप है, और यह विपरीत भाव ही दुःख का मूल है। देश के लिए वह कुछ भी नहीं कर सकता। जो लोग देश पर राज्य करते हैं वे अपने पुण्य के कारण करते हैं, क्या तू किसी के पुण्य को बदलने में समर्थ है?

कई लोग यह कहा करते हैं कि जब तक देश पर शासन करने वाले बुरे हैं तब तक हम से धर्म नहीं हो सकता, इसका अर्थ यह हुआ कि जब तक अन्य व्यक्ति अपने भावों को न सुधारे तब तक हमें भी अपने भाव नहीं सुधारना चाहिए अर्थात् जब तक पर न सुधरें तब तक स्वयं भी न सुधरा जाय। ऐसे पराधीन भाव में धर्म नहीं हो सकता। मैं किसी परपदार्थ के भाव का कर्ता नहीं हूँ और मेरे भाव का कोई परपदार्थ कर्ता नहीं है; परपदार्थ चाहे जैसे हों अथवा चाहे जैसी प्रवृत्ति कर रहे हों–परन्तु मैं अपने जैसे भाव करूं वैसे भाव चाहे जब हो सकते हैं– इस प्रकार वस्तु स्वभाव की पहिचान करके अपने भावों को स्वाधीन रखना सो धर्म है। धर्म जीव का अपना भाव (पर्याय) है। चाहे जैसे प्रतिकूल संयोग हों तथापि जीव धर्म कर सकता है क्यों कि धर्म जीव के आधीन है।

आत्मा स्वतंत्र तत्त्व है। स्वतंत्र तत्त्व की अवस्था को पर के आधीन मानने वाला अज्ञानी जीव तत्त्व की स्वाधीनता को भूल जाता है। ज्ञानी जीव जानता है कि आत्मा में समय समय पर ज्ञान की जो अवस्था होती है वह मेरे आधीन है। नेत्र मंद हों, इन्द्रियां शिथिल हों और शरीर कृष हो तब भी उस से मेरा ज्ञान मन्द नहीं हो जाता, क्यों कि मेरी अवस्थासे मेरा अस्तित्व है, अन्य की अवस्था मुझ से भिन्न है। इस प्रकार स्व-काल से अपना अस्तित्व जानने वाला ज्ञानी युग का परिवर्तन होने पर अपने धर्म के स्वरूप में परिवर्तन होना नहीं मानता परन्तु स्वयं स्वतः सदा पूर्ण रहता है, ज्ञानी जानता है कि मेरी अवस्था मुझ से ही परिणमित होती है, पर ज्ञेय की अवस्था चाहे जैसी हो उससे मेरी अवस्था परिणमित नहीं होती, बाह्य वस्तुओं के बदल जाने पर भी मेरा ज्ञान एक रूप ही रहता है–ज्ञान पर में नहीं चला जाता। समय के बदलने पर बुद्धि बदल जाती है अथवा समयानुसार धर्म भी बदलता रहता है यह बिलकुल गप्प है, ऐसा कदापि नहीं होता।

एक जीव दूसरे जीव को सुखी दुखी इत्यादि कुछ भी नहीं कर सकता तथापि यह मानना कि मैं पर जीवको सुखी दुःखी कर सकता हूं निश्चय से अज्ञान मय अध्यवसान है, और वह अध्यवसान अपनी प्रयोजनभूत क्रिया (पर जीव के सुख दुःख इत्यादि) नहीं कर सकता इसलिए मिथ्या है। इस संबन्ध में भगवान कुन्दकुन्दाचार्य ने श्री समय प्राभृत में कहा है किः—

दुक्खिदसुहिदे जीवे, करेमि बंधेमि तह विमोचेमि।
जा एसा मूढ़ मई, णिरत्थया साहुदे मिच्छा ॥२६६॥

अर्थः–हे भाई! 'मैं जीवों को दुःखी या सुखी करता हूं, बद्ध या मुक्त कराता हूं' इस प्रकार की जो तेरी यह मूढ़ मति है वह निरर्थक होने से वास्तव में मिथ्या है।

श्री अमृतचंद्राचार्य देव कृत टीका

मैं पर जीवोंको दुःखी करता हूं, सुखी करता हूं, बंधाता हूं छुड़ाता हूं–इत्यादि जो ममत्व बुद्धि है वह सब परभाव का पर में व्यापार न होने से अपनी अर्थ क्रिया को करने वाला न होने से आकाश के कुसुमों को चूंट रहा हूं इसी माफक मिथ्या है, वह केवल अपने अनर्थ के ही लिए है (अर्थात् वह मात्र अपने लिए ही हानि का कारण होता है, पर का तो कुछ भी नहीं कर सकता)।

यदि मैं पर जीवों को सुखी करूंगा तो उसे धर्म होगा इस प्रकार की मान्यता मिथ्यात्व है। क्यों कि अपने भाव के कारण पर जीव कदापि सुखी नहीं होते। किसी एक जीव के भाव का फल दूसरे में नहीं जाता। किस काल में एक जीव के विचार से दूसरे जीव में परिवर्तन होता है? किसकाल में दूसरे जीव के विचार का असर इस जीव पर होता है? सच तो यह है कि कदापि ऐसा होता ही नहीं। क्या वस्तु का स्वरूप कभी बदल जाता है? वस्तु का स्वभाव ही जैन-धर्म है और वस्तु का स्वभाव त्रिकाल एक रूप है इस-लिए जैनधर्म को काल की मर्यादा में कैद नहीं किया जा सकता।

जैनदर्शन न तो कोई कल्पना है और न अमुक काल के लिए प्रवर्तित मार्ग ही, परन्तु वह वस्तु स्वभाव प्रदर्शक धर्म है, वस्तुएं अनादि अनन्त हैं इसलिए उनका प्रदर्शक धर्म अनादि अनन्त है। धर्म किसी व्यक्ति कृत नहीं है परन्तु स्वभाव सिद्ध है। प्रत्येक वस्तु अपने स्वभावसे स्वतंत्र और परिपूर्ण है, उसका प्रदर्शक जैनधर्म है। जैनधर्म का अर्थ है वस्तु धर्म और वस्तु धर्म का अर्थ है विश्वधर्म। आत्मा की एक समय मात्र की विकारी पर्यायको गौण करके त्रैकालिक अखंड परिपूर्ण ज्ञायक स्वभाव का दर्शन करना सो जैनदर्शन है। वस्तु प्रदर्शक धर्मको काल की मर्यादा नहीं होती, सत्य धर्म--त्रिकाल एक ही होता है इसलिए किसी वस्तु अथवा उसके धर्म पर किसी पर पदार्थ का असर नहीं होता। जैनधर्म का कथन त्रैकालिक वस्तु स्वभाव पर अवलंबित है, अनुभव जैनधर्म की नींव है, युक्तिवाद (अनेकान्त) जैनधर्म का आत्मा है। स्वभाव आश्रित प्रवर्तमान सत्य धर्म किसी के द्वारा नहीं रोका जा सकता, जो उसे रोकना चाहेगा वह स्वयं ही परभाव रूप होकर चार गति में अटक जायगा।

जैनधर्म स्वाधीन है क्योंकि वह वस्तु के स्वाधीन स्वरूप को बतानेवाला है। लोकमें भी कहा जाता है कि स्वाधीनता के बराबर सुख नहीं और पराधीनता के बराबर दुख नहीं। स्वाधीनता और पराधीनता का सच्चा अर्थ तत्त्वज्ञानियों ने इसप्रकार बताया है—

विश्व में रहनेवाले जीव स्वाश्रय और पराश्रय भाव कर सकते हैं। इन में से स्वाश्रय से होने वाला भाव शुद्ध है और वही धर्म है, पराश्रय से होनेवाला भाव अशुद्ध है, उसके दो प्रकार हैं—शुभ और अशुभ। यह दोनों प्रकार के अशुद्धभाव संसार के कारण हैं अर्थात् अधर्म हैं। स्वाश्रय भाव अपने स्वभाव के लक्ष से होता है, और पराश्रय भाव सदा परावलंबन चाहता है। जैसे किसी जीवको मारने का भाव हुआ तो वह पर जीव का लक्ष किये बिना नहीं होता, इसी प्रकार किसी को सुविधा देने का भाव भी परकी ओर का लक्ष किए बिना नहीं होता, इसलिए वे दोनों (शुभ अशुभ) भाव पराधीन—विकारी हैं। जैन सभी जीवों को पाप करने से रोकता है, और सभी पापों से आत्मस्वरूप का भ्रम सब से बड़ा पाप है, उस महा पाप को दूर किये बिना किसी जीव के धर्म नहीं हो सकता इसलिए जैनधर्म सर्व प्रथम आत्मस्वरूप की पहिचान के द्वारा सम्यग्दर्शन रूपी धर्म को करने का आदेश देता है। दर्शन विशुद्धि जैनधर्म का मूल है।

श्री समयसार की इस २६६ वीं *गाथामें श्री कुंदकुंदाचार्यदेव यह समझाते हैं कि हे भाई! तेरे भाव का प्रभाव* परके ऊपर नहीं होता तथा परके भाव का तेरे ऊपर प्रभाव नहीं होता। इसप्रकार कोई भी पदार्थ दूसरे पदार्थ का कुछ भी नहीं कर सकता, इसलिए तू परपदार्थ का लक्ष छोड़कर अपने स्वभाव में लक्ष कर। यही सुख का उपाय अर्थात् धर्म है। किसी जीव के भाव का फल किसी अन्यमें नहीं आता।

किस काल में एक जीव के विचार से दूसरे जीव का कार्य होता है? और किस काल में दूसरे जीव के विचार से इस जीव का कार्य होता है? एक जीव को ऐसा विचार आये कि मैं समस्त जगत को सुखी कर दूं परन्तु जगत के सब जीव तो अपने अपने परिणामानुसार स्वयं ही सुखी अथवा दुःखी होते हैं; वहां इस जीव के विचार के प्रभाव से कोई जीव सुखी नहीं हो जाता, इसीलिए परको सुखी अथवा दुःखी करने का अज्ञान जनित भाव मिथ्या है। यह जीव साक्षात् भगवान के पास बैठा हो तो वह भगवान के प्रभाव से धर्म को समझ लेगा—यह बात भी गलत है। भगवान को पहले जगत को धर्मप्राप्त कराने की भावना थी, उस भावना से दूसरे को लाभ नहीं होता। अपने शुभ भाव का फल अपने में आता है—पर में नहीं आता, इसप्रकार की जो वस्तु स्वभाव की स्वतंत्रता की समझ है वही त्रिकाल का एक धर्म है। ऐसी समझ होनेपर अनन्तानन्त परद्रव्यों पर से अहंकार और सुखबुद्धि दूर हो जाती है। और अपने स्वभाव की अनन्त दृढ़ता हो जाती है जिसका फल तत्काल अनन्त शान्ति है और वही मुक्ति का कारण है।

एक जीव के भाव दूसरे जीव पर असर नहीं कर सकते, क्योंकि प्रत्येक जीव अपनी अपेक्षा से अस्तिरूप है और परापेक्षा से नास्तिरूप हैं। ऐसा होने से इस जीव के परको सुखी करनेकी भावना होने पर भी प्रस्तुत जीव उसके कारण अज्ञान भाव से दुखो होता हुआ दिखाई देता है; और इस जीव के प्रस्तुत जीव को दुःखी करनेका भाव होने परभी प्रस्तुत जीव अपने ज्ञान जनित

परिणाम के कारण सुखी होता हुआ दिखाई देता है; इसलिए एक जीव के परिणाम दूसरे में अकिंचित्कर है। इस संबन्ध में निम्न प्रकार चौभंगी हो सकती हैं:—

(१) इस जीव के ऐसी बुद्धि होती है कि मैं पर जीव को बांधू तथापि प्रस्तुत जीव अपने वीतराग परिणाम के कारण बद्ध नहीं होता, इसलिए वह बुद्धि मिथ्या है।

(२) इस जीव के ऐसा भाव होता है कि मैं पर जीव को मुक्त करू तथापि प्रस्तुत जीव अपने सराग परिणाम के कारण मुक्त नहीं होता, इसलिए यह बुद्धि मिथ्या है।

(३) इस जीव के ऐसा भाव होता है कि मैं इस जीवको बांधू तथापि यह जीव अपने वीतराग परिणाम के कारण नहीं बंधता इसलिए उपरोक्त बुद्धि मिथ्या है।

(४) पर जीव के ऐसा भाव होता है, कि मैं इस जीव को मुक्त करू तथापि यह जीव अपने सराग परिणाम के कारण मुक्त नहीं होता इसलिए उपरोक्त बुद्धि मिथ्या है।

पर वस्तु में कुछ भी करने की बुद्धिरूप जो यह अज्ञान जनित परिणाम है सो जीव के लिए स्वयं ही बंध का कारण है और ज्ञान जनित परिणाम ही मुक्ति का कारण है। इसलिए हे भाई! मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र के राग परिणाम से ही जीव बन्धको प्राप्त होते हैं, और सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र रूप वीतराग परिणाम से ही मुक्त होते हैं; तब उन जीवों के बंधन अथवा मुक्ति में अन्य प्राणियों के भावों ने क्या किया? कुछ भी नहीं किया- यह समझकर पर पदार्थ की ओर से लक्ष को हटाकर स्वभाव की ओर उन्मुख होना सो धर्म है। ऐसा ही त्रिकाल का वस्तु स्वरूप है, इस वस्तु स्वरूप से विपरीत किसी भी मान्यता से कदापि धर्म नहीं होता।

एक जीव दूसरे जीव को सुखी करने का अथवा मुक्त करने का अध्यवसाय करे किन्तु वह जीव अपने अज्ञान भाव से दुखी होकर बंध कर रहा हो तब वहां दूसरे के भाव किस काम के? इसलिए हे भाई! तेरी यह भावना निरर्थक है, अज्ञानमय है कि मैं पर जीवों को सुखी-दुखी करू। पर के लिए तेरे द्वारा कुछ भी नहीं हो सकता, प्रत्युत वह भावना तेरे लिए स्वयं अनर्थ कर्ता है। मैं अन्य जीव के लिए कुछ कर सकता हूँ ऐसी मिथ्या मान्यता वाला जीव अपने शुद्ध चैतन्य प्राणों का अज्ञान रूपी तीक्ष्ण शस्त्रों से घात करता है, क्यों कि उस जीवने अपने को कर्ता स्वरूप माना है किन्तु ज्ञायक स्वरूप नहीं माना। यह मान्यता ही आत्मा के शुद्ध भाव की घातक है।

चाहे जिस संयोग के समय भी एक तत्त्व दूसरे तत्त्व का कुछ भी करने में समर्थ नहीं है। अपना चैतन्य स्वरूप अपने में है। अपने चैतन्य स्वभाव को भूलकर पर में अच्छाई को मानना ही हिंसा और अनन्त पाप है। समझ ही धर्म है और अज्ञान ही संसार है। अनादि काल से यथार्थ चैतन्य स्वरूप को नहीं जाना और वस्तु स्वरूप को समझे बिना कदापि भव का अन्त नहीं आ सकता इसलिए हे जीव! चैतन्य स्वरूप की रुचि कर, उसकी प्रतीति कर और इस चैतन्य स्वभाव के बलसे रागादि के सन्मुख अकेला जूझ। तेरे अपार स्वभाव को हानि पहुंचाने में कोई अन्य द्रव्य समर्थ नहीं है। पर से न तो धर्म है और न हानि, इसलिए व्यर्थ ही पर का अहंकार मत कर। पर से धर्म मानना अज्ञान है। प्रत्येक ज्ञानी अथवा अज्ञानी जीव स्वतंत्र हैं। किसी के अभिप्राय को बदल सकने के लिए कोई समर्थ नहीं है। अज्ञानी को उसके अज्ञान भाव से ही हानि है पर से नहीं। अपने स्वभाव की शंका से अपने को हानि है और अपने स्वभाव की निःशंकता से अपने को लाभ है। आत्म स्वरूप की रुचि, प्रतीति, निःशंकता और उस रूप परिणमन ही धर्म है।

धर्म की व्याख्या करते हुए भगवान् श्री कुंदकुंदाचार्य देव भाव पाहुड में कहते हैं—

पूजादिषु व्रतसहितं पुण्यं हि जिनैशासने भणितम्।
मोहक्षोभ विहीनः परिणामः आत्मनः धर्मः ॥८३॥

अर्थ—जिनेन्द्रदेव ने जिनशासन में यह कहा है—कि पूजादिक तथा व्रतादिक पुण्य हैं और मोह (मिथ्यादर्शन) तथा क्षोभ (चारित्रमोह) रहित जो आत्मा का परिणमन है सो धर्म है।

जैनधर्म तो वीतराग शासन है, यह कोई वेश अथवा परिधि-गुट्ट नहीं है। वीतरागता ही जैनधर्म है। जैनधर्म में राग को स्थान नहीं है, भले ही वह राग साक्षात् भगवान पर ही क्यों न हो किन्तु जो राग है वह जैन शासन नहीं है। साक्षात् भगवान के ऊपर का राग भी धर्म नहीं है तब फिर अन्य जीवों को बचाने अथवा मारने का जो शुभाशुभ भाव है वह धर्म कैसे हो सकता है?

प्रश्नः—धर्म तो दो प्रकार के हैं न? एक मुनि धर्म और दूसरा श्रावक धर्म इनमें से श्रावक को तो पर जीव को दुःखी देखकर दया आती ही है, इसलिए पर जीवकी दया श्रावक धर्म है या नहीं?

उत्तरः—नहीं, वास्तव में धर्म के दो प्रकार हैं ही नहीं, मुनि और श्रावक का भेद मात्र राग की अपेक्षा से है। उन दोनों दशाओं में जितना राग है उतना धर्म नहीं है किन्तु आत्म प्रतीति सहित जितना वीतरागभाव करे उतना ही धर्म है। वीतराग भाव तो त्रिकाल में एक ही तरह का है इसलिए धर्म त्रिकाल एक रूप है। तीनों काल के अनन्त तीर्थंकरो की प्ररूपणा में धर्म का स्वरूप एक ही प्रकार का कहा गया है। जैसे त्रिकाल में लड्डू, गुड़, घी और आटे का ही बनता है, कहीं घी की जगह पानी गुड़ की जगह गोबर और आटे की जगह धुल का उपयोग नहीं होता, इसीप्रकार आत्मा की मोक्ष दशा को प्रगट करने का मार्ग त्रिकाल में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र ही है इन के बिना कभी भी अन्य उपाय से मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता।

उपरोक्त प्रश्नमें यह भी कहा गया है कि पर जीव की दया का पालन करना श्रावक धर्म है या नहीं? किन्तु यह बात भी ठीक नहीं है क्योंकि पहले तो जीव को जो राग उत्पन्न होता है वह राग पर जीव को दुखी देख नहीं होता किन्तु अपनी कमजोरी के कारण उत्पन्न होता है, इसलिये उस राग को दूर करना ही अपना कर्तव्य है। किसी जीव के दुख को दूर करने का कर्तव्य यह जीव नहीं कर सकता। यदि अन्य जीव को दुखी देखकर दया का राग उत्पन्न होता हो तो केवली भगवान के भी वैसा राग होना चाहिए क्योंकि वे भी उसे देखते हैं, किन्तु ऐसा कदापि नहीं होता। दूसरे यह बात भी नहीं है कि जबतक दूसरा जीव दुखी होता है तबतक उसके उपर का राग दूर नहीं होता। एक जीव दुखी होने पर भी स्वयं अपने ज्ञायक स्वभाव में रह कर वीतराग हो सकता है। जीव को अस्थिरता के समय अन्य जीव को दुखी न करने के शुभभाव होते हैं वे शुभभाव पर के लिए नहीं किन्तु अपना योग तीव्र राग में न हो जाय इसलिए—तीव्र अशुभ से बचने के लिए स्वयं शुभराग करता है, उसमें जितना राग दूर होता है उतना अपने को लाभ है। और जो कुछ राग रह जाता है उतनी अपनी अवस्था में हानि है तथा संपूर्ण ज्ञान स्वभाव में राग का सर्वथा अभाव है, ऐसे स्वभाव की प्रतीति और स्थिरता के बल से वह अवशिष्ट राग भी अल्प काल में दूर होकर मुक्त दशा प्राप्त हो जाती है।

मैं यह आत्मा ज्ञानानन्द मूर्ति हूँ, किसी पर के साथ मेरा संबंध नहीं है, विकार के समय भी मेरा ज्ञान उस से प्रथक का प्रथक रहता है। यदि जीव इस प्रकार आत्मस्वरूपकी प्रतीति और स्थिरता करे तो वह बंधको प्राप्त नहीं होता, और मेरा किसी भी पर के साथ संबंध है या विकार के साथ मेरा ज्ञान भी विकाररूप हो जाता है ऐसी मान्यतारूप अज्ञान भाव से ही जीव बंधको प्राप्त होता है, किन्तु कोई पर जीव उसे मुक्त अथवा बंधनबद्ध नहीं कर सकता। जब तक यह बात ठीक समझ में न आये तब तक पहले ही यह निर्णय करने का बारम्बार प्रयत्न करते रहना चाहिये। इसमें आचार्यदेवने बंध भाव और अबंध भावको पहिचान कराकर भेदज्ञान कराया है। अपने अबंध स्वभाव को लक्षमें लेकर सच्ची श्रद्धा, सच्चा ज्ञान और स्वरूप रमणता करके जीव मुक्त दशा रूप में परिणमित हो जाता है।

"अहो आचार्यदेवने महान शास्त्रों की रचना करके जगत के जीवों पर परम उपकार किया है" इस प्रकार विनय पूर्वक कहा जाता है। परन्तु वास्तव में जीवों के कारण आचार्योने शास्त्रों की रचना नहीं की है, क्योंकि किसी जीव का असर अन्य जीव पर कदापि नहीं पड़ता। यहां पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि आचार्योंने शास्त्रोंकी रचना किस लिए की? इसका उत्तर यह है कि आचार्यदेव आत्मस्वरूप में रमण करते हुए सातवें छठ्ठे गुणस्थान में झूल रहे थे और जब स्वयं अपने स्वरूपानुभव में निर्विकल्प होकर टिक नहीं सकते तब उन्हें छठे गुणस्थान के योग्य मुख्यतया शास्त्र रचना का विकल्प उठता है, क्योंकि आचार्यदेव के अपना ज्ञान स्थिर रहकर अटूट ज्ञान धारा से केवलज्ञान को प्रगट करने की भावना है, इसलिए निमित्तरूप से बाह्य में भी ज्ञान प्रवाह को अविच्छिन्न स्थिर रखने के हेतु-रूप शास्त्र रचना का विकल्प उठता है, और इसलिए शास्त्र रचना होती है। जो लोग शास्त्र के भाव को समझते हैं वे भक्तिवश यह कहते हैं कि अहो! आचार्यों-ने शास्त्रों की रचना करके महान उपकार किया है। इस प्रकार यह विनय प्रगट करने की रीति है।

यह कथन भी परमार्थतः ठीक नहीं है कि 'लोग पशु हिंसा कर रहे थे, तब भगवान महावीरने उसे रोका था। क्योंकि एक जीव के पशु हिंसा के भावों दूसरा जीव नहीं रोक सकता। अन्य जीवों की अवस्था में भगवान के कारण परिवर्तन नहीं हुआ किन्तु जिन जीवों में योग्यता-पात्रता विद्यमान थी उनने अपने भाव से कपाय को कम किया और इसलिए वे पशु हिंसा के भाव करते हुए रुक गये। भगवान महावीरने उन्हें नहीं रोका, किन्तु उन जीवों के लिए भगवान का उपदेश मात्र निमित्तरूप हो गया इसलिए उस उपदेश की उपस्थिति का ज्ञानमात्र कराने के लिए निमित्त से ऐसा कथन किया जाता है कि भगवान महावीर के उपदेश से पशु हिंसा रुक गई थी। वास्तव में एक जीव दूसरे जीव के परिणाम-भाव को कुछ भी नहीं कर सकता, इस मूल भूत वस्तु स्वरूपको लक्ष में रखकर उसके अर्थ को समझना चाहिये।

यह स्वतंत्र सत्य है विश्व की वस्तुओं का ऐसा ही स्वरूप है और इसे समझना ही धर्म है। इस से भिन्न किसी भी भाव से धर्म नहीं हो सकता और धर्म के बिना सुख नहीं हो सकता। आत्मा स्वयं अपनी रुचि के अनुसार पुरुषार्थ के द्वारा अपने आधार से धर्मरूप होता है। आत्मा का धर्म आत्मा में ही है वह किसी पर के आधार पर अवलंबित नहीं है। यह आत्मा स्वयं ही धर्म स्वरूप है तथापि उसे अपने स्वरूप की अनादिकाल से खबर नहीं है—श्रद्धा नहीं है, इसीलिए उसे अपना धर्म प्रगट रूप में अनुभव में नहीं आता। अपने धर्म स्वरूप में शंकाविपर्यय अथवा अनिर्णय (संशय, विपर्यय अनध्यवसाय) ही अधर्म है, और उस अधर्म का फल संसार है। उस अधर्म को दूर करने के लिए अनन्त ज्ञानियों के द्वारा कहा गया एक मात्र उपाय अपने स्वाधीन धर्मस्वभाव की पहचान ही है। जिस समय अपने आत्मधर्म की पहचान करता है वह समय आत्मा का 'युगधर्म' है अर्थात् स्व-पर्याय है। 'युग'=काल, 'पर्याय' =अवस्था, 'धर्म'=स्वभाव अपनी स्वभाव रुप दशा ही अपना 'युगधर्म' है। काल के किसी परिणमन के साथ आत्मधर्म का संबंध नहीं है।

प्रभुता और पामरता

जैसे जैसे पर्याय बढ़ती जाती हैं वैसे ही वैसे विवेक और नम्रता बढ़ती जाती है ज्ञानी को यह प्रतीत है कि मैं स्वभाव से पूर्ण परमात्मा हूं, किन्तु पर्याय की अपेक्षा से पामर हूं, अर्थात् द्रव्य से प्रभु और पर्याय से पामर हूं। इस प्रकार अपने ज्ञान में द्रव्य पर्याय की सन्धि करने वाले ज्ञानी पूर्ण स्वभाव की ओर उन्मुख होते हैं। वे जैसे २ पूर्ण स्वभाव की ओर उन्मुख होते जाते हैं वैसे २ पर्याय की निर्मलता बढ़ती जाती है। पूर्ण स्वभाव की ओर जोर है और पर्याय की निर्मलता बढ रही है तब वहां ज्ञानी के उस पर्याय का अहंकार उत्पन्न नहीं होता, प्रत्युत स्वभाव की ओर विशेष नम्रता पूर्वक भावना करता है कि—"अहो! स्वरूप से तो मैं पूर्ण परमात्मा ही हूं तथापि अभी पर्याय में पामरता है, मुझे परिपूर्ण केवलदशा प्राप्त करनी है वहां अभी अनंतवें भागमें ही वह दशा प्रगट हुई है मैं उस अपूर्णता को पूर्ण स्वभाव के बल से जिस समय दूर कर दूंगा, वह क्षण धन्य होगा" इस प्रकार ज्ञानी की दृष्टि में पूर्णता ही है, उसके ज्ञान में पूर्ण स्वभाव और अपूर्ण दशा दोनों की प्रतीति है और पूर्णता की भावना है इस-लिए स्वभाव के बल से सम्पूर्ण स्थिरता को प्रगट करके अल्प कालमें ही अपूर्णता को दूर करके वे पूर्ण हो जाते हैं यह पूर्ण स्वभाव की दृष्टि का ही फल है।

ज्ञान स्वभावकी महिमा: अल्पकालमें मुक्ति

१-अरे आत्मा! तू राग को अपना मान रहा है इसलिये तेरे ऊपर समस्त ज्ञायक स्वभाव की हत्या का कलंक आता है। तू अपने ज्ञान स्वभाव की शुद्धि को देख। यह रागभाव तो उपाधि है—कलंक है ज्ञेय अनंतानंत हैं, उनकी कोई महिमा नहीं है किन्तु उन अनंतानंत ज्ञेयोंको निर्विकल्प निशंक जाननेवाले ज्ञान स्वभाव की महिमा है। [गाथा ९१]

२-पर वस्तु अनंत हैं। जो अपने को पर का कर्ता मानता है उसका अनंत वीर्य पर लक्ष्य में लग जाता है और इसप्रकार वह अनंत पर पदार्थों के कर्तृत्व का अहंकार करने लगता है इसलिये वह अनंत संसार में परिभ्रमण करेगा और जिसने पर से भिन्न अपने ज्ञायक स्वरूप को जानकर परके कर्तृत्व को उड़ा दिया है उसका अनंत वीर्य पर की ओर से खिंचकर स्व की ओर लग गया है इसलिये स्व की अनंत दृढता होगई। स्व की अनंत दृढता होने पर ही अल्प काल में उसकी मुक्ति हो जायगी। [कलश ५५]

पात्रता की पहली सीढ़ी

: लेखक :
[श्री रा. मा. दोशी]

गृहित और अगृहित मिथ्यात्व का त्याग

मिथ्यात्व का अर्थ

पहले हम यह देखलें कि मिथ्यात्व का अर्थ क्या है और मिथ्यात्व किसे कहते हैं एवं उसका वास्तविक लक्षण क्या है ?

मिथ्यात्व में दो शब्द है (१) मिथ्या और (२) त्व। मिथ्या अर्थात् असत् और त्व अर्थात् पन। इसप्रकार खोटापन, विपरीतता, असत्यता, अयथार्थता, इत्यादि अनेक अर्थ होते हैं।

यहांपर यह देखना है कि जीवमें निजमें मिथ्यात्व या विपरीतता क्या है क्योंकि जीव अनादि कालसे दुःख भोगता रहता है और वह उसे अनादि काल से मिटानेका प्रयत्न भी करता रहता है किन्तु वह न तो मिटता है और न कम होता है। दुःख समय समय पर अनंत होता है और वह अनेक प्रकार का है। पूर्व पुण्य के योग से किसी एक सामग्री का संयोग होनेपर उसे ऐसा लगता है कि मानों एक प्रकार का दुःख कम होगया है किन्तु यदि वास्तव में देखा जाय तो सचमुच में उसका दुःख कम नहीं हुआ है; क्योंकि जहां एक प्रकार का दुःख गया नहीं कि दूसरा दुःख आ उपस्थित होता है।

मूलभूत भूल के बिना दुःख नहीं होता। दुःख है इसलिये भूल होती है और भूल ही इस महा दुःख का कारण है। यदि वह भूल छोटी हो तो दुःख कम और अल्प काल के लिये होता है, किन्तु यह बहुत बड़ी भूल है इसलिये दुःख बड़ा और अनादि काल से है। क्योंकि दुःख अनादि काल का है और वह अनंत है इसलिये यह निश्चय हुआ कि मिथ्यात्व अर्थात् जीव संबंधी विपरीत समझ-भूल सब से बड़ी और अनंती है। यदि भयंकर भूल न होती तो भयंकर दुःख न होता। महान् भूल का फल महान् दुःख है, इसलिये महान् दुःख को दूर करने का सच्चा उपाय महान् भूल को दूर करना है।

दुःख का होना निश्चित करें

कोई कहता है कि जीव के दुःख क्यों कहा जाय ? रुपया पैसा हो, खाने पीने की सुविधा हो और जो चाहिये वह मिल जाता हो फिर भी उसे दुःखी कैसे कहा जाय ?

उत्तर—भाई ! तुझे पर वस्तु को प्राप्त करने की इच्छा होती है या नहीं ? तेरे मन में अंतरंग से यह इच्छा होती है या नहीं कि मेरे पास पर सामग्री रुपया पैसा इत्यादि हो तो ठीक हो और यह सब हो तो मुझे सुख हो; इसप्रकार की इच्छा होती है सो यही दुःख है। क्योंकि यदि तुझे दुःख न हो तो पर वस्तु प्राप्त करके सुख पाने की इच्छा न हो।

यहांपर अज्ञान पूर्वक इच्छा की बात है क्योंकि अज्ञान-भूल के दूर होने पर अस्थिरता को लेकर होनेवाली जो इच्छा है उसका दुःख अल्प है। मूल दुःख अज्ञान पूर्वक इच्छा का ही है। इच्छा कहो, दुःख कहो, आकुलता कहो अथवा परेशानी कहो सब का अर्थ एक ही है। यह सब मिथ्यात्व का फल है। अपने स्वरूप की अप्रतीत दशा में इच्छा के बिना जीव का एक समय भी नहीं जाता निरंतर अपने को भूलकर इच्छा होती ही रहती है और वही दुःख है।

जीव की सबसे बड़ी भयंकर भूल होती है इसलिये महान् दुःख है। अर्थात् जीव के एक के बाद दूसरी इच्छा ड्योढ़ लगाये रहती है और वह रुकती नहीं है यही महान् दुःख है। उसका कारण मिथ्यात्व-विपरीत मान्यता-महान् भूल है। मिथ्यात्व क्या है ? यह यहांपर कहा जाता है।

मिथ्यात्व क्या है ?

यदि मिथ्यात्व द्रव्य अथवा गुण हो तो उसे दूर नहीं किया जा सकता; किन्तु यदि वह मिथ्यात्व पर्याय हो तो उसे बदलकर मिथ्यात्व दूर किया जा सकता है।

मिथ्यात्व-विपरीतता है। विपरीतता कहते ही यह सिद्ध हुआ कि उसे बदलकर सीधा (यथार्थ) किया जा सकता है। मिथ्यात्व जीव के किसी एक गुण की विपरीत अवस्था है और वह अवस्था है इसलिये समय समय पर बदलती है। इसलिये मिथ्यात्व एक समय की अवस्था होने से दूर किया जा सकता है।

जीव के किस गुण की विपरीत अवस्था मिथ्यात्व या भूल है?

मैं कौन हूं ? मेरा सच्चा स्वरूप क्या है ? जो यह क्षणिक सुख दुःख

का अनुभव होता है वह क्या है? पुण्य पाप का विकार क्या है? पर वस्तु देहादि मेरे हैं या नहीं इसप्रकार स्व-पर की यथार्थ मान्यता करनेवाला जो गुण है उसकी विपरीतदशा मिथ्यात्व है। अर्थात् आत्मा में मान्यता (श्रद्धा) नाम का त्रिकाल गुण है और उसकी विपरीत अवस्था मिथ्यात्व है।

जीव को जैसी विपरीत मान्यता होती है वह वैसा ही आचरण करता है अर्थात् जहां जीव की मान्यता में भूल होती है वहां उसका आचरण विपरीत ही होता है। जीव की मान्यता उल्टी हो और आचरण सच्चा हो, ऐसा कभी भी नहीं हो सकता। जहां विपरीत मान्यता होती है वहां ज्ञान भी उल्टा ही होता है।

'मिथ्या' का अर्थ है विपरीत, उल्टा अथवा झूठा और 'त्व' अर्थात् उससे युक्त। यह भूल बहुत बड़ी और भयंकर है क्योंकि जहां मिथ्या-मान्यता होती है वहां आचरण और ज्ञान भी मिथ्या होता है और उस विपरीतता में महान् दुःख होता है। ऐसी मिथ्यात्वरूपी भयंकर भूल क्या है? इस संबंध में विचार करते हैं।

स्वरूप की मान्यता करनेवाला श्रद्धा नाम का जीव का जो गुण है उसे स्वयं अपने आप उल्टा किया है, उसीको मिथ्या मान्यता कहा जाता है। वह अवस्था होने से दूर की जा सकती है।

उस भयंकर भूल को कौन दूर कर सकता है?

वह जीव की अपनी अवस्था है, इसलिये जीव उसे स्वयं दूर कर सकता है। अपने स्वरूप की जो सबसे बड़ी घोरातिघोर भयंकर भूल है वह कबसे चली आ रही है?

क्या वर्तमान में तेरे वह भूल विद्यमान है? यदि वर्तमान में भूल है तो पहले भी भूल थी, और यदि पहले बिल्कुल भूल रहित होगया होता तो वर्तमान में भूल नहीं होती। पहले पक्की—कभी न हटनेवाली यथार्थ समझ—मान्यता करली हो और वह यदि दूर हो गई हो तो? इस प्रश्न का समाधान करते हैं—

जिसे थोड़ा सच्चा ज्ञान हुआ हो वह ज्ञानमें कभी भूल नहीं होने देता। जैसे मैं दशाश्रीमाली वणिक् हूं इसप्रकार का ज्ञान स्वयं कभी भूल नहीं जाता; मैं दशाश्रीमाली वणिक हूं यह नाम तो जन्म होने के बाद स्वयं माना है....२५-५० वर्ष से शरीर का नाम मिला है; आत्मा कुछ स्वयं बनिया नहीं है तथापि वह रटते रटते कितना दृढ़ होगया है? जब भी बुलावें तब कहता है कि 'मैं बनिया हूं, मैं कोली भील नहीं हूं' इसप्रकार अल्प वर्षों से मिले हुये शरीर का नाम भी नहीं भूलता तो पर वस्तु-शरीर-वाणी मन, बाहर के संयोग तथा पर की ओर का झुकाव से होनेवाले राग द्वेष के विकारी भावों से भिन्न अपने शुद्ध आत्मा का पहले पक्का ज्ञान और सच्ची समझ की हो तो उसे कैसे भूल सकता है? यदि पहले पक्की सच्ची समझ की हो तो वर्तमान में विपरीतता न हो; चूंकि वर्तमान में विपरीतता दिखाई देती है इससे सिद्ध है कि पहले भी जीवने विपरीतता की थी।

तू-आत्मा अनंत गुण का पिंड अनादि अनंत है। उन अनंत गुणों में एक मान्यता-श्रद्धा नाम का गुण की अवस्था तेरी विपरीतता से अनादि काल से स्वयं विपरीत करता आया है और उसे तू आगे ही बढ़ाता चला जा रहा है। वह भूल-विपरीतता वर्तमान अवस्था में है इसलिये वह टाली जा सकती है।

अग्रहीतमिथ्यात्व

तू अनादि काल से आत्मा नामक वस्तु है। मैं जन्म से मरण तक ही होता हूं इस प्रकार की धारणा, विपरीत धारणा है क्योंकि जिस वस्तु को कभी किसने उत्पन्न ही नहीं किया उस वस्तु का कभी नाश नहीं हो सकता। मैं जन्म से मरण तक ही हूं ऐसी जीव की महाविपरीत मान्यता है। क्योंकि जीव यह मानता है कि मेरे मरण के बाद जो पैसा रहेगा उसका विल करूं, परंतु वह यह नहीं विचार करता कि मरने के बाद मैं न जाने कहां जानेवाला हूं; इसलिये अपने आत्म कल्याण के लिये कुछ करूं। अनादि काल से चली आने वाली और किसी के द्वारा न सिखाने पर भी बनी हुई जो महाविपरीत मान्यता है उसे अग्रहीत मिथ्यात्व कहते हैं। ऐसी विपरीत मान्यता स्वयं अपने आप ही करता है, उसे कोई सिखाता नहीं है। जैसे बालक को रोना सिखाना नहीं पड़ता उसीप्रकार मैं जन्म-मरण तक ही हूं; इसप्रकार की मान्यता किसी के सिखाये बिना ही हुई है। जो शरीर है सो मैं हूं। रुपया पैसा में मेरा सुख है, इत्यादि परवस्तु में अपनेपन की जो मान्यता है सो अग्रहीत विपरीत मान्यता है, जो जीव के अनादि काल से चली आ रही है।

जो शरीर है सो मैं हूं। शरीर के हलन-चलन की क्रिया मैं कर सकता हूं इसप्रकार अज्ञानी जीव मानता है। और शरीर को अपना

मानने से बाहर की जिस वस्तु से शरीर को सुविधा मानता है उसपर प्रीति और राग हुये बिना नहीं रहता। इसलिये उसके अव्यक्त रूप में ऐसी मान्यता बन जाती है कि मुझे पुण्य से सुख होता है। बाहर की सुख सुविधा का कारण पुण्य है। यदि मैं पुण्य करूं तो मुझे उसका फल मिलेगा इस प्रकार किसी के द्वारा सिखाये बिना ही अनादि काल से मिथ्याज्ञान चला आ रहा है। जीव यह अनादि काल से मान रहा है कि मुझे पुण्य से लाभ होता है और पर का कुछ कर सकता हू।

जिसने यह माना कि शरीर मेरा है और यद्यपि किसी पर से सुख सुविधा नहीं होती तथापि जिस पदार्थ से वह अपने शरीर के लिये सुख सुविधा होती हुई मानता है उसपर उसे प्रीति होती है। और वह यह मानता है कि पुण्य से शरीर को सुख सुविधा मिलती है इसलिये अनादि कालसे यह मान रहा है कि पुण्य से लाभ होता है। पुण्य से मुझे लाभ होता है और जो शरीर है सो मैं हूं तथा मैं शरीर के कार्य कर सकता हूं इस प्रकार की विपरीत मान्यता अनादि काल से किसी के द्वारा सिखाये बिना ही जीव के चली आ रही है, यही महाभयंकर दुःख की कारणरूप भूल है। पाप करने वाला जीव भी पुण्य से लाभ मानता है क्योंकि वह स्वयं अपने को पापी नहीं कहलवाना चाहता, अर्थात् स्वय पाप करते हुए भी उसे पुण्य अच्छा लगता है। इस प्रकार अज्ञानी मिथ्यादृष्टि जीव अनादि काल से पुण्य को भला-हितकर मान रहा है।

अनादिकाल से जीवने पुण्य अर्थात् शास्त्रीय भाषा में कथित मंद कषाय में लाभ माना है। वह यह मानता ही रहता है कि शरीर तथा शरीर के काम मेरे हैं और शरीर से तथा पुण्य से मुझे लाभ होता है। वह जिसे अपना मानता है उसे हेय क्यों मानेगा? यह महाभयंकर भूल निगोद से लेकर जगत् सर्व अज्ञानी जीवों के होती है और यही अगृहीत मिथ्यात्व है।

गृहीत मिथ्यात्व

निगोद से निकले हुये जीव को कभी मंद कषाय से मन प्राप्त हुआ और संज्ञी पंचेन्द्रिय हुये, उनके विचारशक्ति प्राप्त हुई और वे यह सोचने लगे कि मेरा दुःख केसे मिटे; तब पहले "जीव क्या है?" यह विचार किया, इसका निश्चय करने के लिये दूसरे से सुना अथवा स्वयं पढ़ा, वहां उल्टा नया भ्रम उत्पन्न होगया। वह नया भ्रम क्या है? दूसरे से सुनकर यों मानने लगा कि जगत् मे सब मिलकर एक ही जीव है शेष सब भ्रम हैं, या तो गुरु से हमें लाभ होगा अथवा भगवान की कृपा से हम तर जायेंगे या किसी के आशीर्वाद से कल्याण हो जायगा अथवा वस्तु को क्षणिक मानकर वस्तुओं का त्याग करें तो लाभ होगा अथवा मात्र जैनधर्म ने ही सचाई का ठेका नहीं लिया, इसलिये जगत् के सभी धर्म सच्चे हैं इस प्रकार अनेक तरह के बाहर के नये नये भ्रम ग्रहण किये; परन्तु भाई! जैसे 'एक और एक मिलकर दो होते हैं,' यह त्रिकाल सत्य है, उसीप्रकार जो वस्तु स्वभाव या वस्तु धर्म है वही वीतरागी-विज्ञान ने कहा है, इसलिये वह त्रिकाल सत्य ही है, अन्य कोई कथन सत्य नहीं है।

जन्म के बाद अनेक प्रकार की नई विपरीत मान्यतायें ग्रहण की, उसी को गृहीत मिथ्यात्व भी कहते हैं। उसे लोकमूढ़ता, देवमूढ़ता और गुरुमूढ़ता भी कहा जाता है।

लोकमूढ़ता— पूर्वजों ने अथवा कुटुंब के बड़े लोगों ने किया या जगत् के अग्रगण्य बड़े लोगों ने किया इसलिये मुझे भी वैसा करना चाहिये और स्वयं विचार शक्ति से यह निश्चय नहीं किया की सत्य क्या है। इस प्रकार अपने को जो मन-विचार करने की शक्ति प्राप्त हुई है उसका सदुपयोग न करके दुरुपयोग ही किया और जिसके फलस्वरूप उसकी विचार शक्ति का मरण हुये बिना नहीं रहता। मंद कषाय के फलस्वरूप विचार शक्ति प्राप्त करलेने पर भी उसका सदुपयोग न करके अनादिकालीन अगृहीत मिथ्यात्व के साथ नया भ्रम उत्पन्न कर लिया और उसे पुष्ट किया उसके फलस्वरूप जीव को ऐसी हलकी दशा प्राप्त होती है जहां विचार शक्ति का अभाव है। अपनी विचार शक्ति को गिरवी रखकर सैनी जीव भी धर्म के नामपर इस प्रकार अनेक तरह की विपरीत मान्यताओं को पुष्ट किया करते हैं कि यदि हमारे बापदादा कुदेव को मानते हैं तो हम भी उन्हें ही मानेंगे। इस प्रकार अपनी मन की शक्ति का घात करके स्वयं अपने लिये निगोद की तैयारी करते हैं जैसे निगोदिया जीव को विचार शक्ति नहीं होती, उसी प्रकार गृहीत मिथ्यात्वी जीव अपनी विचार शक्ति का दुरुपयोग करके उसका घात करता है और उस निगोद की तैयारी करता है जहां विचार शक्ति का सर्वथा अभाव है।

देवमूढ़ता—सच्चे धर्म को समझाने वाला कौन हो सकता है ऐसी विचार शक्ति होनेपर भी उसका निर्णय नहीं किया।

निजको विपरीत ज्ञान है इसलिये जिसे यथार्थ पूर्णज्ञान हुआ है ऐसे दिव्य शक्ति वाले सर्वज्ञ देव के पास से सच्चा ज्ञान प्राप्त हो सकता है; किन्तु जीव उन्हें नहीं पहचानता और सर्वज्ञ देवके संबंध में (अर्थात् संपूर्ण सच्चा ज्ञान किसे प्राप्त हुआ है इस संबंध में) मूर्खता धारण करता है और इस प्रकार सच्चे देव के संबंधमें भी अपनी विचार शक्ति का दिवाला पीटता है, यही देवमूढ़ता है।

(देव का अर्थ पुण्य के फल से प्राप्त स्वर्ग के देव नहीं; किन्तु ज्ञान की दिव्य शक्ति धारण करने वाले सर्वज्ञदेव है)

गुरुमूढ़ता—बीमार आदमी इस संबंध में खूब विचार करता है और परिश्रम करके यह ढूंढ़ निकालता है कि किस डाक्टर की दवा लेने से रोग दूर होगा। लोग कुम्हार के पास दो टके हंडियां लेने जाते हैं तो उसकी भी खूब ठोक बजाकर परीक्षा कर लेते हैं इसी प्रकार और भी अनेक सांसारिक कार्यों में परीक्षा की जाती है, किंतु यहांपर आत्मा के अज्ञान का नाश करने के लिये और दुःख को दूर करने के लिये कौन निमित्त (गुरु) हो सकता है? इस का परीक्षा के द्वारा निर्णय करनेमें विचार शक्ति को नहीं लगाता और जैसा पिताजी ने कहा है अथवा कुल परंपरा से जैसा चला आरहा है उसीका अंधानुकरण करके दौड़ लगाता है, यही गुरुमूढ़ता है।

इसप्रकार जीव या तो विचार शक्ति का उपयोग नहीं करता और यदि उपयोग करने जाता है तो उपरोक्त लोकमूढ़ता, देवमूढ़ता और गुरुमूढ़ता से-तीन प्रकार से लुट जाता है। कुगुरु कहते हैं कि दान देगे तो धर्म होगा; किन्तु भले आदमी! ऐसा तो गांव के भंगीभी कहा करते हैं कि भाई बाप! एक बीड़ी दोगे तो धर्म होगा। इसमें कुगुरु ने कौनसी अपूर्व बात कहदी और फिर शील का उपदेश तो मां बाप भी देते हैं तो वे भी धर्मगुरु कहलायेंगे। स्कूलों और पाठशालाओं में भी अहिंसा सत्य और ब्रह्मचर्यादि पालन करने को कहा जाता है तो वहां के अध्यापक भी धर्मगुरु कहलायेंगे और वहां की पुस्तकें धर्म शास्त्र कहलायेंगे किन्तु ऐसा नहीं होता। धर्म का स्वरूप अपूर्व है।

लोग उपवास से धर्म तो मानते हैं किन्तु उपवास शब्द का अर्थ नहीं समझते। लोग रोटी न खाने को उपवास समझते हैं किन्तु यह अर्थ ठीक नहीं है। उपवास करने वाला अथवा उपवास का उपदेश देने वाला उपवास शब्द के अर्थ को ही न समझता हो तो वहां धर्म कैसे हो सकता है। शरीर को अन्न का संयोग नहीं हुआ और उसे उपवास मानलिया किन्तु जीव तो कभी अन्न नहीं खाता। जीव अज्ञान दशा में अज्ञान और दुःख ही खाता है (भोगता है) ज्ञानदशा में सच्चा ज्ञान और उसका अविनाभावी सच्चा सुख भोगता है।

ग्रा ह कों से नि वे द न

आपका वार्षिक मूल्य २४ वें अंक के साथ पूरा हो रहा है, इसलिये तीसरे वर्षका (अंक २५ से ३६ तक का) मूल्य तीन रुपया मनीआर्डर द्वारा शीघ्र ही भेजनेकी कृपा करें। जिन ग्राहक बंधुओं को ग्राहक रहने की इच्छा न हों वे तुरन्त ही चिट्ठी लिख के हमें ज्ञात करें।

—रवाणी

तीन प्रकार की मूढ़ताओं में गुरुमूढ़ता विशेष है उसमें धर्म के नामपर स्वयं अधर्म करता हुआ भी धर्म मानता है। उदाहरण के रूप में दुकान में बैठा हुआ आदमी यह नहीं मानता कि मैं अभी सामायिक-धर्म करता हूं; किन्तु धर्मस्थान में जाकर अपने माने हुये गुरु अथवा बड़े लोगों के कथनानुसार अमुक शब्द बोलता है, जिनका अर्थ भी स्वयं नही जानता और उसमें यह जीव मान लेता है कि मैंने सामायिक धर्म किया। यदि शुभभाव हो तो पुण्य हो किन्तु उस शुभ में धर्म माना अर्थात् अधर्म को धर्म माना; यही मिथ्यात्व है।

स्वयं विचार शक्ति वाला होकर भी नये नये भ्रमों पुष्ट करता रहता है, यही गृहीत मिथ्यात्व है। यहांपर मिथ्यात्व के संबंध में दो बातें कही गई हैं। (१) अनादि कालसे समागत पुण्य से धर्म होता है और मैं शरीर का कार्य कर सकता हूं; इस प्रकार की जो विपरीत मान्यता है सो अगृहीत मिथ्यात्व है। (२) लोकमूढ़ता, देवमूढ़ता और गुरुमूढ़ता के सेवन से कुदेव,-कुगुरु के द्वारा जीव विपरीत मान्यता को पुष्ट करनेवाले भ्रम ग्रहण करता है, यही गृहीत मिथ्यात्व है। सच्चे देव गुरु-धर्म की तथा अपने आत्म स्वरूप की सच्ची समझ के द्वारा इन दोनों मिथ्यात्वों को दूर किये बिना जीव कभी भी सम्यक्त्व को प्राप्त नहीं हो सकता। और सम्यग्दर्शन के बिना कभी भी धर्मात्मापन नहीं हो सकता; इसलिये जिज्ञासुओं को प्रथम भूमिका में ही गृहीत अगृहित मिथ्यात्व का त्याग करना अत्यावश्यक है।

★

श्री दिगम्बर जैन विद्वत् परिषद् का—सफल अधिवेशन

: स्थान :

भगवानश्री कुंदकुंद प्रवचन मंडप
सुवर्णपुरी—सोनगढ—काठियावाड
ता. ७-८-९ मार्च १९४७

★

सुवर्णपुरी-सोनगढ का नाम बहुत समय से सुन रखा था, किन्तु अभी गत ७, ८, ९ मार्च को विद्वत्परिषद के अधिवेशन के निमित्त से भारत के सुविख्यात ३२ दिगम्बर जैन विद्वानों ने सोनगढ जाकर वहां के आध्यात्मिक प्रभाव को देखा, और वे सब चकित रह गये। सचमुच ही पूज्य श्री कानजी महाराज का व्यक्तित्व महान और प्रभाव अद्भुत है।

अध्यात्मधाम सोनगढ़ (काठियावाड़) में ७, ८, ९ मार्च को पं. कैलाशचन्द्रजी जैन सिद्धान्तशास्त्रीकी अध्यक्षता में दि० जैन विद्वत् परिषद का तृतीय अधिवेशन सानन्द संपन्न हो गया। इस अधिवेशन में बाहर से करीब ३२ विद्वान पधारे थे। और श्रोताओं की संख्या ५०० से अधिक थी। ता० ७ मध्यान्हमें सभापति जी का जुलूस गाजे बाजे के साथ निकाला गया था। उसके बाद नवनिर्मित श्री कुन्दकुन्द प्रवचन मण्डप में दि० जैन विद्वत् परिषद्का अधिवेशन प्रारंभ हुआ था।

मंगलाचरण और सभापति निर्वाचन विधि के बाद स्वागताध्यक्ष श्री० रामजीभाई माणेकचन्द दोशी का स्वागत भाषण हुआ था जो यहां मुद्रित है। तत्पश्चात् सभापति जी का विद्वत्तापूर्ण भाषण हुआ था। भाषण के बाद पं० राजेन्द्रकुमारजी न्यायतीर्थ ने समागत विद्वानों का परिचय कराया था।

परिषद की प्रथम बैठक के बाद ३॥ से ४॥ बजे तक अध्यात्मपुरुष श्री कानजी महाराजका समयसार पर प्रवचन हुआ। आपका प्रथम भाषण अधिकांश विद्वानों के मन पर नहीं जमा, क्योंकि उन्हें उसमें निश्चयनयकी सर्वथा प्रधानता और निर्विवाद दिखाई दिया, किन्तु रात्रिचर्चा के बाद और अन्य प्रवचन सुनकर अधिकांश विद्वानों की धारणा बदल गई, जिसके परिणामस्वरूप विद्वत् परिषद ने श्री कानजी महाराज और उनके कार्य के प्रति श्रद्धादर्शक प्रस्ताव पास किया जो अन्यत्र मुद्रित है। और पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री, पं० फुलचन्दजी शास्त्री, पं० राजेन्द्र कुमारजी न्यायतीर्थ, पं० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य, प्रो० खुशालचन्द्रजी साहित्याचार्य तथा पं० परमेष्ठीदास जैन आदि ने पूज्य श्री कानजी महाराज और उनके महानतम् कार्यों के प्रति श्रद्धा प्रगट करते हुये संक्षिप्त भाषण दिये थे। —परमेष्ठीदास जैन

स्वा...ग...ता...ध्य...क्ष...का...व...क्त...व्य

माननीय प्रमुखश्री और सदस्यगण

आजसे बारह वर्ष पहले जो सौराष्ट्रभूमिमें दिगंबर जैनधर्म लुप्तप्राय स्थिति में था, उसी भूमिमें आज दिगंबर जैन समाजकी अग्रगण्य संस्था का भावभरा स्वागत करते हमको अत्यंत हर्ष होता है। लम्बे प्रवासादिकी तकलीफ सहकर भी आपने हमारा निमंत्रण स्वीकार किया इस के लिये हम आप सर्वके ऋणी है।

एक समय जहां जैनधर्म पूर्ण विकसित अवस्था में था, जिस पवित्र भूमिमें देवाधिदेव श्री नेमनाथ भगवान के कल्याणकमहोत्सवों को इन्द्रोंने किया था, श्रुतगंगाके प्रवाह को बहते रखनेवाले महा समर्थ आचार्यदेव श्री धरसेनाचार्य के पवित्र चरणकमल की धूलि से जो भूमि पुनित हुई थी, प्रसिद्ध कथानुसार जिस भूमि में आचार्य महाराज श्री उमास्वामी के पवित्र हस्तसे महान ग्रन्थ मोक्षशास्त्र की रचना हुई थी, उसी भूमिमें, खेदकी बात है कि, काल के बीतने पर यथार्थ जैन दर्शनकी बड़ी भारी कमी आई। वह यहां तक कि दिगंबर जैन धर्म प्रायः नष्टसा हो गया। इस प्रकार धर्म के लंबे विरहकाल के पश्चात् (वि. स. १९२४ में) मोरबी के नजदीक ववाणिया गांवमें महान तत्त्वज्ञानी श्रीमद् राजचंद्रजी नाम के एक नररत्न का जन्म हुआ—जिन्होंने यथार्थ जैन दर्शन का रहस्य पाकर, उनके पत्रों द्वारा तथा परमश्रुत प्रभावक मंडलकी स्थापना द्वारा वास्तविक जैन दर्शन का प्रचार का प्रारंभ किया।

यथार्थ जैन दर्शनका व्यापक प्रचार काठियावाड में अब देखा जाता है उसके प्रणेता परम पूज्य अध्यात्मयोगी श्री कानजी स्वामी है। वि. सं. १९७८ में ग्रंथाधिराज श्री समयसार गुरुदेव के करकमल में आते ही आनंदोदधि उल्लसित हुआ; समयसार के परम गंभीर रहस्यों को भावुक हृदय में पचाते २ अमृत सागर का अनुभव हुआ। 'अहो! स्वतन्त्र द्रव्य, स्वतन्त्र गुण, स्वतन्त्र पर्याय! देहसे भिन्न, विकारसे भिन्न, परम अद्-

भुत आनंदनिधान!' वह आनंदनिधानदर्शक श्री समयसारका और दिगम्बर जैन धर्मका साम्राज्य गुरुदेव के हृदयकमल में स्थापित हुआ। बस, इस पवित्र प्रसंगरूप मूल से दिगम्बर धर्मका व्यापक प्रचारका वृक्ष आज प्रसरित हुआ है—फलस्वरूप हजारों भव्य जीव सद्धर्म प्रति प्रेरे गये हैं, लाख से उपर सद्धर्म की पुस्तकें प्रकाशित हुई है और जिसके परिणाम से हमारे आंगनमें आज दिगंबर जैन धर्म के अग्रगण्य विद्वानों का वात्सल्यपूर्ण सत्कार करने का भाग्य हमें प्राप्त हुआ है।

आपकी महा संस्था का एक मुख्य उद्देश जैन संस्कृति का प्रचार है। आपका वह उद्देश संपूर्ण रीति से फलीभूत हो ऐसी हमारी हार्दिक भावना है और उस कार्यमें यथाशक्ति सहकार देने के लिये भी हम तैयार हैं। अहो! जैनदर्शन तो वस्तुदर्शन है कि जिसका ज्ञान होने पर जीव पराधीन दृष्टि से छूटकर स्वद्रव्य में संतुष्ट हो कर शाश्वत सुखनिधिको प्राप्त होता है। वह परम कल्याणकारी दर्शन का हार्द प्रत्येक द्रव्यकी स्वतंत्रता है। उस स्वतंत्रता के प्रकाशन करनेवाले ज्ञानांशका—निश्चयनयका—निरूपण करके वीतराग भगवंतोने हम सब पर परम उपकार किया है; अपन सब के वास्ते खेदकी बात है कि जैनदर्शनका वह एक मुख्य अंग—निश्चयनय—आज पक्षघात से पीडित हो रहा है। जन समाज में उस निश्चयनय के ज्ञानकी भारी कमी वर्त रही है। समाज का बहुत भाग ऐसी भ्रमणामें पडा है कि 'जड कर्म, आत्माको हैरान करते हैं', 'व्यवहार करते २ निश्चयकी प्राप्ति होती है', 'शुभ करते २ शुद्धता होगी', 'उपादान में कार्य होने में निमित्तकी राह देखनी पडती है', ऐसी अनेक मान्यताएं लोगोंमें गहरी जम गई हैं। हम सब जानते हैं कि जब तक लोगोंको निश्चय का ज्ञान नहीं होगा तब तक द्रव्य का परम स्वातंत्र्य उनके ख्यालमें नहीं आवेगा और तब तक ऐसी भ्रामक मान्यताएं नहीं मिटेंगी तथा सच्चे जैनत्व की प्राप्ति नहीं होगी। इसलिये जीव के त्रस—स्थावरादि और गुणस्थानमार्गणादि भेदों के ऊपर तथा कर्म की स्थिति आदि के ऊपर जो लक्ष दिया जाता है उससे अनेकगुणा अधिक लक्ष जब भेदविज्ञान के कारणभूत अध्यात्म शास्त्रों के ज्ञान के ऊपर दिया जायगा वह दिवस धन्य होगा, उस दिन ही जैन संस्कृतिका यथार्थ प्रचार होगा। प्रभावना के प्रेम से प्रेरित हमारी यह भावना है कि आप जैसे जैनदर्शन के विद्वानों द्वारा स्वतंत्र द्रव्य-गुण-पर्याय का ज्ञान विशेष २ प्रचारित हो, छोटी २ पुस्तिकाके प्रकाशन द्वारा पाठशालाओं के विद्यार्थी भी इस ज्ञानकी प्राप्ति करें, कल्याणमूर्ति सम्यग्दर्शनकी परम महिमा जनसमाज में विस्तरें और नयाधिराज निश्चयनयका विजयडंका दिगंत व्यापी हो।

अंतमें, आपको हृदय के भाव से सत्कार करता, आपकी सुश्रूषामें जो कुछ त्रुटियां रही हो उनके लिये आप उदारचित्त महानुभावों से क्षमा याचना करता और जैनदर्शन के प्रचारकार्य में सफलता इच्छता हुआ, मैं विराम लेता हूं।

ता. ७-३-४७, शुक्रवार रामजी माणेकचंद दोशी

—श्री. दि. जैन विद्वत् परिषद् का—

महत्वपूर्ण प्रस्ताव

आत्मार्थी श्रीकानजी महाराज द्वारा जो दि० जैनधर्म का संरक्षण और संवर्द्धन हो रहा है विद्वत् परिषद उसका श्रद्धापूर्वक अभिनन्दन करती है। तथा अपने सुराष्ट्री साधर्मी बहिनों भाइयों के सद्धर्म प्रेम से प्रमुदित होती हुई उनका हृदय से स्वागत करती है। वह इसे परम सौभाग्य और गौरव का विषय मानती है कि आज दो हजार वर्ष बाद भी महाराजने श्री १००८ वीर प्रभु के शासन के मूर्तिमान प्रतिनिधि भगवान कुन्दकुन्द की वाणी को समझ कर अपने को ही नहीं पहचाना है अपितु हजारों और लाखों मनुष्यों को एक जीव उद्धार के सत्यमार्ग पर चलने की सुविधाएं जुटा दी हैं। परिषद का दृढ़ विश्वास है कि महाराज के प्रवचन, चिन्तन तथा मनन द्वारा होने वाला दि० जैन धर्म की मान्यताओं का विश्लेषण तथा विवेचन न केवल साधर्मियों की दृष्टि को अन्तर्मुख करेगा अथवा सतत् ज्ञानाराधकों को अप्रमत्तता के साक्षात् परिणाम आचरण के प्रति तथैव प्रयत्नशील बनायेगा, अपितु मनुष्य मात्र को अन्तर तथा बाह्य पराधीनता से छुड़ाने वाले रत्नत्रय की प्राप्ति कराने वाले वातावरण को सहज ही उत्पन्न कर देगा। अतएव इस अवसर पर अभिनन्दन और स्वागत के साथ साथ परिषद यह भी घोषित करती है कि यतः आप का कर्तव्य हमारा है अतः इस प्रवृत्ति में हम आप के साथ हैं।

: समर्थक : : प्रस्तावक :

पं. महेन्द्रकुमारजी जैन न्यायाचार्य प्रो. खुशाल जैन

पं. परमेष्ठीदासजी जैन न्यायतीर्थ

पं. राजेन्द्रकुमारजी जैन न्यायतीर्थ

कैलाशचन्द्र

[अध्यक्ष, श्री दि. जैन विद्वत् परिषद]

८-३-४७

सोनगढ के सत्पुरुष श्री कानजी महाराज के संबंधमें विद्वानों के* उद्गार

सोनगढ में दि० जैन विद्वत् परिषद के अधिवेशन के प्रसंग पर भारत के विविध नगरों से गण्यमान्य विद्वान पधारे थे। तीन दिन तक यहां रह कर उनके मन पर जो प्रभाव पड़ा वह उनके अन्तिम दिन (९ मार्च) के भाषणों से स्पष्ट व्यक्त होता है। उन में से कुछ विद्वानों के उद्गारों का सारांश यहां दिया जाता है।

पं. कैलाशचन्द्रजी शास्त्री, बनारस—

विद्वत् परिषद के प्रस्ताव तो कहीं भी किये जा सकते थे; किन्तु हम तो इस निमित्त को लेकर यहां के दर्शन करने यहां आये थे। हम पूज्य कानजी महाराज के प्रवचनों से बहुत प्रभावित हुये हैं। हमारी प्रवृत्ति निमित्तमूलक है, हम उपादान को भूल गये हैं, इसलिये हमें यहां के प्रवचन में वैचित्र्य सा लगता है। सच तो यह है कि हमने अपने को नहीं पहचाना। पूज्य कानजी महाराज के प्रवचनों से हमारी और हमारे साथियों की आंखें खुल गई हैं। यहां के सभी नर-नारी अध्यात्मरत हैं। यदि हमारी आंखें अभी भी न खुलीं तो हमारा यहां आना व्यर्थ हुआ। महाराजने हम लोगों पर करारी चोटें दी हैं। हम लोग तो पत्थर पर लिखित समयसार हैं, जो डूबने वाले हैं। हम शरीर का पोषण करते हैं, आत्मा का नहीं। यहां केवल आत्मा की ही चर्चा है। हमारी यह भावना है कि हम पूज्य कानजी महाराज को भगवान कुन्दकुन्दाचार्य के रूपमें (नग्न दिगम्बर) कब देखें?

❀ ❀ ❀

यहां पर परिषदका अधिवेशन करने से हम सब को महाराजश्री के पासमें अध्यात्मका बहुत लाभ मिला है। अधिवेशन में उपस्थित सभी विद्वानों कह रहे हैं कि हमको महाराजश्री के आध्यात्मिक उपदेश से बहुत लाभ हुआ है। हम सब के परिणाम में भेद हो गये हैं। परिषद् अपना अधिवेशन का कार्य तो किसी भी स्थान पर कर सकती थी, किन्तु महाराजश्री का आध्यात्मिक उपदेश का लाभ लेने के मुख्य हेतु से इस स्थान को पसंदगी दी गई।

१९९६ की साल में जुनागढ में जब महाराजश्री से मेरा एक घंटे तक परिचय हुआ तबसे ही मेरे हृदय में ऐसी छाप पड़ी हुई थी कि महाराजश्री का उपदेश अवश्य सुनना चाहिए इसलिये हम सब विद्वान् भाईओं को एक साथ ऐसा लाभ मिले-यह हेतु से इस अवसर पर यहां आनेका प्रसंग मिला है। तीन दिन महाराजश्री का आध्यात्मिक व्याख्यान सुनकर मुझे ऐसा आत्मवेदन हुआ है कि अभी मैंने आत्मा का कूछ नहि किया, केवल शरीर का किया है। जब हम विद्यार्थीओं को शास्त्राभ्यास कराते थे तब प्रवचनसारादि में चिदानंद शुद्ध आत्मा की जो अध्यात्म बात आती थी उसको तो छोड़ देते- और उद्धवांश कल्पनादि बात हम शीखाते थे. (इस समय पर सभापतिजी बहुत गद्गद् हो गये थे।)

यह सोनगढ जैसा वातावरण अन्यत्र कहीं पर भी नहीं है। एक बाई पानी भरने के लिये जा रही थी, उससे किसीने पूछा कि 'मंडनमिश्र का घर कहां है?' तब बाईने उत्तर दिया कि 'जिस घरमें तोता भी शास्त्रार्थ कर रहा हो कि-स्वतः प्रमाणः परतः प्रमाणः उस घर मंडनमिश्र का जानना' उसी तरह यदि कोई पूछे कि सोनगढ कहां है? तो हम भी उत्तर देते हैं कि-जिस स्थानमें घरघरमें भाई-बहिनों छोटे-बड़े सब के बिच दिनतरात अध्यात्म की चर्चा सुनाई पडती हो वही सोनगढ़ है। यहां के छोटे बच्चोंके पास भी हमें अध्यात्म की चर्चा सुननेमें आती है। रास्ते में चलते चलते अजैन डोकटर भी हमारी साथ तत्त्वचर्चा करने लगता है, इससे हमको ऐसा लगा कि जो शरीर का डोकटर था वे सोनगढ में आत्मा का भी डोकटर बन गये. एक पोलीसपटल जो कि महाराज का उपदेश सुनने को आते हैं और जो मुस्लीम बंधु है वे भी रास्ते में हमको पूछते थे कि आपको महाराज की वाणी कैसी लगती हैं। रात्रिको सोते समय पिछली बारिमें से बहिनों में उपादान-निमित्त की चर्चा का आवाज़ सुननेमें आता था। यहां रहने वाले सब भाई-बहिनों का आध्यात्मिक जीवन देखकर हमको अति आनंद होता है। यह सब प्रभाव महाराजश्री का उपदेश का ही है और यहां के सब को एक दूसरे पर प्रेम है—छोटे को बड़े पर, बड़े को छोटे पर, यह देखकर भी हम प्रसन्न हुए हैं।

जब हम यहां आ रहे थे तब तो ऐसा विचार था कि वहां के भाई-बहिनों कुछ हमारे शिक्षणका अनुकरण

करेगा, किन्तु उल्टा ऐसा हुआ कि हमारे ही यहां से शिक्षा लेने योग्य बना है। यहां महाराज की पास में हम सब को नई दृष्टि मिली है हमारी भावना यह है कि हम नित्य यहां पर ही ठहर जाय, और महाराजश्री का उपदेश सुनकर अपना आत्मकल्याण करें। हम भगवान से प्रार्थना करते हैं कि हम फिरफिर इधर आयें।

आज दो हजार वर्ष के बाद भी मैं महाराजजी को कुंदकुंद स्वामी के मूर्तिमंतरूप में देख रहा हूं और मेरी पुनः पुनः यही भावना है कि महाराजजी को साक्षात कुंदकुंदके ही रूप में देखूं।

पं. फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री, काशी—

हमने देखा कि महाराज का अन्तरंग-बहिरंग एक है, इनमें दिखावट-बनावट नहीं है। इनके आध्यात्मिक प्रवचनों की हमारे मन पर गहरी छाप पड़ी है।

पं. राजेन्द्रकुमारजी न्यायतीर्थ, मथुरा—

हमने यहां महाराज के साथ सतत् दो दिन तक जो चर्चा की है, और जो प्रश्नोत्तर किये हैं, वे सब परीक्षा बुद्धि से थे। हमने यह भलीभांति ज्ञात कर लिया है कि पूज्य श्री कानजी महाराज समयसार के महान अध्येता और मर्मज्ञ हैं वे अपने में एकदम स्पष्ट हैं। हमें इन से बहुत कुछ जानने को मिला है।

❀ ❀ ❀

हम महाराजश्री को अभिनंदन देते हैं, बहुमान पूर्वक स्वागत करते हैं; और यहां रहनेवाले सब भाई-बहिनों का भी स्वागत करते हैं. महाराजश्री का आध्यात्मिक उपदेश सुनकर हमें बहुत हर्ष हुआ हैं, और इससे हम रोमांचित हुए हैं.

सं. १९९६ में महाराजजी गीरनार यात्रा को गये थे और उस समय मैं भी वहां गया था; वहां पर मैंने किसी स्थानकवासी भाई से पूछा कि 'महाराज ने स्थानकवासी संप्रदाय क्यों छोड़ दिया?' तब उस भाई ने कहा कि 'महाराजश्रीने स्थानकवासी संप्रदाय से बना नहि इसलिये उसे छोड़ दिया.' फिर मैंने पूछा कि 'महाराजश्री का उपदेश कैसा है?' उत्तर मिला-'निश्चय का!' उस समय तो वह सुनकर मैं मध्यस्थ रहा, किन्तु अब मैं समजता हूं कि-उनकी बात जुठ्ठ ही थी; वे लोगों से महाराजश्री का परिवर्तन सहन नहि हो सका इससे द्वेष भाव से ही वे ऐसा बोल रहे थे. हमें मालुम हुआ है कि- महाराजश्री के उपदेशमें व्यवहार का लोप नहि होता है, किन्तु निश्चय का उपदेश के साथ साथ व्यवहार भी बराबर आ जाता है. जो लोग ऐसा बोलते हैं कि महाराज व्यवहार का निषेध करता है, वे लोग महाराजश्री का उपदेश को ही यथार्थ नहीं समझते है इसलिये ही ऐसा बोल रहे हैं. हम दृढता से कहते हैं कि-महाराजश्री निमित्त का निषेध नही करते हैं किन्तु उपादान और निमित्त यह दोनो पदार्थों की स्वतंत्रता को ही बराबर दिखाते हैं. स्वामीजी आज दो हजार वर्ष के बाद भी श्री कुंदकुंद स्वामी के शास्त्रों का रहस्य प्रगट कर रहे हैं और हजारों लोगों को सत्य धर्म में लगा रहे हैं—यह देखकर बडा हर्ष होता हैं. महाराजश्री के द्वारा दि० जैनधर्म का जो प्रचार हो रहा है यह देखकर हमें गौरव हो रहा है।

मैं दो दिन से जो प्रश्न कर रहा था यह तो 'महाराजश्री के भीतर में कितनी गहराई है' यह जानने के लिये जिज्ञासा भावसे ही पूछ रहा था, 'हम दृढतापूर्वक कहते हैं कि स्वामीजी का उपदेश सुनकर हमारा श्रद्धाभेद हुआ है-बुद्धिभेद हुआ है-भक्तिभेद हुआ है'। हम गद्गद् हृदय से कहते हैं कि स्वामीजी का उपदेश हमें बहुत अच्छा लगता है, वे सत्य हैं। हम स्वामीजी के चरणों में श्रद्धांजलि देते हैं, श्रद्धा करते हैं। हम सहृदय से कहते हैं कि सोनगढ जैसा वातावरण सारा हिंदुस्तान में फैल जावे और भारत के कौने कौने में सब जगह फैल जावे। प्रत्येक प्रत्येक जीव यही धर्मको समझे ऐसी हमारी भावना है. हमारी अंतरभावना यह है कि हम यहां पर ही रह जावे. इधर रहने वाला सब भाई-बहिनें बहुत भाग्यशाली है-जो निरंतर महाराजश्री के उपदेश का लाभ उठा रहे हैं।

महाराजश्री का सत्संग में हमें बहुत लाभ हुआ है, हमारे देशमें जाकर हमारा मुखसे महाराजश्री की प्रशंसा किये बिना हम नहीं रह सकेंगे। हम जरूर सब को कहेंगे, यहां की जिम्मेदारी अभी हमारे शिर आती है। हम दृढतापूर्वक कहते हैं कि महाराजजी का उपदेश यथार्थ है-परम सत्य है।

पं. परमेष्ठीदास जैन न्यायतीर्थ, देहली—

वह दिन मेरे लिये परम सौभाग्य का था जब आज से दो वर्ष पूर्व अर्धरात्रि के समय श्री जमनादासभाई रवाणी मेरे पास आये और मुझ से 'आत्मधर्म' के

अनुवाद का कार्य स्वीकार करा ले गये। इसी निमित्त से मैं यहां के निकट-सम्पर्क में आया, और पूज्य कानजी महाराज के प्रवचनों को समझने का सुयोग मिला। मैं तो महाराज के परम प्रशंसकों में से हूं। मेरी भावना है कि जैनधर्म के परम सिद्धान्त के प्रचारार्थ पूज्य कानजी महाराज सौ वर्ष जियें। ❀ ❀ ❀

पं. महेन्द्रकुमारजी जैन न्यायाचार्य, काशी—

आत्मार्थी सत्पुरुष श्री कानजी महाराज के प्रवचनों को सुनकर हम लोगों का हृदय आत्मविमोर हो गया। हमें अध्यात्म दृष्टि का विशद मंजा हुआ विवेचन सुनने को मिला। आप सब भाइयों के सत्संग का लाभ हुआ। हम किन शब्दों में अपनी प्रसन्नता व्यक्त करें। कानजी महाराज जगत् में स्थायी शान्ति का मूलमन्त्र स्वदृष्टि-स्वाधिकार का विविधरूप में निरूपण करते हैं। जगत् में अशान्तिका मूल कारण यह है कि प्रत्येक द्रव्य दूसरे द्रव्य पर अधिकार जमाना चाहता है उसे अपने अनुकूल परिणमन कराना चाहता है। द्रव्य अपने ही गुण पर्याय का स्वामी है। अपने ही रूपमें परिणमन करता है। उसका पर द्रव्य पर या उसके परिणमन पर कोई अधिकार नहीं है।

पर मूढ़ प्राणी सदा यह चाहता है कि संसार के समस्त पदार्थ हमारे अनुकूल परिणमन करें और पर पदार्थों को अपने अनुकूल परिणमन कराने की धूनमें अनेक प्रकार से हिंसा और संघर्ष को जन्म देता है। अतः संक्षेप में पर पदार्थ को अपने अनुकूल परिणमन करानेवाली वृत्ति ही हिंसा है और स्वाधिकार स्वगुण पर्यायाधिकार ही अहिंसा है। यही शान्ति का मूलमन्त्र है। मूलमन्त्रका सतत व्याख्यान इस आध्यात्मिक भूमिपर होता है। भगवान् कुन्दकुन्द के वचनामृत का लाभ भव्यजन अतीव मन्द कषाय पूर्वक सुनते हैं, यह विशेष संतोष की बात है। हम सब आपका अपने साधर्मी बन्धु के नाते आपका अभिनन्दन करते हैं और भगवान जिनेन्द्रदेव से प्रार्थना है कि कानजी महाराज सौ वर्ष तक चिरजीवन प्राप्त करें और हम सबको लाभ पहुंचाते रहें हम पुनः आपको अभिनन्दन करते हैं। ★

श्री महावीर स्तुति

[चाल—तेरे पूजनको भगवान बना मन मंदिर आलीशान]

जय जय महावीर भगवान। सदा तुम चरणाम्बुज का ध्यान॥
बाल-पने गृहवास न कीना। बाल-ब्रह्मचारी-रस भीना॥
हुये दिगम्बर यती महान। सदा तुम चरणाम्बुज का ध्यान॥जय०
मन इन्द्रिय को वश निज किना। रागद्वेष का रस नहीं लीना॥
हना मोह सुभट बलवान। सदा तुम चरणाम्बुज का ध्यान॥जय०
घाति-कर्मका नाश हुआ जब। लोकालोक प्रकाश ज्ञान तब॥
भये आप अरहंत महान। सदा तुम चरणाम्बुज का ध्यान॥जय०
समवसरण की हुई तियारी। ऋषि मुनि खग सब मंझारी॥
खिरै अनक्षर ध्वनि अमलान। सदा तुम चरणाम्बुज का ध्यान॥जय०
सब जन सुनें वैर नहिं आनें। वाणी सब के चित्त में सानै॥
सुनै अहिंसा-धर्म प्रधान। सदा तुम चरणाम्बुज का ध्यान॥जय०
कर विहार जिन धर्म बताया। धर्मादिक पुरुषार्थ सुझाया॥
किया अपूर्व जगत कल्यान। सदा तुम चरणाम्बुज का ध्यान॥जय०
शुक्ल ध्यान से लीन हुये जब। पंच-लघुक्षर शेष समय तब॥
हुये आप सब सिद्ध-समान। सदा तुम चरणाम्बुज का ध्यान॥जय०
देख जयन्ती का उत्सव दिन। गावो सब मिल निज गुण निशिदिन॥
भक्त-जन्म का हो अवसान। सदा तुम चरणाम्बुज का ध्यान॥जय०

[श्री कुन्दकुन्द भजनावली में से]

श्री. दि जैन विद्वत्परिषद् का तीसरा अधिवेशन अध्यात्मधाम सोनगढ़ में आनन्द सम्पन्न हो गया। इस अधिवेशन की अनेक विशेषताओं में एकतो यह है कि, यह अधिवेशन किसी मेले ठेले पर न करके केवल अधिवेशन के लिये ही उपयोगित किया गया था। अध्यात्म पुरुष श्री कानजी महाराज के आकर्षण से इतनी दूरी का स्थान पसंद किया गया था, जिससे वहां गये हुये विद्वानों ने अभूतपूर्ण लाभ प्राप्त किया।

वहां पहुंचे हुये विद्वानों ने श्री कानजी महाराज की पूरी परीक्षा करके देखा और तब उनके प्रति अपनी श्रद्धांजलि समर्पित की। तथा सब ने एक स्वर से कहा कि गत २००० वर्ष में जैनधर्म का एसा महान् प्रचारक महात्मा. अन्य कोई नहीं हुआ।

विद्वत परिषद का तीसरा अधिवेशन में आये हुये विद्वानों

१	पं. कैलाशचन्द्रजी शास्त्री (प्रधान)	स्याद्वाद महाविद्यालय, भदैनी	बनारस	(यू०पी०)
२	पं. जगन्मोहनलालजी शास्त्री,	जैनविद्यालय	कटनी	(सी०पी०)
३	पं. राजेन्द्रकुमारजी शास्त्री,	दि० जैनसंघ	चौरासी मथुरा	(यू०पी०)
४	पं. महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य	भारतीय ज्ञानपीठ दुर्गाकुण्डरोड	बनारस	,,
५	पं. दरबारीलालजी न्यायाचार्य	वीरसेवामन्दिर,	सरसावा (सहारनपुर)	,,
६	पं. परमानन्दजी शास्त्री	,,	,, ,,	,,
७	पं. परमानन्दजी साहित्याचार्य	जैनबालाविश्राम धुनुपुरा	आरा	(बिहार)
८	पं. नेमिचन्द्रजी ज्योतिषाचार्य	जैनसिद्धान्त भवन,	,,	(बिहार)
९	पं. खुशालचन्द्रजी एम. ए. साहित्याचार्य	काशीविद्यापीठ,	बनारस	(यू०पी०)
१०	पं. पन्नालालजी जैन काव्यतीर्थ	हिन्दूविश्वविद्यालय	,,	,,
११	पं. लालबहादुरजी शास्त्री	स्याद्वाद महाविद्यालय भदैनी	,,	,,
१२	पं. फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री	,, ,,	,,	,,
१३	पं. विजयमूर्तिजी एम. ए. दर्शनाचार्य	हिन्दूविश्वविद्यालय	,,	,,
१४	पं. परमेष्ठिदासजी न्यायतीर्थ	ऋषिभवन फैजबाजार	देहली	
१५	पं. घनश्यामदासजी जैन	स्याद्वाद महाविद्यालय भदैनी	बनारस	(यू०पी०)
१६	पं. इन्द्रचन्द्रजी शास्त्री	दि० जैनसंघ	चौरासी मथुरा	,,
१७	पं. पन्नालालजी काव्यतीर्थ	जैनगुरुकुल	चौरासी मथुरा	,,
१८	पं. शंकरलालजी जैन शास्त्री	जैनस्कूल	कोसीकलां (मथुरा)	,,
१९	पं. राजकुमारजी साहित्याचार्य	जैन इण्टरकालिज	बडौत (मेरठ)	,,
२०	पं. बाबूलालजी जमादार	जैन अनाथाश्रम दरियागंज	देहली	
२१	पं. चन्द्रमौलिजी शास्त्री	,, ,, ,,	,,	
२२	पं. रवीन्द्रनाथजी शास्त्री	जैन स्कूल	रोहतक	(पंजाब)
२३	पं. पन्नालालजी साहित्याचार्य	जैन सत्तर्क विद्यालय	मोराजी सागर	(सी०पी०)
२४	पं. वंशीधरजी व्याकरणाचार्य	,,	बीना (सागर)	,,
२५	पं. दामोदरदासजी जनरल मरचेण्ट	बडाबाजार	सागर	,,
२६	पं. भुवनेन्द्रकुमारजी शास्त्री	readymade cloth merchant राजाबाजार	लखनऊ	(यू०पी०)
२७	पं. रतनचन्द्रजी जैन	जैन पाठशाला	उजेडिया	
२८	पं. गोविन्दरामजी न्यायतीर्थ	,,	महरोनी (सागर)	
२९	पं. हीरालालजी जैन शास्त्री	क्षेत्रपाल	ललितपुर (झांसी)	
३०	पं. ज्ञानचन्द्रजी जैन स्वतंत्र	जैनमित्र कार्यालय चंदावाडी	सूरत	
३१	श्री अमरचन्द्रजी जैन रईस,		जसवन्तनगर (इटावा)	
३२	बा० जयचन्द्रजी जैन बी० ए०		अम्बाला	(पंजाब)

-राजकोटमें-
-जिन मंदिर की तैयारी-

सोनगढ़ में फाल्गुन शुक्ला द्वितिया के दिन प्रातःकाल जिनमंदिर में समूह पूजन तथा ध्वजारोहण हुआ था। तत्पश्चात पूज्य श्री कानजी महाराज का व्याख्यान हुआ था। व्याख्यान के वाद माननीय अध्यक्ष महोदय श्री रामजीभाई माणेकचंद दोशी ने राजकोट के समस्त मुमुक्षुओं की ओर से अत्यंत हर्ष पूर्वक घोषित किया कि—राजकोट में यथाशीघ्र अल्प समय में ही श्री जिन मंदिर और श्री स्वाध्याय मंदिर का निर्माण होगा, इस कार्य के लिए ८००००) अस्सी हजार रुपये इसप्रकार एकत्रित हुए हैं—

४००००) सेठ श्री कालीदास राघवजी के सुपुत्र श्री नानालाल भाई, वेचरदास भाई तथा श्री मोहनलालभाई की ओर से।

२००००) सेठ श्री दामोदरदास चतुर्भुज तथा मूलजीभाई चतुर्भुज की ओर से।

१५०००) स्वर्गीय पारेख लीलाधर डाह्याभाई की धर्मपत्नि श्री जयाकुंवर वहन की ओर से।

५०००) भाईश्री खीमचंद जेठालाल सेठ की ओर से।

उपरोक्त घोषणा करते समय श्री रामजीभाई तथा श्री नानालालभाई आदि की आंखो में हर्षाश्रु दिखाई दे रहे थे। इस प्रकार राजकोट में वहुत शीघ्र ही जिन मंदिर और स्वाध्याय मंदिर का निर्माण हो जायगा।

इस घोषणा के वाद तत्काल ही श्री जिनेन्द्रदेव की रथयात्रा निकलीथी।

★

श्री कुंदकुंद प्रवचन मंडपमें—मंगल प्रसंग

सोनगढ़ में भगवान श्री कुंदकुंद प्रवचन मंडप के उद्‌घाटन के समय राजकोट निवासी श्री खीमचंद जेठालाल सेठ (उम्र ४४ वर्ष) तथा उनकी धर्मपत्नि श्रीमती जयाकुंवर वहन (उम्र ४० वर्ष) ने पूज्य श्री कानजी स्वामी से आजीवन ब्रह्मचर्य ग्रहण किया है। श्री खीमचंदभाई अत्यंत शान्त, वुद्धिशाली और तत्त्वप्रेमी हैं। इस उम्र में ब्रह्मचर्य ग्रहण करके आपने अतिसुंदर कार्य किया है आपके कुटुम्बियों ने भी इस कार्य की सहर्ष सराहना की है श्री खीमचंदभाई तथा श्रीमती जया वहन इस कार्य के लिए अभिनंदन के पात्र हैं।

इस से भी अधिक हर्षदायक सामचार यह है कि—जामनगर निवासी महेता श्री नथुभाई पुरुषोत्तम के सुपुत्र श्री अमृतलाल नथुभाई तथा मोरवी निवासी महेता अमृतलाल काशीदास के सुपुत्र श्री हरीलाल अमृतलाल ने पूज्य श्री महाराजजी से आजीवन ब्रह्मचर्य ग्रहण किया है। उपरोक्त दोनों भाईयों की आयु इस समय मात्र २३ वर्ष की है दोनों कुमार–ब्रह्मचारी हैं। वहुत समय से पूज्य श्री कानजी स्वामी के चरणों में रहकर निरंतर तत्त्व का अभ्यास करते रहते हैं, दोनों तत्त्व प्रेमी वुद्धिशाली और वैराग्ययुक्त हैं। पूज्य महाराजजी की उनपर कृपा दृष्टि है। इस अल्प आयु में इतना महान कार्य करने के लिए दोनों भाई अधिकाधिक अभिनंदन के पात्र हैं।

उपरोक्त मुमुक्षुओं को ब्रह्मचर्य की प्रतिज्ञा देते समय पूज्य महाराजजी अधिकउल्लसित थे। इस समय आपने कहा कि यह खास मंगल प्रसंग है।

इन के अतिरिक्त उसी समय वालेसर (मारवाड़) निवासी श्री हस्तीमलजी (उम्र ४२ वर्ष) तथा घोड़नदी ग्राम निवासी श्री गिरधरलालजी टेइलरने आजीवन ब्रह्मचर्य अंगीकार किया है। श्री हस्तीमलजी भी कुमार ब्रह्मचारी हैं।

इसी प्रसंग में यह भी प्रगट कर देना उचित होगा कि लाखणका निवासी साह आणंदजी वलमजी के सुपुत्र श्री गुलावचंद आणंदजी साह (उम्र ३५ वर्ष) ने भी पूज्य महाराजजी से संवत् १९९२ में आजीवन ब्रह्मचर्य अंगीकार किया था, उस समय आप की उम्र मात्र २७ वर्ष की थी; वे गत ८ वर्ष से पूज्य श्री कानजी स्वामी के चरणों में रहकर तत्त्व का अभ्यास कर रहे हैं। आप भी कुमार ब्रह्मचारी हैं और अत्यंत सेवाभावी हैं।

आजीवन ब्रह्मचर्य

ता. २४–१–४७ माघ शुक्ला १ गुरुवार के दिन मोरवी निवासी श्री मनसुखलाल जीवराज मेहता तथा उनकी धर्मपत्नि नवलवहन ने पूज्य महाराजजी के समक्ष आजीवन ब्रह्मचर्य अंगीकार किया। ब्रह्मचर्य ग्रहण करन के लिए आप मोरवी से सकुटुम्ब पूज्य महाराजजी के समक्ष आये और अपनी भक्ति प्रदर्शित करके सपत्नि ब्रह्मचर्य ग्रहण किया।

★

आत्मधर्म का प्रचार घर घर पर होजाय इसी भावना से प्रेरित होकर ब्र. सुमेरचंदजीनें रुपया ५० इकठ्ठा करके जगाधरी से भेजे हैं।

अतः ५० सज्जनों को आत्मधर्म मासिक दो रुपयें में एकवर्प तक भेजा जायगा। जो भाई वहन या संस्था उसका लाभ लेना चाहे वे तुरन्त लिखें।

ATMADHARMA With the permisson of the Baroda Govt. order No. 30- 24 date 31-10-44 Regd. No. B. 4875

वींछिया में श्री जिनमंदिर और श्री स्वाध्याय मंदिर का शिलारोपण

सोनगढ़ से फाल्गुन सुदी ३ की रात्रिको १० बजे स्पेश्यल ट्रेन से रवाना होकर सर सेठ हुकमचंदजी आदि वींछीया पधारे। वहां उनके तथा पोरबंदर के श्रीमान् सेठ नेमिदास खुशालचंद के करकमलों द्वारा श्री जिनमंदिर तथा श्री जैन स्वाध्याय मंदिर का शिलान्यास हुआ।

वींछीया में भव्य स्वागत होने के बाद वहां के निर्मापित मंडप में श्रीमान् रामजीभाई ने भाषण में श्री जिनमंदिर और श्री जैन स्वाध्याय मंदिर का विशेष महत्त्व समझाते हुये कहा कि मेरी दृष्टि में इस वींछीया जैसे छोटे से ग्राम में श्रीमान् सर सेठ हुकमचंदजी और श्रीमान् सेठ नेमिचन्द भाई सदृश दो महान प्रतिष्ठित सेठों का सहकुटुंब पधारना और उनके करकमलों से श्री जिनमंदिर और स्वाध्याय मंदिर का शिलान्यास होना ऐसा अद्वितीय प्रसंग है कि जो इस से पूर्व कभी नहीं हुआ था। जैनधर्म सनातन वस्तु स्वभावरूप सत्यमार्ग है। इस सत्यधर्म का प्रकाश और विस्तार पूज्य श्री कानजी स्वामी कर रहे हैं। उसका जो विस्तृत प्रचार होना प्रारंभ हुआ है वह वृद्धिंगत होकर सारे भारतवर्ष में फैलेगा इस प्रकार केवलज्ञानी भगवान के दिव्यज्ञान में झलका हुआ है—इस में शंका के लिये स्थान ही नहीं है।

इसके बाद सर सेठ हुकमचंदजी ने अपने भाषण में कहा कि—ऐसे पवित्र धर्म प्रसंग में भाग लेने के लिये मैं सदैव तैयार हूं। जब आप कहें तब आने के लिये तैयार हूं। मैं प्रत्येक जगह अपनी सेवा अर्पित करूंगा। मेरी तो भावना है कि सारे काठियावाड में जिनमंदिर तथा स्वाध्याय मंदिर बन जांय और सारे हिन्दुस्तान में जैनधर्म का डंका बज जाय। आप लोगों के अति उत्साह और उत्कट धर्मप्रेम को देखकर मेरा हृदय हर्ष से फूला नहीं समाता। मैंने जीवन में ऐसी धर्मभक्ति नहीं देखी। महाराजजीने मोक्षमार्ग का वास्तविक स्वरूप स्पष्टतया निरूपण करके हजारों भव्य जनों को सद्धर्म में आकर्षित किया है। हम सदा उनकी प्रशंसा करते रहते हैं! हमें इस बात का हर्ष है कि महाराजश्री के परिचय से हमारे कुटुंब की धर्म की रुचि वृद्धिगत हुई है। मेरी भावना है कि आप लोग प्रत्येक ग्राम में जिनमन्दिर और स्वाध्याय मन्दिर बनायें। आप मुझे जब भी याद करेंगे तभी आधी रात उठ कर आने के लिये तैयार हूं। ऐसे धर्म कार्य तो महाभाग्य से मिलते हैं। महाराजश्री समस्त आत्माओंको भगवान कहते हैं; अपनी सच्ची प्रभुता का ख्याल कराकर जो स्वतंत्र वस्तु स्वरूप है वही प्रकाशित करते हैं।

इसके बाद श्रीमान् पं. देवकीनन्दनजीने खड़े होकर अपना महान् हर्ष व्यक्त किया और महाराजश्री के विषय में इस प्रकार कहा कि ऐसा धर्म प्रभावक, महान् तत्त्वज्ञ, तीर्थस्थापक, युगप्रधान, महर्षि पुरुष बहुत वर्षों में नहीं हुआ ऐसा मैं हृदय से मानता हूं। शास्त्राधार सहित वस्तु स्वरूप को बतानेवाली उन जैसी शैली मैंने आजतक कहीं नहीं देखी। हम लोग आजतक निमित्त ऊपर दृष्टि रखकर शास्त्र पढते थे, किन्तु स्वामीजी ने वास्तविक दृष्टि से-स्वाश्रित निश्चय तत्त्व दृष्टि से शास्त्र के अर्थ करने की यथार्थ शैली बताई—यही हमारे लिये अपूर्व लाभ हुआ है और इस विषय का मुझे अपार हर्ष हुआ करता है। इसके बाद वीतराग स्वरूप धर्म और मंगलका स्वरूप तथा उसका महत्व बताकर अन्तमें पूज्य महाराजश्री का उपकार माना।

इसके बाद श्रीमान् सर सेठ हुकमचंदजी तथा उनके कुटुंबीजनों की ओर से ७५७१) की सहायता को श्री वींछीया संघको घोषणा की गई।

इस प्रसंग में श्री सेठ नेमिदास भाईने पहले जो १००००) की जिनमंदिर के खर्च के लिये घोषणा की थी उसमें बडे हर्ष से २०००) और दिये तथा उनकी धर्मपत्नी श्री कंचनबहेनने २५०) प्रदान किये। इसके बाद मुमुक्षुओंने भी बडे उत्साह से करीब ११०००) का दान दिया। श्री संघ के आमन्त्रण को मान देकर जसदण स्टेट के ठाकुर साहिब दोपहरको पधारे और उन्होंने इस धर्मस्थान के लिये अपनी ओर से १०००) प्रदान कर उत्साह प्रदर्शित किया। इस तरह शिलान्यास अवसर पर लगभग २२०००) की सहायता प्राप्त हुई।

अंतमें वींछिया संघके समस्त मुमुक्षुओं की ओर से वहां के प्रमुख धर्मप्रेमी श्री प्रेमचन्दभाई ने सर सेठ आदि सभी समागत महानुभावों का आभार माना।

मुद्रकः चुनीलाल माणेकचंद रवाणी, शिष्ट साहित्य मुद्रणालय, दासकुंज, मोटा आंकडिया ता. २८-३-४७
प्रकाशकः जमनादास माणेकचंद रवाणी, आत्मधर्म कार्यालय, मोटा आंकडिया, काठियावाड